II

दिल से दिल की बात

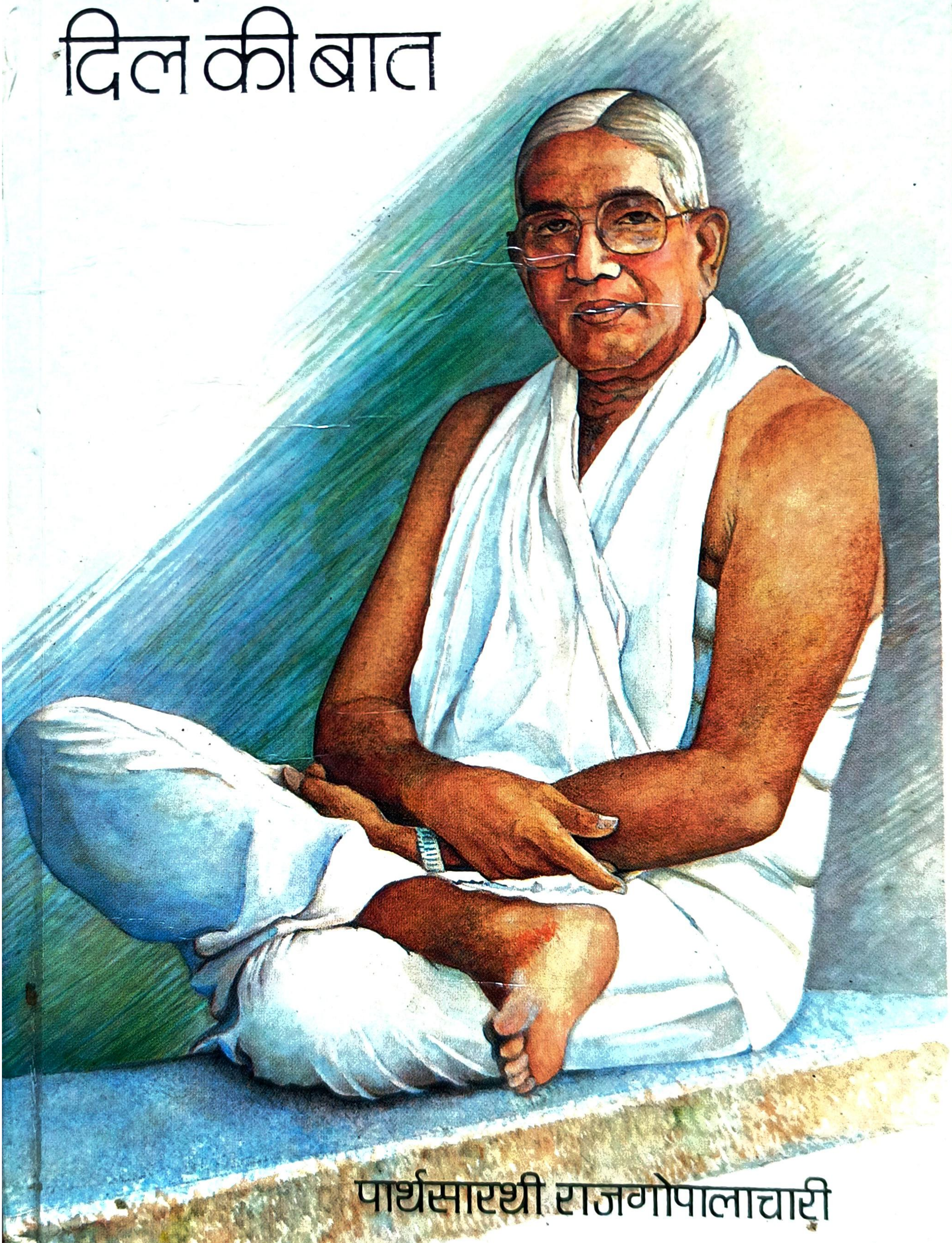

पार्थसारथी राजगोपालाचारी

पूज्य श्री पार्थसारथी राजगोपालाचारी

दिल से दिल की बात

भाग II

दिल से दिल की बात

श्री पार्थसारथी राजगोपालाचारी
द्वारा

फ्रान्स, मैडागास्कर तथा स्विट्ज़रलैण्ड में
सितम्बर - अक्तूबर, १६८७ में आयोजित
संगोष्ठियों के अवसरों पर दिये गये
भाषण, प्रश्न और उत्तर

भाग दो

श्री रामचन्द्र मिशन

प्रथम संस्करण : २००० प्रतियाँ

(मूल अंग्रेजी पुस्तक 'हार्ट टु हार्ट : भाग II' से अनूदित)

अनुवादिका
कमलेश कपूर

श्री रामचन्द्र मिशन, १९९५

I.S.B.N. 81-85177-91-0

मूल्य : सत्तर रुपये

पुस्तक मिलने का पता
श्री रामचन्द्र मिशन (इलाहाबाद केन्द्र)
७ बेली एवेन्यू
इलाहाबाद - २११ ००२

लेज़र कम्पोज़िंग
अंकन कम्प्यूटर्स
२८२ ममफोर्डगंज, इलाहाबाद

मुद्रक
ऐडवांस क्रियेटिव सर्विसेज़
टैगोर टाउन, इलाहाबाद

प्रकाशक की ओर से

शाहजहाँपुर के समर्थ गुरु महात्मा श्री रामचन्द्र जी महाराज (बाबूजी) विलक्षण प्रतिभा से सम्पन्न महापुरुष थे। उनके समर्थ सद्गुरु फतेहगढ़ के महात्मा श्री रामचन्द्र जी महाराज ने भारतवर्ष में हजारों वर्ष पूर्व प्रचलित प्राणाहुति की सहायता से युक्त राजयोग की साधना पद्धति को, जो कालक्रम में लुप्त हो गई थी, पुनः खोज निकाला और उसे जनसामान्य के लिये सुलभ कराया। अपने गुरुदेव की साधना और खोज का लाभ पूरे विश्व में मानव मात्र को सुलभ कराने के उद्देश्य से उन्हीं की स्मृति में बाबूजी महाराज ने सन् १९४५ में श्री रामचन्द्र मिशन की स्थापना की और ईश्वर प्राप्ति के लिये 'सहज मार्ग' साधना पद्धति का प्रचार-प्रसार किया।

परमपूज्य श्री बाबूजी महाराज के आध्यात्मिक उत्तराधिकारी और मिशन के वर्तमान अध्यक्ष परम पूज्य श्री पार्थसारथी राजगोपालाचारी जी महाराज भी सहज मार्ग साधना पद्धति को जन-जन तक पहुँचाने के लिये १९८३ से अथक भाव से निरन्तर प्रयत्नशील हैं। इस पुस्तक में सितम्बर-अक्टूबर १९८७ में परमपूज्य गुरुदेव द्वारा, फ्रान्स, मैडागास्कर और स्विट्ज़रलैण्ड में 'सहज मार्ग' पर आयोजित संगोष्ठियों में दिये गये प्रवचनों तथा उस दौरान पूछे गये प्रश्नों और उनके उत्तरों का संकलन किया गया है जो अंग्रेजी में 'हार्ट टु हार्ट' भाग दो के रूप में पहले ही वर्ष १९९१ में छप चुकी है।

हिन्दी भाषी पाठकों के लाभ के लिये इनका हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है। बहन श्रीमती कमलेश कपूर ने बड़ी ही मेहनत और लगन से यह अनुवाद कार्य सम्पन्न किया है। अनुवाद के अवलोकन और परिष्कार में हमें श्री रमेश चन्द्र मालवीय से बहुत सहायता मिली है। श्रीमती माया मालवीय ने पुस्तक के प्रूफ पढ़ने में योगदान दिया है। हम इन सभी के हृदय से आभारी हैं।

हमें विश्वास है कि हमारे हिन्दी-भाषी अभ्यासी इस पुस्तक से पूरा लाभ उठायेंगे।

चंद्रिका प्रसाद

अप्रैल, १९९५ — श्री रामचन्द्र मिशन, इलाहाबाद

अनुक्रमणिका

I **बोनास्ख़, फ्रान्स**
सितम्बर १-१२, १९८७

पृष्ठ

१. दोनों को भूल जाओ २
२. सहायता का अर्थ है परिवर्तित करना १४
३. फलित ज्योतिष - नये अभ्यासी २०
४. स्मरण में कार्य करो ३४
५. तीसरा व्यक्ति ४४
६. दिल की ललक ५२
७. हास्य का रहस्य ५६
८. सहजता ६३
९. भविष्य भीतर है ७१
१०. जहाँ सामञ्जस्य है ७७
११. वास्तविकता का दिव्य क्रम ८३
१२. दिव्य प्रेम ९३
१३. उन्नति का मार्ग १०२
१४. समर्पण ११२
१५. प्रश्न और उत्तर - १ १३०
१६. प्रश्न और उत्तर - २ १३६
१७. स्वतंत्रता और प्रेम १५०
१८. व्यक्तिगत प्रेम १५१

II **मारसेय, विलनेव-ले-रोई और पेरिस, फ्रान्स**
सितम्बर १४-१८, १९८७

१९. अपने साथ सत्य बोलना १५४

२०. समर्पण के साथ स्वतंत्रता १६३
२१. गुरुदेव को देखना १६६
२२. अच्छी तरह से की गई पद्धति १७३
२३. प्रश्न और उत्तर १८२
२४. दुरुस्त होने का समय १८५

III **एंटननरिवो, मैडागास्कर**
सितम्बर २३-२६, १६८७

२५. किसका त्याग करें १६४
२६. प्रश्न और उत्तर - १ १६६
२७. प्रश्न और उत्तर - २ २०३
२८. प्रश्न और उत्तर - ३ २११

IV **शाटो डेक्स, स्विट्ज़रलैण्ड**
अक्तूबर ५-११, १६८७

२६. गुरुदेव के साथ पुनः एकत्रित २३८
३०. आध्यात्मिक कार्य २४०
३१. अभ्यासी कौन है? २४२
३२. अपना दिल गुरुदेव को दें २४४
३३. अपना भविष्य बनाओ २५१
३४. अपने आप को भूलो २५३
३५. धैर्य २५६
३६. उनींदा प्रेम २६१
३७. दिव्यता का अनुभव २६५
३८. प्रश्न और उत्तर २६६
३६. सर्वव्यापकता का मार्ग २७७
४०. दिल से पूछो २८३

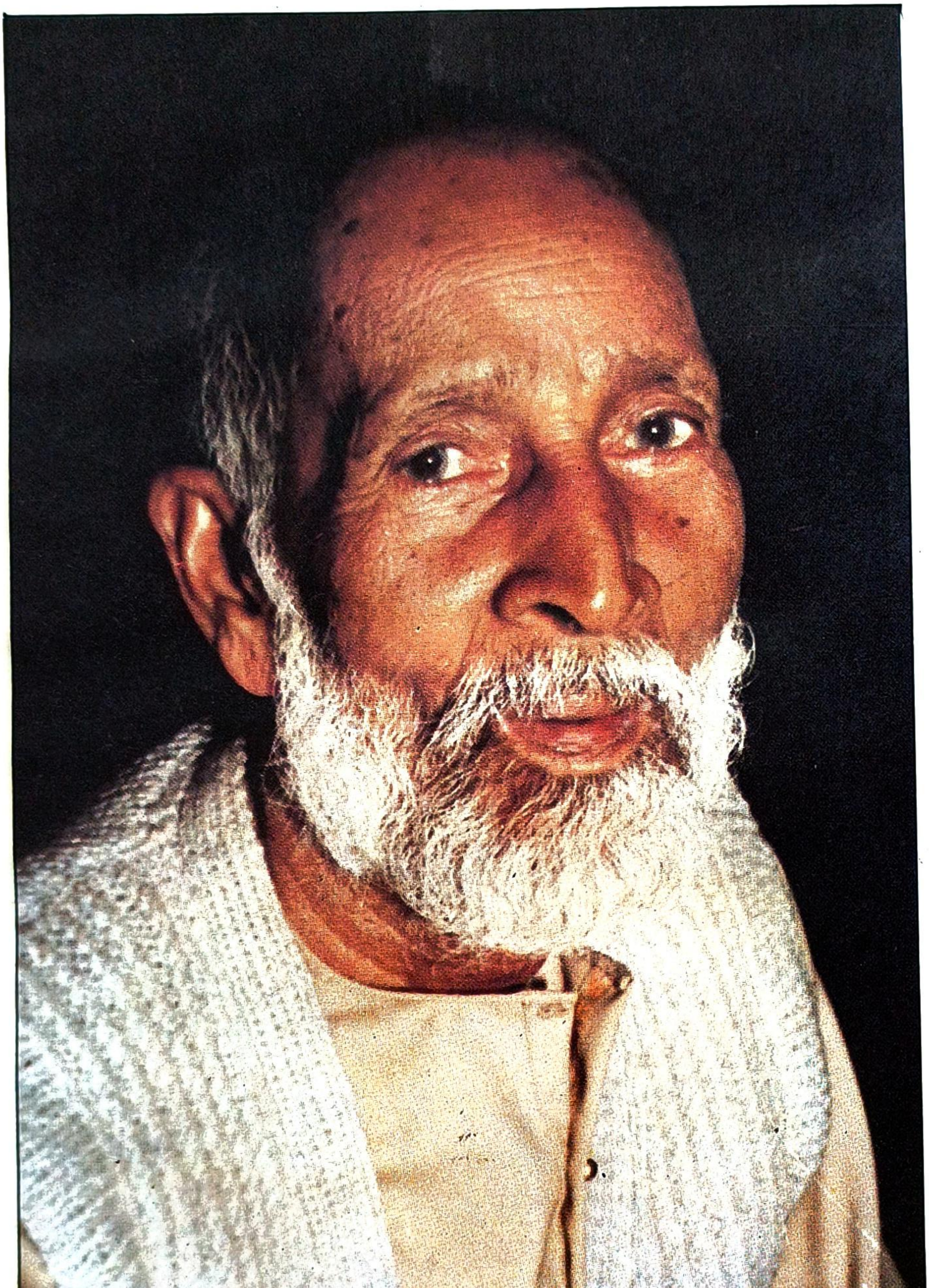

मेरे गुरुदेव

I

बोनास्ख़्, फ्रान्स

१-१२ सितंबर, १९८७

दोनों को भूल जाओ

१ सितम्बर १६८७, प्रातः

मैं जो कुछ कहने जा रहा हूँ, वह इन लोगों ने जो अभी-अभी कहा है, उस पर टिप्पणी नहीं है। वह साधारण तौर पर कहा गया है। आपको मालूम है कि बाइबिल में उत्पत्ति-प्रसंग है कि चीज़ों की शुरुआत कैसे हुई। अतएव सदैव एक मूल उत्पत्ति होती है, और वह बल या शक्ति जो उस उत्पत्ति की शुरुआत करता है उसे ईश्वर माना जाता है। सो इस अर्थ में सभी चीजों की शुरुआत ईश्वर से ही होती है। एक दूसरे अर्थ में हम कितनी चीज़ों की शुरुआत करते हैं और कहते हैं कि हम चीजें शुरू कर रहे हैं। मेरे विचार में दोनों ही गलत नहीं, क्योंकि बिना ईश्वर के कुछ भी शुरू नहीं हो सकता था, हम भी यहाँ नहीं होते। इसीलिये उसे परम कारण कहते हैं - उसको, ईश्वर को। अब भारत में यह परेशानी की बात है कि जब हम हर एक चीज का उत्तरदायित्व ईश्वर पर डाल देते हैं तो मनुष्य अयोग्य हो जाते हैं। अब कोई यह कह सकता है कि यूरोप में तो ऐसा नहीं होता, यह केवल भारतीय धारणा है। यह ठीक है कि यह विशिष्ट भारतीय है कि ईश्वर सब चीजों के लिये उत्तरदायी है -- उसने मुझे रचा है, वही मेरा पालन करेगा, वही मुझे खिलायेगा, आदि-आदि -- इसलिये वह किसी विशेष घटना की प्रतीक्षा में आराम से जा कर किसी पेड़ के नीचे सो जाता है। मेरा व्यक्तिगत विश्वास है कि भारत की वर्तमान दुर्दशा का कारण यह प्रवृत्ति ही है। अतएव जो हमें करना भी चाहिये वह अगर हम नहीं करते तो यह प्रवृत्ति आत्म पराजय का प्रबल कारण बन सकती है।

पाश्चात्य लोग सदा से ही भारत को एक भाग्यवादी राष्ट्र कहते हैं -- कि वह भाग्य में विश्वास करते हैं। यह पूरी तरह से ठीक नहीं है, क्योंकि अगर हम भाग्य में विश्वास करते हैं, फिर भी हमें कुछ तो करना ही चाहिए। मैं भाग्य में विश्वास करते हुए भी अपना जीवन निर्वाह कर सकता हूँ। परन्तु पश्चिम ने भारतीयों की इस प्रवृत्ति या मनोदशा को ठीक से नहीं समझा है।

बहुत बड़े-बड़े पाश्चात्य विद्वान हुए हैं, जिन्होंने भारतीय मानस को जानने का प्रयत्न किया है। किन्तु बहुत सतही तौर पर भी वे जो

कुछ समझ पाये, उससे वह इतने विमुग्ध हो गये कि वह और अधिक गहराई में गये ही नहीं। यह बात सभी महान पाश्चात्य विद्वानों पर लागू होती है, विशेष कर भारतविदों, दार्शनिकों और मनोवैज्ञानिकों पर। दुर्भाग्यवश उनकी संख्या बहुत कम है। किन्हीं कारणों से हमें अनेक विषयों पर आज भी ऐसी पुस्तकें मिलती हैं, जिनमें केवल पाश्चात्य मानस की चर्चा है। वे यह भूल जाते हैं कि यदि कोई भी मानसिक विकास कभी हुआ है तो वह केवल पूर्व में हुआ। अगर आप सचमुच जानना चाहते हैं कि मन क्यों कार्य करता है, मानव मन किस ढंग से व्यवहार करता है, तो मेरा विश्वास है कि इसका मूल पूर्वीय मनस् में खोजना चाहिये,न कि पाश्चात्य मनस् में। मैं विद्वान नहीं हूँ पर यह मेरा व्यक्तिगत विचार है। यहाँ पर बहुत से लोग मुझसे सहमत नहीं होंगे, किन्तु आपकी असहमति सिद्ध करती है कि पाश्चात्य मनस् बहुत अल्पज्ञ व उथला है। यह तो यह दावा करने के तुल्य होगा कि एक घर बिना नींव के बना है। यह एक माना हुआ वैज्ञानिक तथ्य है कि जीवन के उद्गम की खोज हम जीवाश्म विज्ञान जैसे विषयों में करते हैं। उदाहरणार्थ यह ज्ञात करने के लिये कि मानव का विकास कैसे हुआ है, हम जीवाश्मों का अध्ययन करते-करते पीछे की ओर मृदुकवची, अमीबा और मेढक जैसी चीज़ों तक पहुँच जाते हैं।

तो आप देखते हैं कि वर्तमान का कारण हमेशा भूतकाल में होता है। मैं यहाँ हूँ, क्योंकि मेरे माता-पिता मेरे पहले थे और उनके माता-पिता उनके पहले से थे। मेरा विश्वास है कि ईश्वर के विषय में पहला विचार भी उसी प्रकार आया होगा। मेरा व्यक्तिगत विश्वास है कि दो विभिन्न विचार धाराओं ने मानव के मनस् में ईश्वर के विचार के जन्म में सहयोग दिया -- एक था पीछे की ओर जाने की खोज में मेरे पिता हैं, उनके पिता थे, उनके भी पिता थे, आदि-आदि; इसी भाँति एक मूल पिता जो कि ईश्वर है। यह हमें उस विचार की ओर ले जाता है कि कोई एक मूल कारण था।

दूसरा कारण या विचार धारा जिसने ईश्वर के विचार को जन्म दिया, वह थी प्रकृति की प्रचण्ड, अत्यधिक सामर्थ्यपूर्ण और भयकारी शक्तियाँ, जिनका सामना मानव को तब करना पड़ा जब उसकी उत्पत्ति हुई, जैसे वर्षा, बिजली, बादलों की गड़गड़ाहट, समुद्री तूफान व आँधी और हिंसक पशु भी। इस कारण जब हम पूजा-अर्चना के आरम्भिक विचार को खोजने निकलते हैं, तो हम देखते हैं कि इस धरती के हर समाज में पूजा का आरम्भ अग्नि देवता, बिजली के देवता, गड़गड़ाहट के देवता, वर्षा के देवता, वायु के देवता से आरम्भ हुआ। और फिर

जब मानव मनस् का विकास हुआ तो उन्होंने इन शक्तियों का संश्लेषण कर के उन्हें एक करना आरम्भ किया। उदाहरणार्थ बिजली और गड़गड़ाहट को मिलाकर एक देवता किया और तब वर्षा के देवता को और फिर वायु के देवता को भी उन्हीं में मिला दिया। अन्ततः हम एक ईश्वर की धारणा पर पहुँच जाते हैं जो समस्त प्राकृतिक शक्तियों का संचालन करता है।

अतः हम देखते हैं कि जब हमारा मनस् प्रकृति व जीवन का सामना करने के लिए बाहर की ओर मुड़ा तो परिणामस्वरूप हम पूर्वकाल के बहुदेववाद से एकेश्वरवाद की ओर आये। जब हम समय (काल) में पीछे की ओर जाते हैं और चीजों का मूल कारण ढूँढने का प्रयास करते हैं तो हम उसी एकेश्वरवाद की ओर पहुँच जाते हैं, कि एक ही पिता होगा जिसने हम सब का निर्माण किया होगा। तो मेरा सुझाव है कि दोनों ही अनुसंधान के तरीके हैं -- एक कारण ढूँढने का और दूसरा प्रकृति की शक्तियों पर विजय पाने का, ताकि हम यहाँ जिन्दा रह सकें और आराम से जीवन व्यतीत कर सकें।

यह कहना शायद गलत नहीं होगा कि एक दर्शन का तरीका है तो दूसरा विज्ञान का तरीका है। यह सत्य है कि अगर एक समाज ने एक को प्रधानता दी है तो दूसरे समाज ने दूसरे को। इन में कौन सा उत्तम है? दर्शन के पास इसका उत्तर है, विज्ञान के पास नहीं। अगर हम एक ही झटके में इस विवाद को समाप्त करना चाहते हैं तो दर्शनशास्त्र कहता है कि उसका सरल तरीका है, क्योंकि हम बारी-बारी से एक-एक चीज़ का बहिष्कार करते हुए अन्दर की ओर जाते हैं, जब कि विज्ञान में हम इस अपार विश्व में बाहर की ओर जाते हैं, जहाँ हमारी खोज कभी समाप्त नहीं हो सकती।

इसलिये दर्शनशास्त्र कहता है कि अगर तुम मेरा तरीका अपनाओगे तो वह सरल है, शीघ्रगामी है तथा आसान है, और अगर तुम इस अपार विश्व में जाओगे तो वहाँ तुम्हें कुछ भी नहीं मिलेगा। क्योंकि कोई भी मानव, यहाँ तक कि मानवों की करोड़ों पीढ़ियों के पास भी इतना समय नहीं होगा कि वे सारे संसार का अध्ययन पूर्ण रूप से कर सकें।

इस बुद्धिमत्ता ने पूर्वीय समाजों को अन्तर्मुखी बनाकर दार्शनिक अनुसंधान की ओर प्रेरित किया, जिसका अर्थ अपने अन्तस् में खोजने से है। क्योंकि ईश्वर को पेड़-पत्तों, पत्थरों व चिड़ियों तथा सुन्दर चीजों में खोजना मूर्खता होगी। अतः प्रत्येक मानव को अन्तस् में खोजने के

लिये अपने ही अन्तस् में जाना पड़ा और इस भाँति यौगिक विज्ञान व ध्यान का विकास हुआ।

विज्ञान अनिवार्यतः विच्छेदन करता है। पूर्ण को टुकड़ों में बाँटते जाते हैं, फिर उनको उप-टुकड़ों में और उनको और छोटे टुकड़ों में; और यह उस भाँति है जैसे एक बालक एक रेडियो खरीदता है और उसे खोल कर उसके टुकड़े-टुकड़े कर देता है, फिर उसकी समझ में नहीं आता कि उसे पुनः कैसे जोड़े। अब यहाँ मैं विज्ञान के बारे में एक चेतावनी देना चाहूँगा जो कि बहुत कम वैज्ञानकों को स्मरण रहता है। बहुत उच्च व ज्ञानी वैज्ञानिक जानते हैं और जो विज्ञान के विषय में मौलिक अनुसन्धान के दृष्टिकोण से लिखते हैं वे यह तथ्य जानते हैं कि जो सब कुछ विज्ञान ने कहा है वह अन्तिम सत्य नहीं है। वह परिकल्पित है -- इस अर्थ में कि वह ऐसी परिकल्पना है जो अभी तक तथ्यतः सिद्ध नहीं हुई है। विज्ञान में कुछ भी अन्तिम सत्य नहीं है। आज का सत्य कल का असत्य है, क्योंकि इसी बीच में कुछ नया खोज लिया गया है।

हाइसनबर्ग के अनिश्चितता के सिद्धान्त को मैं एक नये तरीके से, अपने तरीके से समझाना चाहूँगा। विज्ञान एक अनिश्चितता से दूसरी अनिश्चितता, और वहाँ तीसरी अनिश्चितता की ओर अग्रसर होता है। अगर हाइसनबर्ग यहाँ होते तो वह तीव्रता से मुझसे असहमत होते। परन्तु हम विज्ञान में यही देखते हैं। विज्ञान ने आज तक कभी नहीं कहा कि यह अन्तिम सत्य है। आप ज्योतिष-विज्ञान का अध्ययन करें, यही किस्सा है, चिकित्सा-विज्ञान का अध्ययन करें, वही किस्सा है। जो कल की सब से अच्छी दवाई थी, वह आज विष है। आप विज्ञान की गहराई में झाँक कर अणु-परमाणु का अध्ययन करें, फिर वही किस्सा है। और अगर आप विज्ञान में बहुत गहरे जायें तो ऐसे रहस्यात्मक ज्ञान के स्तर उभरते हैं, कि जो आपको सत्य लगता था, जिसका अस्तित्व प्रतीत होता था, जिसे आप छू सकते थे, तोड़ सकते थे, वह वास्तव में है ही नहीं। सो विज्ञान में हम कुछ होने से कुछ न होने पर पहुँच जाते हैं। दर्शन और योग में इसका उलटा होता है। हम स्वयं से आरम्भ करते हैं कि मैं सब कुछ हूँ, मैं बड़ा हूँ, महान् हूँ, सफल हूँ, ज्ञानी हूँ, बुद्धिमान हूँ, अमीर हूँ, सब कुछ हूँ। फिर हम अन्तस् में जाना आरम्भ करते हैं, तो हमें 'कुछ नहीं' नहीं मिलता, परन्तु ज्यों-ज्यों हम बढ़ते हैं इन सब मूल्यों, अमीरी, बुद्धिमानी, शक्ति, इन सब को खोते जाते हैं और अन्त में ऐसा नहीं कि कुछ नहीं रहता, बल्कि हम 'कुछ नहीं की दशा' पर पहुँच जाते हैं -- जहाँ से सब कुछ

आया है। मेरा सबसे पसन्दीदा उदाहरण प्याज़ का है। उसको एक-एक परत खोलते जाओ, अन्दर कुछ भी नहीं, परन्तु तुम्हारे पास फिर भी प्याज़ है। विज्ञान प्याज को अणु-परमाणु में, फिर उप-आणविक कणों में तोड़ेगा, उन विद्युत आवेशों में जिनसे वह बना है और अन्त में कहेगा, कुछ भी नहीं है। तो इन दोनों के अन्तर पर गौर करिये।

एक पुस्तक थी जो कुछ आकर्षक थी क्योंकि वह आपको सोचने पर विवश कर देती थी। Times Arrow of Evolution (विकास के समय का तीर) कुछ ऐसा ही नाम था। अब पाश्चात्य मनस् इस ओर जाता है (बाहर की ओर इशारा)। और पूर्वीय मानस इस ओर (हृदय की ओर इशारा)। अब दोनों ही समाजों ने इस कारण दुःख पाया है। पूर्व यह भूल जाता है कि बाहर एक भौतिक जगत है जिसको हम नकार नहीं सकते और अगर हम केवल ईश्वर पर निर्भर रहें तो सड़कों पर मरते हुए भिखारी बन जायेंगे। पश्चिम हमारे अस्तित्व के दूसरे भाग को भूल जाता है, तथा विज्ञान और तकनीक ने जो दिया है उसके मज़े व आनन्द में खो गया है, केवल कैन्सर और एड्स जैसी बीमारियों से मरने के लिये।

हमें आवश्यकता है इन दोनों के समन्वय की, और वही मेरे गुरुदेव इस विशेष योग-पद्धति में लाये हैं जिसे हम 'सहज मार्ग' कहते हैं। वह कहते हैं कि बेशक ईश्वर महान है, वह सृष्टिकर्ता है, सब चीज़ों का मूल है परन्तु उसने तुम्हारा निर्माण इसलिये नहीं किया है कि तुम सोओ और विश्वास करके केवल निर्भर होकर रहो। उसने तुम्हें शरीर काम करने के लिये दिया है, बुद्धि इसलिये दी है कि तुम फैसला कर सको कि क्या करना है, और इच्छाशक्ति उस इरादे को लागू करने के लिये दी है। अगर तुम यह सब सही तरीके से करो तो तुम स्वयं ईश्वर का ही विस्तार हो सकते हो। मेरे विचार से केवल इसी अर्थ में सहज मार्ग दिव्य बनाने का आश्वासन देता है।

जब तक मेरा हाथ मेरे शरीर से जुड़ा है, और जो मैं चाहता हूँ वही करता है, वह मैं हूँ। मेरा हाथ भी मेरा एक अंग है। परन्तु अगर वह अपनी इच्छा से, अपनी मर्जी से, अपने ही आदेशानुसार चले तो हमें डाक्टर के पास जाना पड़ता है। मेरा हाथ मेरा कहना नहीं मानता -- यह एक बीमारी है। मेरी टाँगें, मेरे पैर मेरा कहना नहीं मानते -- ये बीमारियाँ हैं। जब एक मनुष्य पूर्व की ओर चलना चाहता है और उसकी टाँगें पश्चिम की ओर जायें तो हम स्नायु विशेषज्ञ के पास दौड़ेंगे। इसलिये, जब एक अंश आज्ञापालन न करे और पूर्ण के साथ सामंजस्य रख कर कार्य नहीं करे, तो यह एक बीमारी है।

हम दिव्य के अंश हैं। इसको नकारा नहीं जा सकता। क्योंकि यदि धारणा है कि ईश्वर सर्वव्यापी है, सब कुछ ईश्वर में समाया हुआ है, ईश्वर का अंश है, तो मैं भी उसका अंश होऊँगा, आप भी उसके अंश होंगे। अब, जब हम अपनी बुद्धि का, अपनी इच्छाशक्ति का, अपने शरीर का प्रयोग केवल अपने लिये करते हैं, 'उसके'लिये नहीं, तो हम उन हाथों की भाँति हैं जो शरीर से अलग काम करने की कोशिश कर रहे हैं। और अगर बीमारी ज़्यादा बढ़ जाये तो शायद उन्हें अलग करना या काटना पड़ेगा।

मेरे विचार से आध्यात्मिक भाषा में आत्मा को उस दिव्य अस्तित्व से अलग करने को नरक कहते हैं। मैं किसी और नरक की बात नहीं सोच सकता। अंश को पूर्ण से काट कर अलग करना ही मेरे लिये नरक है। जब आप कुत्ते को घर से बाहर निकाल कर दरवाज़ा बन्द कर देते हैं तो वह पागलों की भाँति घर के चारों ओर भौंकते हुए भागता है, दरवाज़े पर पंजे मारता है कि उसे वापस अन्दर आने दिया जाये। वह कुत्ता फिर से आपके जीवन का भाग बनना चाहता है। यही बात बच्चों की भी है, वे चाहे खेलने-कूदने के लिये बाहर जाना चाहें, परन्तु फिर वापस अन्दर आना चाहते हैं। यही बात हमारी भी है, पति, पत्नी या कोई भी, हमें बाहर घूम कर घर वापस आना ही होता है।

बाहर जाना विज्ञान है : मैं बाहर का संसार देखना चाहता हूँ, मज़ा करना चाहता हूँ, समुद्र-तट पर जाना चाहता हूँ। यह सब इन्द्रियों से सम्बन्धित या बुद्धि से सम्बन्धित है। मैं वापस घर आना चाहता हूँ; यह सुरक्षा, निश्चिन्तता और प्रेम के कारण है। यह सुरक्षा, निश्चिन्तता व प्रेम है जो हमें खींच कर वापस ले आता है। तो मुख्यतः ज्ञान हमें बाहर ले जाता है, और प्रेम हमें अन्दर लाता है ।

सहज मार्ग यहाँ भी आश्चर्यजनक सामंजस्य स्थापित करता है। पक्षी के दो पंखों के सिद्धान्त के रूप में:- प्रेम के साथ बुद्धि का संतुलन, विज्ञान के साथ आध्यात्मिकता से युक्त भौतिक जीवन। हमें पता है कि यह सत्य है, क्योंकि हमारे दो हाथ, दो पैर, दो आँखें हैं। बिना द्विनेत्री दृष्टि के हम किसी भी चीज़ के उद्गम या उसकी स्थिति का सही-सही पता नहीं कर सकते। इसी भाँति मेरे विचार में शायद आत्मा की दो आँखें, दार्शनिक आँख व वैज्ञानिक आँख हैं। जब हम एक को बन्द कर के केवल दूसरी से देखते हैं तो हमारी दृष्टि का एक बड़ा महत्वपूर्ण अंश खो जाता है। हम जान सकते हैं कि वह क्या है, परन्तु यह नहीं देख सकते कि वह कहाँ है। मेज़ पर पानी का

एक गिलास रख कर उसे एक आँख बन्द कर के पकड़ने का प्रयत्न करिये; आप नहीं पकड़ सकते। सो हमें दोनों की आवश्यकता है। इसीलिये गुरुदेव कहते हैं, "आध्यात्मिक जीवन के लिये भौतिक जीवन की उपेक्षा मत करो।" यह संदेश पूरब के लिये है। और जब वे पश्चिम आते हैं, वे कहते हैं, "भौतिक जीवन के लिये आध्यात्मिक जीवन की उपेक्षा मत करो।" अगर हम पूरी समझदारी से सीधे-सीधे इस पर विचार करें, तो एक के कारण दूसरे की उपेक्षा मत करो, दोनों में सामंजस्य रखो, दोनों आवश्यक हैं। सो यही संदेश है। इसलिये हमें यह नहीं सोचना चाहिये कि "यह पूर्वी तरीका है" या "यह पश्चिमी तरीका है।" यह देखने का एक बहुत उथला ढंग है। यह बच्चों के खेल की भाँति है, जो एक सिक्का उछाल कर कहते हैं "चित या पट्ट", और एक जुआरी आकर कहता है, "चित आया तो मैं जीतूँगा और पट्ट आया तो तुम हारे।" इस प्रकार हर चीज़ के दो पहलू होते हैं।

एक समाज में मैं उसी विषय पर एक प्रकार से बात करता हूँ। दूसरे समाज में मैं उस पर दूसरे के दृष्टिकोण से बात करता हूँ, दूसरे सिक्के की, सिक्के के दूसरी ओर की। यह समस्या दोनों के परस्पर विपरीत दृष्टिकोण के कारण उत्पन्न हुई है। इतने विभिन्न प्रश्नों के देखते हुए नैतिकता को भी, "ओह, यह पूर्वी नैतिकता है और यह पश्चिमी नैतिकता है।" नैतिकता पूर्वी या पश्चिमी कैसे हो सकती है? यह कहना उतना ही निरर्थक है जैसे कहना कि सूर्य पूर्व में निकलता है और पश्चिम में ढलता है। हमारे घूमने फिरने की सहूलियत के लिये रास्ता दिखाने के लिये यह सब दिशायें, देशान्तर व अक्षांश हैं। जब अंग्रेज संसार पर राज्य करते थे, उन्होंने इंग्लैण्ड से होकर जाती हुई ग्रीनिच याम्योत्तर-रेखा को ०० देशांतर रेखा पर मान लिया। तो उनके लिये सब कुछ उनके पूर्व में या पश्चिम में था। मान लीजिये अगर जर्मनी संसार पर राज्य करता तो रेखा फ्रैंकफ़र्ट से होकर जा सकती थी, या अगर चीन का संसार पर राज्य होता तो यह शायद कैण्टन या पीकिंग से होकर जाती। तो वास्तविक ०० रेखा कहाँ है? वहीं है, जहाँ आप उसे रखें। अब मैं आपके पूर्व में बैठा हूँ और आप मेरे पश्चिम में बैठे हैं। कौन कहाँ है? सो इन सब सुविधाओं का निर्माण हमने अपने लिये किया है ताकि हमें समय व अंतरिक्ष में घूमने में सहायता मिल सके। यह कहना कि सूर्य पूरब में उगता है मूर्खता होगी। वह पूर्व में उदय होता है क्योंकि हमने उसे पूर्व माना है। अगर कल एक नई सरकार आ जाती है जो कहती है, "अब सारी दिशायें

उलट दी जायेंगी, यह पश्चिम और वह पूर्व होगा,'' तब सूर्य पश्चिम से उदय होगा और पूर्व में अस्त होगा। अगर हम प्रश्न की और गहराई में जायें तो यह और भी मूर्खतापूर्ण है, क्योंकि सूर्य न तो उदय होता है न अस्त। यह तो पृथ्वी है जो उसके चारों ओर घूम रही है।

वास्तविकता क्या है? हमें यह वास्तविकता लगती है, क्योंकि परम्परा ने हमें उसे वैसा देखना सिखाया है। हर एक चीज़ जो हम देखते हैं, जो हम जानते हैं, वह सब परम्परागत ज्ञान है, परम्परागत बुद्धिमत्ता है न कि वास्तविकता। मुझे वास्तविकता या उसके एक पहलू को एक तरह से देखना सिखाया गया है और उसे वास्तविकता के रूप में स्वीकार करना सिखाया गया है। दूसरे समाज में दूसरी भाँति सिखाया गया है। सुन्दरता के विचार भी अलग-अलग हैं। जो पूर्व में सुन्दर माना जाता है, यह आवश्यक नहीं कि पश्चिम में भी वही सुन्दर माना जाये। पूर्व की स्वच्छता पश्चिम की स्वच्छता नहीं है। पूर्व का ज्ञान पश्चिम का ज्ञान नहीं है।

वहाँ पूर्व में सब कुछ आन्तरिक मिलेगा, यहाँ सब कुछ बाह्य। इसका यह अर्थ नहीं कि एक सही और एक गलत है। इन सब को देखने की सही प्रवृत्ति है -- कि एक इस चरम सीमा पर पहुँच गया है और दूसरा उस चरम सीमा पर और दोनों ही दुःख भोग रहे हैं। बाबूजी की शिक्षा का यही महत्व है कि दोनों में संतुलन लाओ। पूर्व के लिये, बाह्य सुन्दरता की उपेक्षा किये बिना अपनी आन्तरिक सुन्दरता बनाये रखो। अपनी आन्तरिक स्वच्छता कायम रखो, परन्तु बाहर गन्दगी मत फैलाओ जैसा कि हम भारत में सदैव करते रहते हैं। वातावरण की स्वच्छता भी उतनी ही आवश्यक है जितनी आन्तरिक स्वच्छता। पश्चिम के लिये इसके बिल्कुल विपरीत संदेश है। केवल बाह्य स्वच्छता, वातावरण की स्वच्छता पर्याप्त नहीं है, अपने अन्तस् को भी स्वच्छ करो। केवल बाह्य सुन्दरता पर्याप्त नहीं है। तुम्हारा बाह्य शरीर सुन्दर है, अपने अन्तस् को भी सुन्दर बनाओ।

सो समस्या यह है कि कोई भी शिक्षा किस रूप में मान्य हो सकती है, यह इस पर निर्भर करता है कि वह कहाँ कही गयी है। इससे समस्या एक और नये रूप में दिखायी देती है कि ज्ञान भी तुलनात्मक है। एक मनुष्य दूसरे से अधिक बुद्धिमान है -- यह भी तुलनात्मक है, यह सापेक्षिक मूल्यांकन है। इसलिये बाबूजी का महान्, मैं कहूँगा कि महानतम वक्तव्य है कि ''ईश्वर के पास कोई मनस् (Mind) व ज्ञान नहीं है ।'' क्योंकि अगर उसके पास ज्ञान होता तो तुम यह तर्क दे सकते थे कि कुछ और भी है जिसके पास अधिक

ज्ञान है। वह ऐसे ब्रह्माण्ड की भाँति होता जो सदैव फैल रहा है। एक ब्रह्माण्ड का परिमाप नहीं हो सकता, समय के इस क्षण में उसके परिमाप का केवल अन्दाज़ हो सकता है।

इस प्रकार हमें एक फैलते हुए ईश्वर का विचार होगा या देवताओं का जो एक दूसरे से बड़े हैं और हम समय में वापस चले जायेंगे, उन्हीं अफलातूनी विचारों में, ग्रीस व रोम के तथा ईश्वर के पुरातन विचारों में चले जायेंगे। उनमें सबसे महान कौन है? अब इसके साथ विचार उठेगा अनेक देवी-देवताओं की संसद का विचार, और उन देवी-देवताओं का सभापतित्व करता हुआ कोई देवता, तब हम फिर से अनेकेश्वरवाद की ओर चले जायेंगे, परन्तु मेरे गुरुदेव अन्तस् की ओर गये। सब से बुद्धिमान के बाद उससे कम बुद्धिमान की ओर, फिर मूर्ख, फिर अति मूर्ख, फिर पूर्ण मूर्ख की ओर, फिर उसके आगे शून्य तक। और उस शून्य से ही सब कुछ जन्मा है। मूर्खता, बुद्धि, ज्ञान सब कुछ उसी से जन्मा है। अब यह सब से आश्चर्यजनक बात है कि जब हम दार्शनिक या योगी बन कर अपने अन्तस् में जाते हैं तो हमें शून्यता जैसी हालत मिलती है जिससे सब कुछ आता है। उस शून्यता से ही सब कुछ आता है। सब चीज़ों का मूल यह 'कुछ नहीं' है। आश्चर्य की बात यह है कि जब विज्ञान भी पदार्थ के अन्दर जाता है तो यही पाता है! अणु, परमाणु, नाभिक, फिर उसके बाद उप पारमाणविक कण क्वार्क जैसी विचित्र चीज़ें और क्या नहीं। अब अगर वैज्ञानिक समझदार होते तो कहते कि "इसके आगे कुछ नहीं है और इस कुछ नहीं से सब पदार्थ उत्पन्न होते हैं।" और फिर विज्ञान का योग का अद्‌भुत सम्मिश्रण हो जाता। परन्तु दुर्भाग्यवश विज्ञान उसके आगे और कण ढूँढना चाहता है जिनसे यह कण बने हैं। विज्ञान सदैव किसी वस्तु की खोज में लगा है और वह कुछ न कुछ ढूँढ ही लेता है और जब आपको कुछ वस्तु मिल जाती है तो वह ईश्वर तो हो नहीं सकती।

यही प्राचीन वैदिक वक्तव्य है 'नेति-नेति'। क्योंकि अगर आप यह कह सकते कि "यह है" तो "वह" नहीं है । फिर से हाइसनबर्ग की बात है, अगर आपको वेग पता है तो उसकी स्थिति नहीं मालूम और अगर आपको पता है कि वह कहाँ है तो उसका वेग नहीं मालूम। दर्शन और योग कहते हैं "उसमें न वेग है न कोई स्थिति, आप उसे क्यों खोज रहे हैं?" क्योंकि ईश्वर की अन्तरिक्ष में कोई स्थिति नहीं हो सकती और न ही वह एक स्थान से दूसरे स्थान तक चल सकता है कि उसका समय में कोई वेग हो।

आप फिर से वही समस्या देखते हैं। इस कारण पूर्वीय रहस्यवादी, पूर्व के महान बुद्धिवादी उस शून्यता में गये, जिसके शून्य होने के कारण न तो उसकी अन्तरिक्ष में कोई स्थिति है और न समय में कोई वेग है, किंतु जिसे प्रत्येक व्यक्ति ध्यान करने पर अपने हृदय के केन्द्र में पाता है। और अनुसंधान करने पर उन्होंने पाया कि वह संसार की प्रत्येक वस्तु के केन्द्र में है।

इसी कारण वह इस भव्य धारणा पर आये कि "बिना कहीं भी हुए वह सर्वव्यापी है, वह कुछ नहीं है परन्तु उससे सब कुछ पैदा होता है," ये सब परस्पर विरोधी आकर्षक धारणायें, जब कि वैज्ञानिक हर एक चीज़ का विशिष्ट स्थान निर्धारित करने की सनक में अभी तक ईश्वर को भी अणु-परमाणु व उससे भी छोटे कणों में खोज रहे हैं। सो यही विज्ञान का दुर्भाग्य है और दर्शन की भव्यता है । अब हम किस मार्ग को अपनायें? आन्तरिक मार्ग को! परन्तु उसको अपनाते हुए हम किसकी उपेक्षा न करें ? बाह्य मार्ग की। क्योंकि एक के बिना दूसरा अर्थहीन है। मेरे गुरुदेव का यही संदेश है, "दोनों को बराबर ध्यान व उत्साह से अपनाओ, एक के कारण दूसरे का अतिरेक मत करो।" फिर आप ईश्वर की मूल धारणा पर पहुँच जायेंगे जहाँ वह एक ओर शून्य या शून्यता है और दूसरी ओर वह स्वयं ब्रह्माण्ड है।

अब हम इस खोज तक कैसे पहुँचें? यह हम पर निर्भर करता है। यह नकारा नहीं जा सकता कि लाखों में शायद एक इस खोज पर खुशी या प्रसन्नता के कारण पहुँचता है। या करोड़ मनुष्यों में से एक से भी कम, दस अरब मानव में एक मानव इस खोज की ओर सुख, खुशी, धन दौलत, स्वास्थ्य व सफलता के होते हुये पहुँचता है। बाकी करोड़ों जो आते हैं वे कुण्ठा, दुःख -दर्द, बीमारी, असफलता के कारण यहाँ पहुँचते हैं। सो अगर मेरी बहन ने जो कुछ कहा वह सत्य है कि वह एक संतुलित व सुव्यवस्थित वातावरण से यहाँ आई है तो वह बहुत सौभाग्यवान है। वह करोड़ों में से एक है और वैसा हम सबको करना चाहिये। परन्तु आप तो जानते हैं कि धन-दौलत और सफलता खुशी और स्वास्थ्य का रास्ता ही है जो हमें अहंकारी व स्वाभिमानी बना देता है। मैं अमीर हूँ, मैं महान हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं बुद्धिमान हूँ, यह 'मैं, मैं, मैं' अहं को और भी गहरा कर देता है। फिर तुम 'उसको' कहाँ खोजोगे? यह मनोविज्ञान के आत्म-प्रेम की भाँति हो जाता है। जब तुम आइने में अपना ही चेहरा देखकर उससे प्रेम करने लगते हो। तुम्हारे जीवन में कोई भी प्रेमी नहीं होता और अन्त में यह आत्महत्या सिद्ध होती है।

कबीर एक सन्त व रहस्यवादी थे जिनकी बाबू जी सर्वाधिक प्रशंसा किया करते थे। कबीर कहते थे, "हम सब ईश्वर के विषय में तभी सोचते हैं जब हम दुःखी व बीमार होते हैं। जब हम स्वस्थ व सुखी होते हैं तब ईश्वर की कौन सोचता है?" फिर वह कहते हैं, "अगर हम स्वास्थ्य व सुख में उसको स्मरण करें तो हमें दुःख और बीमारी कभी क्यों हो?"--

"दुःख में सुमिरन सब करें, सुख में करे न कोय,
जो सुख में सुमिरन करे, तो दुःख काहे को होय।"

अब कबीर के इस दोहे की बात मैं क्यों कर रहा हूँ? इसका एक महत्वपूर्ण कारण है। कबीर ने हमें सुख, स्वास्थ्य व ज्ञान का त्याग करने को नहीं कहा। उन्होंने ऐसा नहीं कहा। उन्होंने केवल कहा, "जब तुम्हारे पास यह सब हो तब भी ईश्वर का स्मरण करो।" वह शायद बाबू जी जैसे सुन्दर ढंग से नहीं कह पाये, क्योंकि उनकी आध्यात्मिक पहुँच उतनी नहीं थी। परन्तु आध्यात्मिक ज्ञान का बीज उनमें अवश्य था। भारत की पहले की परम्परा जो हमें दुःख और बीमारी को गले लगाने, अपने शरीर पर अत्याचार करने, उसे छूरी-चाकू से भेदने, जलाने को कहती है, एक प्रकार से यह उसका निषेध था। क्योंकि कबीर ने सम्भवतः इस बात को समझा कि दुःख में भी मैं केवल अपने बारे में सोचता हूँ, मेरा सिरदर्द, मेरा पेट-दर्द, मेरे दिल में दर्द, मेरी पीठ का दर्द। जैसा उन्होंने कहा, मैं फिर 'मैं, मैं, मैं' में अटका रह जाता हूँ।

इस प्रकार प्राचीन परम्परा ने दुःख के पीछे भागने की गलती की और पाश्चात्य परम्परा सुख के पीछे भागने की गलती कर रही है। दोनों के बीच में बाबू जी आकर कहते हैं, "दोनों के पीछे मत भागो, संतुलन बनाये रखो, जब यह आये तो इसे स्वीकार करो, जब वह आये तो उसे स्वीकार करो और हर समय ईश्वर को स्मरण रखो।" क्योंकि जहाँ सुख है वहाँ दुःख अवश्य होगा, दोनों एक ही सिक्के के दो पक्ष हैं। अगर एक तरफ महारानी का सुन्दर चेहरा देखकर तुम सिक्का लेते हो तो उसका दूसरा पक्ष भी है। तुम यह नहीं कह सकते कि यह तुम ले लो मुझे केवल चेहरे वाला पक्ष दे दो, या दूसरा व्यक्ति कहे "नहीं, नहीं, मुझे केवल पीछे का हिस्सा चाहिये मुझे रानी का सिर नहीं पसन्द है," एक के बिना दूसरा नहीं मिल सकता।

अतः मेरे गुरुदेव ने कहा, "दोनों को भूल जाओ।" सुख या दुःख, या बीमारी या कष्ट वह चीज़ें नहीं हैं जिन्हें हम खोजते हैं, वह तो हमारे साथ घटित हो जाती हैं। वह हम पर घटित भर हो जाती

हैं। यह और बात है कि उन्होंने अपनी खोज कर के यह पता लगाया कि वह हमारे संस्कारों के कारण होती हैं। यह उस भाँति है जैसे एक मनुष्य सड़क पर सफर कर रहा है, कभी रास्ते में बादल होते हैं कभी बारिश, कभी धूप, कभी अच्छी सड़क होती है और कभी खराब सड़क। हम इन चीज़ों को खोजने नहीं जाते। जब हम सफर पर जाते हैं तो हमें गंतव्य की तलाश होती है, बाकी सब संयोग से होता है। उसी भाँति हमारे जीवन के सफर के बारे में बाबू जी कहते हैं, ''अपने लक्ष्य की तलाश करो, बाकी सब भूल जाओ।''

मुझे आशा है कि आप इस बात को समझ सकते हैं कि मेरे गुरुदेव ने स्वयं जीवन का कितना आधारभूत, मौलिक और भव्य समन्वय किया है। यह जीवन ही है; खोज जीवन से अलग नहीं है, खोज जीवन का ही अंश है। इसलिये जब हम विचार करते हैं कि जीवन कैसे जियें तो लक्ष्य मौजूद है, गुरुदेव मौजूद हैं। जो कुछ करना है वह भी मौजूद है। यह सभी जीवन के अंश हैं।

मैं अपना यह अन्तिम निष्कर्ष आपके सम्मुख रखना चाहता हूँ कि केवल सहज मार्ग ही जीवन का समग्र विवेचन करता है, शेष सब ने केवल हमारे अस्तित्व के अंश मात्र का विवेचन किया है। इसी कारण हम कहते हैं कि गुरु सर्वोपरि है और हमें सर्वाधिक प्रभावकारी मार्ग प्रदान किया गया है।

धन्यवाद।

सहायता का अर्थ है परिवर्तित करना

१ सितम्बर, १९८७ सायंकाल

इस विषय पर अब तक शायद सैकड़ों बार बात हो चुकी है। कई बातें हैं जिनका हमें ध्यान रखना पड़ेगा। पहली बात है : हम दूसरों की सहायता के लिये कितना कर सकते हैं? शायद हम एक व्यक्ति की, दो की, या सौ व्यक्तियों की सहायता कर सकते हैं, इससे अधिक नहीं। मुझे सदैव ऐसा प्रतीत हुआ कि हमारा यह सोचना कि हम किसी की सहायता कर सकते हैं, मानव अहंकार का अंश है। तो पहली बात यह है कि जब मानव सोचता है कि वह दूसरों की सहायता कर सकता है तो यह एक प्रकार का अहंकार है ।दूसरी बात है : क्या हममें इसकी क्षमता है ? हम देखते हैं कि अगर आप एक की सहायता कर सकते हैं, तो अत्यधिक सामर्थ्य वाला शायद सौ लोगों की सहायता कर सकता है। तीसरा प्रश्न उनके संस्कारों का है जो वे भोग रहे हैं -- दुःखी हों या मजे में, उनका जीवन उनके संस्कारों पर निर्भर है। अब आप उनके जीवन में हस्तक्षेप कैसे कर सकते हैं या उसे कैसे बदल सकते हैं? आप अधिक से अधिक किसी भूखे को खाना खिला सकते हैं या किसी नंगे को कपड़ा दे सकते हैं। फिर यह सोचना कि हमने उनकी सहायता की, मैं फिर कहूँगा, अहंकार है।

मेरे गुरुदेव के अनुसार सहायता करने का अर्थ है बदलाव लाना। किसी भूखे को खाना खिलाना उसकी सहायता करना नहीं है, केवल खिलाना है। यह केवल दर्शाता है कि आपके पास आपकी आवश्यकता से अधिक है और आप उसमें से कुछ उसे दे रहे हैं। आप इसे ऊर्जा का समायोजन कह सकते हैं, उच्च स्तर से निचले स्तर की ओर बहना। इसी कारण लोगों को खिलाने से शिक्षा देना बेहतर मानते हैं, क्योंकि इससे आप उन्हें स्वावलम्बी बनने की क्षमता प्रदान करते हैं। यह भोजन या कपड़ा प्रदान करने से उच्च स्तरीय सहायता है, परन्तु फिर भी यह संस्कारों में हस्तक्षेप नहीं करती। इसी कारण हम शिक्षित लोगों को दुःख भोगते हुए देखते हैं। हमें ऐसे शिक्षित लोग मिलते हैं जो दुष्ट हैं, जो खुश हैं, जो अपराधी हैं, जो नशे के शिकार हैं, जेल में सड़ रहे हैं और जो आज एड्स से भी पीड़ित हैं। तो शिक्षा का क्या मूल्य है? शिक्षा देने से लोगों में कोई गहरा या भीतर तक पहुँचने वाला

बदलाव नहीं होता। आजकल के लोग इस का जीता-जागता उदाहरण हैं कि शिक्षा मनुष्यों के लिये कुछ कर पाने में असमर्थ है। हम केवल शिक्षित दानव पैदा करते हैं।

फिर आध्यात्मिकता का आगमन होता है, और इसके साथ लोगों को बदलने की पहली सम्भावना उत्पन्न होती है। और इस प्रकार उनकी सहायता करने की, विशेष रूप से सहज मार्ग में क्योंकि एक ही बार में उनके संस्कारों की सफाई कर के हम उनके जीवन को एक नई दिशा देते हैं, और प्राणाहुति द्वारा हम उन्हें कुछ सकारात्मक देते हैं। हम शौकिया तौर पर शिक्षा पद्धतियों का, पूर्वी, प्राच्य या पश्चिमी जैसी विभिन्न पद्धतियों का अध्ययन कर सकते हैं, परन्तु यह सब बेकार है। यह केवल बाहरी सौन्दर्य उपचार है। चाहे एक निर्माता के प्रसाधन का प्रयोग करें या दूसरे का, आपका चेहरा केवल बाहरी तौर से बदलता है। मुझे पता नहीं आप में से कितनों ने आस-पास अपने भाई व बहनों के चेहरों को भली प्रकार देखा है। जब वास्तविक आन्तरिक बदलाव होता है तो चाहे पुरुष हो या स्त्री, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। उनके चेहरे पर एक नई सुन्दरता आती है।

यह सुन्दरता कहाँ से आती है। यही सुन्दरता मेरे गुरुदेव महाराज में थी, जब आपने उन्हें १९७२ में देखा वह ७३ वर्ष के थे, उनकी दाढ़ी थी, बनावटी दाँत थे, वह गंजे सिर थे, फिर भी स्त्री-पुरुष, छोटे-बड़े, हम सबको उनसे एकदम प्रेम हो गया। वही असली सुन्दरता थी जो आन्तरिक बदलाव के कारण आई थी, न कि चेहरे पर कोई प्रसाधन लगाने से या दाढ़ी में कंघा करने से। वही वह हमारे लिये भी करते हैं। हमारे अन्दर बदलाव लाकर बाह्य परिवर्तन पैदा कर देते हैं। अतः जो हमारी सचमुच सहायता कर सकता है वह एक आध्यात्मिक गुरु है। बाकी सब केवल दिखावा -- जैसे एक माइकल एन्जलो के चित्र को लेकर उस पर ब्रुश से एक छोटी सी लाइन बना कर कहना "मेरा इस चित्र में योगदान है।"

यह महत्वपूर्ण है कि शिक्षित लोग शिक्षा की सीमा को समझें। वह केवल हमें ऊपरी पालिश की महीन चमक दे सकती है। इससे विरले ही चरित्र में बदलाव आता है। अगर कोई पहले ही चरित्रवान है तो शिक्षा उसमें निखार ला सकती है। बुरे चरित्र वाले व्यक्ति को शिक्षा, अधिक पापी, अधिक दुष्ट और अधिक भ्रष्ट बनाने में सहायक होती है। इसका उदाहरण हमें आज के बड़े-बड़े उद्योगपतियों, बड़े-बड़े अपराधियों, बड़े-बड़े गुण्डों में मिलता है। वे सब अत्यधिक बुद्धिमान हैं, परन्तु उनकी बुद्धि का उपयोग गलत तरीके से एक नकारात्मक रूप

में किया जाता है, क्योंकि वे चरित्रहीन हैं। अतएव मनुष्य को बदलने का अर्थ है पहले उसके चरित्र को बदलना। किसी को भोजन खिलाने से आप उसका चरित्र नहीं बदलते, आप केवल उसकी भूख मिटाते हैं। शिक्षा देकर आप किसी व्यक्ति का चरित्र नहीं बदलते, केवल उसकी अज्ञानता मिटाते हैं।

चरित्र कैसे बदलता है ? उसको हटा कर जो हमारे चरित्र का निर्माण करता है, यानि हमारे संस्कार। मैं चाहूँगा कि मेरे अरब के रेगिस्तान से आये मित्र इसे स्मरण रखें। दिल और दिमाग में चुनाव का मौका आने पर हमेशा दिल को प्रधानता देनी चाहिये, महिलाओं को ही नहीं बल्कि पुरुषों को भी। आशा है कि मेरे मित्र इस उत्तर से संतुष्ट होंगे, या उन्होंने इसमें से कुछ भी नहीं सुना।

लोग यह प्रश्न कर सकते हैं कि हम अपने ध्यान में प्रसन्न कैसे हो सकते हैं? क्या ध्यान हमें प्रसन्नता दे सकता है?

ध्यान में हम प्रसन्न नहीं होते। हम केवल ध्यान करते हैं -- बस। सुख व दुःख दूसरी परिस्थितियों के कारण होते हैं। यह आपके सोचने में एक और गलती है। हम ध्यान करते हैं। सुख व दुःख ध्यान के कारण नहीं अपितु हमारे संस्कारों के कारण भिन्न रूपों में प्रकट होते हैं।

मैं एक दूसरे विषय को लेता हूँ कि हम केवल बैठे हैं और संसार की सहायता हेतु कुछ नहीं कर रहे हैं। मान लीजिये बाबू जी यूरोप में पैदा होते और उनके विचार भी मेरे मित्र की भाँति होते तो वह ध्यान न कर के एक समाज-सेवक बन जाते, जेलों में जाते, गरीबों को खिलाते और यह सोचकर प्रसन्न होते जाते कि वे लोगों की सहायता कर रहे हैं। तो आज संसार में क्या होता? यह केवल बाबू जी पर ही नहीं हम सब पर लागू होता है। हम सेवा के उच्चतर स्तर पर हैं जब कि अन्य लोग सेवा के निचले स्तर पर हैं।

मेरे ज्ञानी मित्र को बेशक कन्फ्यूशियस का यह मुहावरा पता होगा कि जब तुम किसी को एक मछली देते हो तो वह केवल एक बार खा सकता है परन्तु उसे मछली पकड़ना सिखा दो तो वह जीवन भर खा सकता है। अतः भौतिक सहायता सबसे निचले स्तर की सहायता है। मानसिक स्तर पर शिक्षा प्रदान करना उससे ऊँचे स्तर की सहायता है। आध्यात्मिक सेवा सबसे उच्च श्रेणी की सेवा है। तो यह सोचना कि हम केवल बैठ कर ध्यान कर रहे हैं और संसार को बदलने का कोई प्रयत्न नहीं -कर रहे एक मूर्खतापूर्ण विचार है। हम मानवता की

उच्चतम स्तर की सहायता करने का प्रयत्न कर रहे हैं, निचले स्तर उनके लिये छोड़ दिये हैं जो उनके योग्य हैं। कहिये आप प्रसन्न हैं?

मैं अपने भाई को जो उत्तर दे रहा था उसमें कुछ और जोड़ना चाहूँगा। अगर कोई व्यक्ति जो ध्यान कर रहा है यह सोचता है कि वह मानवता की सहायता नहीं कर रहा है, तो इसमें कुछ गड़बड़ है। क्या आप मुझे बता सकते हैं कि इसमें क्या गड़बड़ है? (हँसी) समस्या यह है कि हमें आदत पड़ी हुई है कि हम लोगों की कुछ देकर, कुछ कर के सहायता करते हैं, और ध्यान में हम औरों को न कुछ देते हैं, न दूसरों के लिये कुछ करते हैं। प्रत्यक्ष रूप में नहीं। यह एक भ्रांति पैदा करता है और यह भ्रांति बढ़ती जाती है क्योंकि हमें ध्यान का सीधा असर दिखाई नहीं देता और न ही अपने अन्दर बदलाव का असर दिखाई देता है। यह कारण और कार्य के विषय में यूरोप के मनस् की सनक है। पश्चिम में मानव-मन का इस प्रकार प्रशिक्षण हुआ है कि कुछ करने पर परिणाम तुरन्त दिखाई देना चाहिए । हम यह मानने को तैयार नहीं कि कोई ऐसा कारण भी प्रस्तुत कर सकते हैं जिसका प्रभाव हम शायद कभी न देख पायें।

यह होमियोपैथिक का सर्वविदित सिद्धान्त है कि बीमारी का इलाज जितनी गहराई तक जायेगा उसका असर दिखाई देने में उतना ही समय लगेगा। अगर आप को बुखार या ऐसा ही कुछ है तो उसकी दवाई देकर तुरन्त इलाज किया जा सकता है। तीव्र बीमारियों का आसानी से इलाज किया जा सकता है और उसका ठीक होना आप आँखों के सामने देखते हैं। परन्तु जब पुरानी बीमारी वाला मरीज़ हो, जैसे पुराना त्वचा रोग, फेफड़े की पुरानी समस्या, या ऐसी ही चीज़ें, तो उन पर असर होने में कई बार सालों लग जाते हैं। केवल यह दृढ़ ज्ञान कि यह काम करेगा, अवश्य करेगा, हमें वह धैर्य देगा कि हम परिणाम की प्रतीक्षा करें। होमियोपैथिक में यह विश्वास इस ज्ञान से आता है कि हम किस बीमारी के लिये कौन सी दवा दे रहे हैं। आध्यात्मिकता में यह विश्वास गुरु के प्रति विश्वास के कारण आता है।

अब हमारे प्रशिक्षक सारे संसार में कार्य कर रहे हैं। वे सफाई करते हैं, प्राणाहुति देते हैं वे विश्वास के आधार पर कार्य करते हैं। सफाई की जानकारी के आधार पर नहीं क्योंकि आपको यह पता नहीं कि आप क्या साफ कर रहे हैं और कैसे? आप जिस गन्दगी को निकाल कर अपनी कूड़ेदानी में रखते हैं, उसे आप देखते ही नहीं। और न वे प्राणाहुति पर विश्वास के कारण कार्य कर रहे हैं, क्योंकि वह भी एक ऐसी चीज़ है जो हमें कभी दिखायी नहीं देती। तो वह

क्या है जिसके विश्वास पर वह कार्य कर रहे हैं? गुरुदेव पर विश्वास, और उस अतिरिक्त विश्वास पर जो उन्हें खुद अपने कार्य का परिणाम देखने पर पैदा होता है। अपने कार्य का परिणाम उनके गुरुदेव के प्रति विश्वास को और दृढ़ बना देता है। यह याद रखने की महत्वपूर्ण बात है क्योंकि वह जिस अस्त्र से कार्य कर रहे हैं उसे देख नहीं सकते। उच्चतम स्तर से भी वह उस प्रक्रिया का अध्ययन नहीं कर सकते; इस कारण यदि कुछ परिणाम है तो वह गुरुदेव के कारण है।

इस कारण विश्वास कोई दोहरा विश्वास नहीं होता कि ८०% गुरुदेव में और २०% अपने में। गुरुदेव में विश्वास दिन-प्रतिदिन बढ़ता जाता है और जैसे-जैसे विश्वास बढ़ता है हमारे कार्य में हमारी संकल्पशक्ति भी बढ़ती जाती है, क्योंकि अब कोई शंका नहीं है। और इसी कारण परिणाम भी अधिकाधिक आश्चर्यजनक होते जाते हैं। अब मैं कहूँगा, कि एक दिन आप उस स्तर पर पहुँच जायेंगे जहाँ आपके और गुरुदेव के कार्य में कोई फर्क नहीं होगा।

एक और महत्वपूर्ण बात यहाँ आती है, कि तब भी गुरुदेव ही काम कर रहे हैं, आप नहीं। इससे बहुत नम्रता आती है कि जो भी सहायता देनी है वह गुरुदेव देते हैं चाहे वह मेरे माध्यम से हो या किसी और के माध्यम से। दो या तीन अत्यधिक महत्वपूर्ण कारणों से हम दूसरों की सहायता करने की मानवीय इच्छा का भी समर्पण गुरुदेव को ही कर देते हैं। मैं उनकी तुलना में कुछ भी नहीं कर सकता। अगर मैं सहायता करूँ भी तो एक या दो की कर सकता हूँ, वे पूरे संसार की, पूरे ब्रह्माण्ड की सहायता कर सकते हैं। मैं आज केवल एक जीवित व्यक्ति की ही सहायता कर सकता हूँ, वे मृत व्यक्ति की भी सहायता कर सकते हैं।

इन्हीं तीन महत्वपूर्ण अत्यावश्यक कारणों से, दुःखी मानव जनों के प्रति अपने दर्द को, उनकी सहायता की इच्छा को हम उनको समर्पित कर देते हैं और निवेदन करते हैं कि "यह आप करिये।" पर मैं अपने मित्र को याद दिलाना चाहूँगा कि उनके निर्देशों का पालन करते हुए हम खुद भी बहुत कुछ करते हैं। हमारा कार्य दो क्षेत्रों में है। एक तो प्रशिक्षक के तौर पर अभ्यासियों पर कार्य करते हुए हम अभ्यासियों की नहीं अपितु गुरुदेव की सेवा करते हैं। दूसरा, अपना अभ्यास व ध्यान करते हुए हम आन्तरिक क्षमता, आन्तरिक पवित्रता, आन्तरिक शक्ति को उत्तरोत्तर बढ़ाते हुए मालिक के हाथों में एक बेहतर औज़ार बनते जाते हैं। अगर हम में भक्ति व विश्वास है और वह

हम पर कृपा करते हैं तो हम एक दिन उनकी भाँति ही बन जाते हैं। इस प्रकार बिना गुरु बने हम में गुरुवर की क्षमताएँ हो जाती हैं।

अब यहाँ मानव का सबसे बड़ा लाभ है। दूसरों पर कार्य करने की अपनी सीमित मानवीय क्षमता और योग्यता का समर्पण कर के, 'उनको' मानवता के कल्याण का अवसर देकर केवल 'उनकी' सेवा करते हुए, हम अपने को वह बनाने का प्रयत्न करते हैं जो 'वह' चाहते हैं, और तब एक ऐसी स्थिति आती है कि गुरुदेव अपनी तरह के लाखों गुरु बना देते हैं जिनमें से प्रत्येक लाखों लोगों की, करोड़ों लोगों की सहायता कर सकता है। तो संसार को लाभ हुआ कि नहीं? मानवता को लाभ हुआ कि नहीं? क्या इससे और अधिक लाभ हो सकता था? तो, सहज मार्ग वह शिक्षा संस्थान है जो केवल सन्त व आध्यात्मिक व्यक्ति नहीं बनता, अपितु उसका लक्ष्य गुरुओं को बनाना है, जो पूरे संसार को आबाद कर दें। तब गुरुदेव का लक्ष्य पूर्ण होगा कि कोई दुःख, कोई दर्द न हो। इस तरह के करोड़ों गुरुओं के साथ संसार में ठोसता कैसे हो सकती है?

अब हम उस चौथे स्तर की सेवा पर आते हैं जो केवल उच्चतम आध्यात्मिक सेवा ही नहीं, गुरुदेव की उच्चतम स्तर की आध्यात्मिक सेवा है, वह उच्चतम आध्यात्मिक स्तर जो गुरुदेव का उच्चतम स्तर है। वास्तव में मैं निर्भीक होकर कहूँगा कि यह संसार एक ईश्वर द्वारा अनुशासित न होकर तब लाखों ईश्वरों द्वारा अनुशासित होगा। मेरे विचार में यह प्रतीक्षा के योग्य एवं चेष्टा करके पूरा करने योग्य है।

फलित-ज्योतिष – नये अभ्यासी

३ सितम्बर १६८७ – प्रातः

शायद मुझे फलित-ज्योतिष के बारे में कुछ कह कर बात शुरू करनी चाहिये। कल मुझे पता नहीं था कि सिगा क्या कहने जा रहा है इसलिये मैं थोड़ा आश्चर्य चकित रह गया। मैं नहीं चाहता कि अभ्यासियों को फलित-ज्योतिष में कोई विशेष रुचि हो, या देखा जाय तो किसी भी गुप्त विद्या में : फलित-ज्योतिष, आईचिंग, टैरट जैसी विचित्र चीज़ों में। मैं उसका कारण बताता हूँ। यह नहीं कि वे वैध विज्ञान नहीं हैं, क्योंकि मुझे कई लोगों के बारे में पता है जो विस्मयकारी भविष्यवाणी करते हैं, सलाह देते हैं। परन्तु यह एक ऐसा विचार मन में उत्पन्न करता है कि हमारे जीवन पूर्व-निश्चित हैं, और हम संसार में एक निश्चित भाग्य ले कर आते हैं और इसमें आध्यात्मिक साधना का विरोधाभास निहित है। वास्तव में जो भी फलित-ज्योतिष, टैरट या आईचिंग में विश्वास करते हैं, उन्हें तो स्कूल भी नहीं जाना चाहिये। क्योंकि स्कूल जाने का अर्थ है कि अपने को शिक्षित करना। सो तुम संसार में जैसे आये थे उससे आगे जा रहे हो। ऐसे तो बीमार होने पर हमें दवा भी नहीं लेनी चाहिये।

सो, यह दुर्भाग्यपूर्ण बात है, विशेष रूप से पूर्व में जहाँ यह बहुत प्रमुख है कि इन चीजों में असीम विश्वास हमें भाग्यवादी बना देता है, और यह मानव से उसके विकास की इच्छा व प्रेरणा समाप्त कर देता है। संक्षेप में, अगर आप इन सब में विश्वास रखते हैं तो आप बदलाव के विरोधी हैं। आध्यात्मिकता इस प्रवृत्ति को बर्दाश्त नहीं कर सकती, क्योंकि आध्यात्मिकता बदलाव है -- जो हम हैं उस से बदल कर वह कैसे बने जो शायद हम विकास के अन्तिम चरण में होंगे। जहाँ हम शायद करोड़ों वर्षों के बाद पहुँचेंगे, फिर भी वह अवश्य ही सम्भव होगा।

जो कुछ आध्यात्मिकता हमें सिखाती है, वह है "उसे आज ही अस्तित्व में ले आओ।" और यह पूर्व-निश्चित नहीं हो सकता। तो हम देखते हैं कि यह कैसे इन सब गुप्तविद्याओं के विपरीत जाती है। बेशक इस विषय में मैं भी थोड़ा अपराधी हूँ, क्योंकि मैं खुद भी इन चीज़ों से थोड़ा खेलना पसन्द करता हूँ। मुझे याद है एक बार मलेशिया

में १० वर्ष पूर्व १९७७ में जब मैंने भी आईचिंग, टैरेट और फलित-ज्योतिष की कुछ बैठकें की थीं और उसके ऊपर आम बहस हुई, तो टॉम विटलम ने मुझे आगाह किया था। उन्होंने मुझसे कहा, "आप एक ऐसी जगह पर हैं, जहाँ आप जो करेंगे, लोग उसका अनुसरण करेंगे, और अगर आप इन चीजों में प्रकट रुचि लेते हैं तो आप अभ्यासियों को गुमराह कर रहे हैं।"

अतः इस मामले में मैं भी सदोष हूँ। परन्तु मैं इसे केवल शौकिया ही करता हूँ, गम्भीरता से नहीं। मैं उस में शायद ही विश्वास कर सकता। यह ऐसा ही है जैसे तूलो से यहाँ आते हुए मैंने नक्शे का अध्ययन किया और फ्राँस की हर एक सड़क को देखा कि वहाँ क्या है। यहाँ क्या है, क्या हो रहा है। मुझे पता था कि हम एक्स तक आ रहे हैं और फिर आ रहे हैं, क्या कहते हैं, बोनाक्रे या बोनासक्रे पर ...

प्रश्न – बोनास्ख्र पर।

उत्तर – कई लोग बोनासक्रे कहते हैं।

प्रश्न – बोनास्ख्र होना चाहिये।

उत्तर – परन्तु मैंने मीरेल को बोनाक्रे कहते सुना है। आप बतायें बोनाक्रे या बोनास्ख्र? (हास्य)

प्रश्न – बोनास्ख्र,

उत्तर – चलो, हम यहाँ पहुँच गये तो अब क्या फर्क पड़ता है। सच पूछिये तो मुझे केवल तूलो से बोनास्ख्र का रास्ता देखना था, परन्तु मैं सारी सड़कें देख रहा था। क्यों नहीं? सरसरी तौर पर रुचि लेना ऐसा है जैसे सड़कों का नक्शा देखना। वह सारी सड़कें भी देखना जिन पर मैं कभी नहीं जाऊँगा। यह उत्सुकता है। अंग्रेजी की कहावत है कि "उत्सुकता ने बिल्ली को मार दिया" तो उत्सुकता भी सीमा के अंदर होनी चाहिये।

अब उत्सुकता एक निष्क्रिय चीज़ है, इसका कोई उद्देश्य नहीं है, कोई अर्थ नहीं है, जब कि अनुसंधान या वैज्ञानिक उत्सुकता के पीछे उद्देश्य होता है। अब चूँकि मैं कुछ ऐसी चीज़ें करता हूँ, दूसरे लोग भी इसे करने के लिये उत्सुक हो सकते हैं। कल शाम को ध्यान के पश्चात मैं ज्योतिषियों के एक समूह से मिला था। मैंने उनसे कल रात क्या कहा, मैं आपको उसका संक्षिप्त विवरण दूँगा। सर्वप्रथम, यह एक निर्विवाद तथ्य है कि फलित-ज्योतिष, कारगर होती है। इस पर कोई विवाद नहीं कर सकता कि अगर आप की जन्मपत्री ठीक बनी है तो

आप भविष्य बता सकते हैं -- और बहुत सही भविष्यवाणी कर सकते हैं -- एक-एक क्षण की; परन्तु वह अनेक कारणों पर निर्भर करता है। प्रथम, पत्री पूर्ण रूप से सही हो। दूसरा, जो व्यक्ति उसे पढ़ रहा है वह उस विज्ञान में निपुण हो। तीसरा, ज्योतिषी विज्ञान से आगे, अन्तःप्रज्ञ भी अवश्य हो क्योंकि वह उन शक्तियों पर विचार कर रहा है जिनका समन्वय अन्तःप्रज्ञा द्वारा होता है। तुम उनको तराजू में तौल कर यह नहीं कह सकते कि यह साठ ग्राम है और यह चालीस ग्राम है और यह बीस ग्राम का अंतर प्लूटो या नेपच्यून को जायेगा। वहाँ वे अमूर्त के साथ कार्य कर रहे हैं। इसलिये उन शक्तियों का समन्वय करने में उन्हें अति दक्ष होना चाहिये ताकि वह निष्कर्ष पर पहुँच सकें।

पर सबसे महत्वपूर्ण तथ्य ये ज्योतिषी व उनके ग्राहक भी भूल जाते हैं : कि अगर किसी व्यक्ति के जीवन को बदलने के लिये कुछ किया जा रहा है तो फलित-ज्योतिष असफल हो जायेगी। उसका असफल होना अनिवार्य है। अब यह प्रश्न पूछा जा सकता है, ''करीब-करीब हर व्यक्ति के लिये वह कारगर क्यों होती है?'' इसका कारण यह है कि व्यक्ति अपने जीवन को स्वयं बदलने का कितना ही प्रयत्न करे वह स्वयं को नहीं बदल सकता। यह मोटर गाड़ी को अन्दर से धक्का लगाने जैसा है। गाड़ी के अन्दर बैठ कर आप उसे धक्का नहीं लगा सकते। यह आश्चर्यजनक तथ्य है कि किसी व्यक्ति को अपने जीवन के बारे में सब कुछ पता हो फिर भी वह उसका ब्योरा नहीं बदल सकता। इसके विषय में मैंने पहले भी कहा है, मेरे विचार से वोराउफ में -- एक लघु कथा के बारे में जो अस्पेन्स्की की द्वारा लिखी हुई है। उसका शीर्षक है :'ईवान ओसोकिन का विचित्र जीवन।' यह एक २१ वर्षीय युवक की कथा है जो बहुत दुःखी है और अपनी माँ से झगड़ कर, घर छोड़ देता है। उसका पिता नहीं है। फिर वह सोचता है, ''अगर मुझे इस जीवन को फिर से जीने का अवसर मिल जाये तो मैं इसे दूसरी तरह जीऊँगा।'' उसी समय एक बुद्धिमान व्यक्ति आता है, वह दोनों साथ चलने लगते हैं और इन्हीं विषयों पर बात करते हैं। वह नवयुवक उससे कहता है, ''आप इतने बुद्धिमान हैं, मुझे अपना जीवन पुनः जीने का अवसर क्यों नहीं देते?'' वह बुद्धिमान व्यक्ति हँस कर कहता है, बेटे! यह तुम कभी नहीं कर सकते, तुम्हें अपने जीवन को बदलने के लिये किसी और की आवश्यकता पड़ेगी।'' वह लड़का कहता है, ''चलो! मुझे यह किस्सा मत बताओ। मुझे पक्का विश्वास है मैं कर सकता हूँ। मुझे पता है कि मैंने क्या गलतियाँ की थीं, तो मैं उन्हें दोबारा क्यों करूँगा?''

बुद्धिमान कहता है "मुझे अफसोस है! मैं तो यह नहीं कर सकता, परन्तु सड़क के उस सिरे पर एक जादूगर रहता है। अगर तुम उसके पास जाओ तो वह तुम्हारी सहायता करेगा।"

तो वह लड़का जादूगर के पास जाता है और कहता है, "तुम मेरे इस जीवन को फिर से जीने में मदद क्यों नहीं करते? मैं उसे बदलना चाहता हूँ। जादूगर उसे इससे विरत करने का प्रयत्न करता है। वह कहता है "तुम अपने जीवन को स्वयं बदल सको यह सम्भव नहीं है।" किंतु युवक उसकी मिन्नत करता है। "कृपया मुझे अवसर दो।" जादूगर थोड़ा भस्म लेकर कुछ बुदबुदाता है और उसे आग की लपटों में डाल देता है। बिजली की एक चमक होती है और यह लड़का फिर एक बालक बनकर पालने में वापस पहुँच जाता है। फिर आकर्षक कहानी है – यह बालक बड़ा होकर धीरे-धीरे लड़का बन जाता है, और जब भी कुछ खास होता है, इस लड़के को लगता है कि वह पहले भी हो चुका है, हर बार। उसे पता नहीं, परन्तु उसे ऐसा अनुभव होता है, उसे लगता है जैसे यह पहले हो चुका है। वह अपनी माँ से झगड़ा करता है और अनुभव करता है कि वह पहले झगड़ चुका है। वह अपने बाप के ऊपर कुछ फेंकता है तो उसे लगता है वह यह पहले भी कर चुका है। फिर वह २१ वर्ष की आयु का होता है तो वह वही है, ठीक वही जीवन। वह अपने जीवन को नहीं बदल सका, उसका एक कण भी नहीं बदल सका। जैसा मैंने कहा यह गाड़ी को अन्दर से धक्का लगाना है। आस्पन्स्की इस उदाहरण द्वारा दिखाता है कि बिना गुरु के परिवर्तन असम्भव है।

इसी कारण हम में से सबसे अच्छे इरादों वाले लोग भी, जो यह जानते हैं कि वे क्या कर रहे हैं, ऐसा क्यों करना चाहिये या नहीं करना चाहिये, आप देखिये कि परिस्थितियाँ उन्हें बार-बार उसी दिशा में ले जा रही हैं, आप उन्हें बदलने में असमर्थ हैं। सबसे नेक इरादों वाला व्यक्ति भी, यह जानते हुए कि क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये, उससे बचने में असमर्थ है, जैसे एक जुआरी, जुआ खेलता जाता है। ऐसा नहीं कि उसे पता नहीं कि वह हारेगा। एक शराबी पीता जाता है। ऐसा नहीं कि वह उसके परिणाम से अनजान है। उनके पास कोई विकल्प नहीं।

इस प्रकार फलित ज्योतिष हमारे जीवन को निश्चित कर देता है और वह जन्म से मृत्यु तक सही होना चाहिये। इसमें तीन चीज़ों का होना आवश्यक है, सही जन्मपत्री, योग्य ज्योतिषी और एक व्यक्ति जो

अपने आप को बदलने को तैयार नहीं। फिर ज्योतिष कारगर होगा और होता है।

अगर आप अपने को बदलने का खुद ही प्रयास भी कर रहे हैं, चाहे वह शिक्षा द्वारा हो या संस्कृति द्वारा या चिकित्सा द्वारा, तो कुछ भी काम नहीं करेगा। इसी अत्यन्त महत्वपूर्ण तथ्य के कारण कि आप अपने जीवन को स्वयं नहीं बदल सकते। अब क्या होता है कि हम एक गुरु के पास आते हैं। अब हम स्वयं को बदलने का कोई प्रयास नहीं कर रहे। वह हमें बदल रहा है। वह गुरु है। अब यहाँ हमारे ऊपर फलित-ज्योतिष कैसे काम करेगा। अब यहाँ गुरुदेव तथा फलित-ज्योतिष के साथ मेरी पहली समस्या खड़ी हुई। क्योंकि कई चीज़ों ने काम किया, अधिकतर ने ज्योतिष के अनुसार काम किया।

तो मैंने अपने गुरुदेव से पूछा''यह कैसे सम्भव है? जब मैं आपके साथ हूँ फिर फलित-ज्योतिष कैसे कारगर हो सकता है?'' उन्होंने कहा, ''इसलिये कि मैं उसे काम करने देता हूँ। मैं प्रकृति में हस्तक्षेप नहीं करता जब तक आवश्यक न हो।'' फिर मैंने उनसे पूछा, ''यह कब आवश्यक होता है कि आप प्रकृति में हस्तक्षेप करें ?'' उन्होंने कहा,''केवल तभी जब आपका भाग्य आपके आध्यात्मिक भविष्य में बाधक हो।'' अब यही इस बात का स्पष्टीकरण है कि लोग बाबू जी के पास आते हैं और वे जो हैं वही बने रहते हैं हालाँकि वे अपने आध्यात्मिक जीवन में उन्नति कर रहे हैं। जिसे बदलने की आवश्यकता नहीं उसमें वह हस्तक्षेप नहीं करते। इसलिये जब हम गरीबी की अवस्था में आते हैं और सहज मार्ग पद्धति में आकर अमीर बनने का प्रयास करते हैं तो वह काम नहीं करता, जब तक की आपकी जन्मपत्री में यह नहीं है कि आप अमीर बनेंगे। इसी प्रकार, हम आध्यात्मिक रूप से बहुत ऊँचे उठ सकते हैं, पर सहज मार्ग में आने के बावजूद अचानक भिखारी हो जा सकते हैं। फिर हम बाबू जी के पास जाते हैं, और कहते हैं, ''बाबू जी मैं आपके पास आया, परन्तु जो कुछ थोड़ा बहुत मेरे पास था वह भी लुट गया है।'' वह बहुत करुणामय हैं। कहते हैं, ''मैं आपके लिये प्रार्थना करूँगा।'' वहाँ भी वह हस्तक्षेप तब तक नहीं करते हैं जब तक कि उस गरीबी के कारण आध्यात्मिकता से मेरे भाग खड़े होने का खतरा न हो। ऐसे में वे शायद मेरा विश्वास पुनः जगाने के लिये थोड़ा बहुत करें, अन्यथा नहीं।

तो इसी वजह से अभ्यासियों को इतनी समस्यायें होती है। एक रोगी आता है और वह रोगी ही रहता है, एक गरीब आता है वह गरीब ही रहता है, एक अमीर आता है और वह गरीब हो जाता है।

हमारे मन में एक विचित्र धारणा रहती है कि गुरु के पास आते ही उसी दिशा में पूर्ण परिवर्तन हो जायेगा जिसमें हम चाहते हैं। एक व्यक्ति जो कोई भी परीक्षा पास नहीं कर सकता, पी०एच०डी० और विज्ञान का डाक्टर बनना चाहता है। बाबू जी कहते हैं, ''आध्यात्मिक व्यक्ति बनने के लिए तुम्हें पी०एच०डी० की क्या आवश्यकता है?'' हालाँकि गुरुदेव आपके ऊपर और आपके लिये कुछ भी कर सकते हैं, वह केवल कुछ ही चीज़ों को बदलते हैं ताकि हमारी आध्यात्मिक प्रगति तीव्र हो, सम्भव हो, और प्राप्त हो सके। इसी कारण यह विचित्र बात कि हम गुरुदेव के पूर्ण नियन्त्रण में हैं, उनके निर्देशन में हैं, परन्तु फिर भी फलित-ज्योतिष हमारे ऊपर काम करती है।

तीसरी बात जो मुझे समझने में अत्यन्त पीड़ादायक लगी थी वह यह थी कि मेरे गुरुदेव पर भी फलित-ज्योतिष काम करती थी। यह मेरी समझ से बाहर था। आखिरकार वह मालिक थे, इसका अर्थ था, कम से कम जो हम समझते हैं, कि वह खुद अपने भाग्य के मालिक थे। और जब वे बीमार हुए और ज्योतिषी यह भविष्यवाणी कर सके, कि कब उनका आपरेशन होगा, यहाँ तक कि वह कब संसार से विदा होंगे तो मैं स्तब्ध रह गया।

साधारणतः इससे मेरा विश्वास आध्यात्मिकता में और गुरुदेव में, हिल जाना चाहिये था। सौभाग्यवश उन्होंने पहले से ही मुझे यह सब समझा दिया था। आप में से कुछ को ज्ञात होगा कि उनके एक पुत्र ने उनके ही घर में आत्महत्या की थी। मैंने बाबू जी से पूछा कि वह उसे रोक क्यों नहीं सके। उन्होंने मुझे दो चीज़ें बताई : रोज ही उनके मन में विचार आता था कि वह बन्दूक को उठाकर ऐसी जगह रख दें कि किसी को मिल न सके। पर जैसे ही यह विचार आता था, वह उसे भूल जाते, मैंने पूछा, ''यह कैसे सम्भव है कि आप कुछ चाहें और वह न हो?'' वह बोले, ''यह प्रकृति की माँग थी।'' मैंने पूछा, ''क्या आप उसे रोक नहीं सकते थे?'' वह बोले, ''प्रकृति के विरुद्ध नहीं। जब तक आवश्यक न हो मैं प्रकृति में हस्तक्षेप नहीं करता।'' मैं बोला, ''आपका अपना पुत्र? और आप ने हस्तक्षेप नहीं किया?'' वह बोले, ''अगर मैं केवल अपने पुत्र के लिये हस्तक्षेप करूँ तो जो दूसरे पुत्र कहीं और आत्महत्या करने वाले हों उनके बारे में क्या होगा?'' एक गुरु अपने पुत्र और दूसरों के पुत्रों में फर्क नहीं करता। फिर मैंने उनसे पूछा, ''क्या आप भी प्रकृति के नियमों के अधीन हैं?'' सदा की भाँति उन्होंने उत्तर देने में थोड़ी आनाकानी की, परन्तु मैं पीछे पड़ा रहा, और इसलिये उन्होंने मुझे बताया, ''मैं भी प्रकृति को कार्य

करने की अनुमति देता हूँ।'' तब उन्होंने उसमें एक और वाक्य जोड़ दिया, जो मैं सोचता हूँ कि सबको महसूस करना चाहिये, ''जो नियम बनाता है उसे उसका प्रथम पालक होना चाहिये।''

वह भी प्रकृति को अपने ऊपर कार्य करने देते हैं, यह सहज मार्ग का सबसे सुन्दर पहलू है क्योंकि सहज मार्ग को एक प्राकृतिक या सहज रास्ता कहा गया है। यहाँ सब कुछ प्राकृतिक रूप से होता है, यहाँ तक कि पूर्व निर्धारित फल गुरुदेव के ऊपर भी लागू होते हैं, पर यह मत भूलियेगा कि केवल उनके भौतिक जीवन पर। जैसे हम अपना शरीर नहीं बदल सकते, दुनिया में कोई भी चीज़ आपके आकार-प्रकार को नहीं बदल सकती। क्या आप अपनी लम्बाई, अपनी नाक, जबड़ा या हड्डियों को बदल सकते हैं? यह सम्भव नहीं तो फलित-ज्योतिष का असर, या जिसे हम फलित-ज्योतिष कहते हैं, जो हम संसार में एक पूँजी के रूप में लाते हैं (फलित-ज्योतिष का असर वास्तव में उस पूँजी का असर है जो हम इस संसार में लाते हैं) निश्चित है, जब तक कि उसे बदलने के लिये हम किसी बाह्य शक्ति को नहीं लाते, यह पहली बात है। दूसरी बात यह है कि हम अपने आप में खुद कुछ भी नहीं बदल सकते। तीसरा यह कि अगर गुरुदेव की भाँति कोई बाह्यशक्ति हमारे जीवन में आ जाये तो वह जो चाहे बदल सकता है। चौथी बात है कि अगर वह कुछ चीज़ों को होने देते हैं तो वह हमारे ही भले के लिये है। वह केवल वही बदलते हैं जिसे हमारी आध्यात्मिक उन्नति के लिये बदलना आवश्यक है। उनकी दयालुता व कृपा केवल हमारे आध्यात्मिक जीवन के लिये है।

इस कारण यह मुग्ध कर देने वाला तथ्य देखने को मिलता है कि यद्यपि गुरुदेव इस संसार में सब कुछ बदल सकते थे, पर जब हम अपनी कोई समस्या, गम्भीर समस्या लेकर जाते थे, जैसे कोई कैन्सर से पीड़ित है या कोई मर रहा है, तो उनका उत्तर होता था, ''मैं प्रार्थना करूँगा।'' क्योंकि वह अपनी शक्ति का प्रयोग कर के उसे नहीं बदलना चाहते थे, पर केवल अपने गुरुदेव से विनती करते थे कि ''अगर आप सहमत हों तो मेरी खातिर इसे बदल दीजिये।'' क्योंकि उनके लिये उनके गुरुदेव प्रकृति थे। वह इस काम को बिना प्रकृति के नियमों को बदले अपने गुरुदेव से विनती द्वारा करना चाहते थे। अगर गुरुदेव की सहमति होती है तो व्यक्ति स्वस्थ हो जाता है। यह मेरे लिये बड़ा महत्वपूर्ण उत्तर था क्योंकि आरम्भ में मैं हैरान होता था कि गुरुदेव को प्रार्थना करने की क्या आवश्यकता? क्या वह इसे स्वयं नहीं कर सकते थे? निश्चय ही, वह उनकी नम्रता थी। दूसरा इस

तथ्य की स्वीकृति भी थी कि नियम बनाने वाले को नियम का पालन करना चाहिये। आप में से जो भी उनके पारिवारिक जीवन को जानते हैं उन्हें पता है कि उन्होंने अपने जीवन में रत्ती भर भी परिवर्तन नहीं किया। वे सदैव निर्धन थे, उनके बच्चे सदा से वैसे ही थे और वह अपने गुरुदेव से कभी भी प्रार्थना कर सकते थे। हमारे लिये यह सबसे बड़ा सन्देश है। विपत्ति आने पर अपने गुरु से प्रार्थना करो, ज्योतिषी के पास मत जाओ। (हास्य)

अब फलित ज्योतिष समाप्त हुई। दूसरी चीज़ है नये अभ्यासियों के विषय में यह सब बातचीत। यह नये अभ्यासियों की बात से मुझे थोड़ी निराशा होती है। वे नये कैसे हैं? किस तरीके से नये हैं? (हास्य) अगर मेरे परिवार में कोई बालक पैदा होता है, तो वह मेरे परिवार का हिस्सा है। हम यह कह कर शोर तो नहीं मचाते "मेरे परिवार में बढ़ोत्तरी हुई है, घर में यह नया बालक है।" उसके लिये हम प्रतीक्षा करते रहे, प्रेम, आशा व चिन्ता के साथ प्रतीक्षा। और जब बालक पैदा होता है और माँ तथा बालक दोनों सुरक्षित होते हैं तो हम खुशी मनाते हैं। हम में से कई तो प्रभु का धन्यवाद भी करते हैं कि सब ठीक है। नये अभ्यासियों के प्रति हमारा भी यही रवैया होना चाहिये।

भविष्य में इस बात का ध्यान रखियेगा। मेरे लिये कोई नया अभ्यासी नहीं है। या तो हम सभी पुराने अभ्यासी हैं या सभी नये हैं, कोई अंतर नहीं है। यह रेल में सफर करने की तरह है जहाँ हर स्टेशन पर लोग चढ़ते हैं। हम गाना या नाचना आरम्भ नहीं करते और कहते, "नये यात्री आ गये।" (हास्य) तो यहाँ क्यों करें। एक तरीके से यह हमारे और उनके बीच दूरी पैदा करता है। आप उन्हें ऐसा अनुभव कराते हैं। और अधिक परेशानी की बात, हमारे अन्दर अहं पैदा होता है कि हम सहज मार्ग में पुराने हैं, जैसे कि हम अधिक जानते हैं। हम यहाँ अधिक समय से हैं, इसका अर्थ यह नहीं कि हम दूसरों से अधिक जानते हैं । नहीं तो मछली को पानी के बारे में सब पता होना चाहिये, परन्तु मछली से अधिक पानी के बारे में मनुष्य को पता है क्योंकि हम बाहर से उसका अध्ययन कर रहे हैं और वह अन्दर रह रही है। अतः इस विचार को भूल जाइये।

मेरे विचार में यह ईवा ने कहा था कि बाबू जी के जाने के बाद जैसे एक दरवाज़ा बन्द हो गया है। मुझे स्मरण है २० वर्ष पूर्व किसी ने बाबू जी को लिखा था कि वह मिशन छोड़ना चाहता है। किन्हीं कारणों से वह सोचता था कि गुरुदेव से बेहतर और भी गुरु

हैं। पत्र में लिखा था, "मैं मिशन छोड़ रहा हूँ, मैं आशा करता हूँ कि अगर मैं पुनः आना चाहूँ तो आपके द्वार खुले मिलेंगे।" अब इसका जो उत्तर बाबू जी ने दिया था वह महान था। उन्होंने लिखा, "मेरे घर में कोई दरवाजे नहीं हैं।" वह एक द्वार रहित महल है, हमेशा खुला हुआ है। अन्दर आना या बाहर जाना हम पर निर्भर करता है कोई रोकने वाला नहीं। अब ईवा के दिमाग में यह विचार कहाँ से आया? क्योंकि जहाँ कोई दरवाजा नहीं है, वहाँ उसने अपने दिल में एक दरवाजे का निर्माण कर दिया। कभी-कभी गाड़ी में बैठने पर मक्खियों को खिड़की के शीशे के साथ टकराता देखता हूँ तो मैं बड़ा परेशान हो जाता हूँ। वह न अन्दर आ सकती हैं न बाहर जा सकती हैं। वह दूसरी ओर देख सकती हैं परन्तु जो रुकावट है उसे पार नहीं कर सकतीं। शीशे से टकराकर वे अपना सिर तोड़ लेती हैं। अगर आप उन्हें धीरे से दूसरी ओर मोड़ना चाहें तो वे फिर भी उसी दिशा में जायेंगी। उन्हें केवल अपना मुँह उल्टी दिशा में घुमा कर उड़ना है और वह स्वतन्त्र हैं।

हम भी उसी भाँति हैं। हम उन रुकावटों के साथ अपना सिर टकराते हैं जिनका निर्माण हमने स्वयं किया है। हम कहते हैं, "यह व्यक्ति अनन्त का द्वार है।" और जब वह शारीरिक रूप से हमारे मध्य नहीं होता तो हम सोचते हैं कि द्वार बन्द हो गया। यह न केवल अन्धविश्वास है, मेरी बात का बुरा न मानें, मुझे आशा है कि ईवा को कोई आपत्ति नहीं होगी, यह मूर्खतापूर्ण प्रेम है। और आगे कहूँ तो शायद भद्दा कथन होगा जो मैं कहना नहीं चाहता, वास्तव में यह गुरुदेव की शिक्षा को गलत समझना है और इससे गलतफहमियाँ पैदा होती हैं। क्योंकि गुरुदेव ने बार-बार कहा है कि सहज मार्ग हज़ारों वर्षों तक जीवित रहेगा। और उन्होंने विशेष रूप से लिखा है, "मेरे बाद अवश्य ही कोई होगा जो तुम्हें वही पहुँच प्रदान कर पायेगा जो मैं देने में सक्षम हूँ।" अतः या तो लोगों की समझ में नहीं आया कि बाबू जी ने क्या लिखा है, या उन्होंने मूर्खतापूर्ण प्रेम के कारण सत्य की ओर से जानबूझ कर आँखें मूँद ली हैं और परिणामस्वरूप अपना द्वार स्वयं बन्द कर लिया है। अब दुर्भाग्य की बात यह है कि अगर मैं उन्हें कुछ बताना भी चाहूँ तो उसे स्वीकार नहीं करेंगे। वह कहेंगे, "बेशक, आप और क्या कहेंगे? आप इसके अलावा क्या कह सकते हैं कि आप उनके उत्तराधिकारी हैं और आप ही द्वार हैं।" तो मुझे अपना मुँह बन्द रख कर उनके लिये प्रार्थना करनी पड़ती है जो कि

प्रभावकारी लगती है क्योंकि इस भाँति एक दो लोगों का परिवर्तन हुआ है।

अब हमारी कठिनाई क्या है? हम स्वयं अपनी कठिनाई हैं। हमें गुरुदेव में उस स्तर तक विश्वास होना चाहिये जिस स्तर तक वे चाहते हैं। अगर मेरे पिता अपने पीछे बड़ा ऋण छोड़ गये हैं तो ऋणदाता मेरे पास आकर उन ऋणों को देने की, उन का दायित्व पूरा करने को कह सकते हैं। एक वैद्य पुत्र को बहुत स्वतन्त्रता है, वह अपने पिता की धन-सम्पत्ति का आनन्द उठाता है। परन्तु अगर ऋण है तो उसका दायित्व भी उसी के ऊपर होता है। ऋणदाता यह नहीं कहते कि "मैं केवल पिता को जानता हूँ, पुत्र को नहीं।" वह पुत्र को पकड़ कर कहता है, "चलो मेरे पैसे दो।" आध्यात्मिक नियम इससे भिन्न नहीं हैं। अगर मेरे गुरुदेव ने कुछ वादे किये थे तो मुझे उनको पूरा करना है। परन्तु मेरा दायित्व तब आरम्भ होता है जब आप मुझे उन का पुत्र स्वीकार करते हैं, अन्यथा नहीं। मेरे लिये तो यह सौभाग्य की बात है। क्योंकि जितना लोग मुझ से कम फरमाइश करेंगे उतना कम मेरा दायित्व होगा। एक ओर तो अगर लोग मुझे स्वीकार न करें तो मैं प्रसन्न हूँ, क्योंकि मेरा उत्तरदायित्व, मेरा काम कम हो जाता है। दूसरी ओर, मैं इसके लिये प्रार्थना भी नहीं कर सकता क्योंकि यह मेरे गुरुदेव की इच्छा के विरुद्ध होगा, इसलिये मैं चुप रहता हूँ।

इसलिये यह दरवाजा वहीं है जहाँ मैं चाहता हूँ, और अगर मैं कहता हूँ कि यह बन्द है तो यह बन्द है। अक्सर हम होटलों में दरवाज़े देखते हैं और सोचते हैं कि यह अन्दर की ओर खुलेगा और हम उसे धकेलते जाते हैं। जबकि आप उसे ज़रा अपनी ओर खींचें तो देखेंगे कि वह खुल गया। व्यक्ति जितना ही मूर्ख होगा उतनी ही ज़ोर से वह गलत दिशा में धक्का देता है। समझदार आदमी अपनी ओर खींचता है, और वह कहता है, "आहा, यह उस ओर नहीं, इस ओर खुलता है।" बाबूजी के प्रति हमारा विश्वास, उनके लिये हमारा कथित प्रेम, हमारी आज्ञाकारिता में झलकना चाहिये। अगर वह कहते हैं "यह मेरा आध्यात्मिक पुत्र है, मेरा प्रतिनिधि है, यह तुम्हें राह दिखलायेगा।" अगर हम उसका अनुसरण नहीं करते तो बाबू जी के प्रति हमारा कथित प्रेम, कथित विश्वास सब झूठा है। अब, मैं यह सब कहना नापसन्द करता हूँ क्योंकि ऐसा लगेगा कि मैं अपने बारे में प्रचार कर रहा हूँ। परन्तु सच्चाई छिपायी नहीं जा सकती, और कितने दुःख की बात है कि यह कितने कम लोग समझ पाये हैं।

आज प्रातः मैं किसी मित्र से बात कर रहा था। मैं उससे कह रहा था कि मैं संसार का सबसे सौभाग्यशाली व्यक्ति हूँ क्योंकि मैं ही वह एकमात्र व्यक्ति हूँ जिसके लिये यह समस्या कभी नहीं उठी। न ही दो द्वार या तीन द्वार के विषय में सोचना पड़ा और न ही मुझे एक गुरु या दो गुरुओं के विषय में सोचना पड़ा। परन्तु वह आपके लिये भी समस्या नहीं है। किसी ने आपको उत्तराधिकारी को 'मास्टर' मानने के लिये नहीं कहा। परन्तु वह एक पुत्र है जिसे अपने पिता के कर्तव्यों का पालन करना है। उसे केवल वही मान लीजिये, है न? फिर समस्या क्या है? परन्तु उन्हें या तो यह चाहिये या वह चाहिये, बीच का कुछ नहीं। मैंने लोगों से कहा है, बहुत उन्नत लोगों से जो पहले मेरे पास, मेरे प्रशिक्षक होने के नाते पूजा (सिटिंग) के लिये आते थे, "मेरे पास अब भी प्रशिक्षक के रूप में सिटिंग के लिये आओ, मैं अब भी प्रशिक्षक हूँ, वह तो नहीं बदला,फिर आप क्यों नहीं आते?"

पर यह एक विचित्र विचार है कि इसे या तो यह या वो होना चाहिये। जैसे अक्सर जब हम मित्र होते हैं तो हम जन्म भर के लिये मित्र रह सकते हैं। परन्तु अगर आप एक मित्र से शादी करते हैं और फिर उसे तलाक दे देते हैं तो आप दुश्मन बन जाते हैं। आवश्यक नहीं है कि ऐसा हो। पिता व पुत्र को मित्र होना चाहिये, भाई-भाई को मित्र होना चाहिये। परन्तु हम मित्र हो सकते हैं पर भाई नहीं, हम मित्र हो सकते हैं पर बहनें नहीं, हम मित्र हो सकते हैं पर पति और पत्नी नहीं। संसार में आज यह एक विचित्र परिस्थिति है गुरु और शिष्य के बीच भी मित्रता का सम्बन्ध हो सकता है। मित्रता का अर्थ है पूर्ण विश्वास और बिना किसी सन्देह के प्रेम, बिना झिझक के एक दूसरे से गोपनीय बात करने की क्षमता व बिना संकोच सहायता माँगने की क्षमता। एक सच्चे मित्र से हम कुछ भी माँग सकते हैं। एक पिता अपने पुत्र से मोटर गाड़ी नहीं माँग सकता, साधारणतः यह सम्भव नहीं है। परन्तु एक मित्र को आप फोन कर के कह सकते हैं "मुझे तुम्हारी कार चाहिये, दो दिन के लिये भेज दो?" वह भेज देगा।

अब हमारे अनेक सम्बन्ध होते हैं, परन्तु उन सब में मित्रता की कमी होती है। और मैंने पहले भी अनेक बार यह कहा है कि सूफी परम्परा में गुरु को मित्र कहते हैं। जब गुरुदेव मुलाकात के लिये आ रहे होते हैं तो वह यह नहीं कहते कि "गुरुदेव आ रहे हैं" वरन् कहते हैं "मित्र आ रहा है"। एक बार मैंने बाबूजी से पूछा था कि ऐसा क्यों है? वह बोले, "केवल एक मित्र ही आप के लिये अपने जीवन का बलिदान कर सकता है और जो आपके लिये अपना जीवन

दे सकता है वही मित्र कहलाने योग्य है। पति विरले ही अपनी पत्नी के लिये अपनी जान देंगे। यूरोप में भी अगर किसी होटल में आग लग जाये तो मुझे विश्वास है कि पुरुष सब से पहले बाहर भागेंगे। जर्मनी में भी, मुझे पक्का विश्वास है कि, पुरुष रुक कर स्त्रियों के लिये 'पहले आप' नहीं कहेंगे, परन्तु एक मित्र आपके लिये जान दे देगा।

तो चलिये हम मित्र बनने का प्रयत्न करें। यह भाईचारे की सब बातचीत भूल जाइये। यह शर्म की बात है कि जिस भाईचारे की हम बात करते हैं वह वास्तव में कहीं नहीं है। मुझे कहने के लिये क्षमा करें, पर हमारा यह भाईचारा झूठ है। क्यों? क्योंकि हम यह पहले से ही मान लेते हैं कि हम भाई बहन हैं और उस भाईचारे को बनाने का प्रयत्न नहीं करते। कृपया आज से इस सच्चाई को जान लीजिये, और इसी भाईचारे को बनाने का सचमुच प्रयत्न कीजिये। सर्वप्रथम अपने सम्बन्धों में मित्रता लाकर। रिपोल को मुझ पर विश्वास होना चाहिये और मुझे रिपोल पर। जब तक आप किसी व्यक्ति पर विश्वास नहीं करते आप अपनी समस्या उसको कैसे बता सकते हैं।

अब आपके चर्च में यह अपराध स्वीकरण होता है। यह असफल रहा क्योंकि पादरी व स्वीकार करने वाले व्यक्ति के बीच में विश्वास नहीं था, और वह विकृत होता हुआ एक कर्मकाण्ड बन कर रह गया। एक व्यक्ति इधर बैठा है, दूसरा परदे के पीछे बैठा है। और यह व्यक्ति कहता है, "मैंने यह, यह और यह किया।" और पादरी कहता है कि "पिता, पुत्र व पवित्र आत्मा के नाम पर मैं तुम्हें तुम्हारे पाप से मुक्त करता हूँ।" अब मेरे विचार के अनुसार चर्च ने यह बहुत गलत काम किया था। क्योंकि सहज मार्ग में जहाँ गुरुदेव हमें कुछ संस्कारों का भोग कराते हुये ले जाते हैं उस में दो लाभ हैं। एक तो जब हम संस्कार भोगते हैं तो हम अधिक बलवान हो जाते हैं। दूसरा जिन चीज़ों ने संस्कार का निर्माण किया था, हम उन्हें दोहराते नहीं।

संस्कारों को कार्य करने देने से गुरुदेव हमें दो भारी वरदान देते हैं, हमें शक्ति देते हैं और हमारे चरित्र का निर्माण करते हैं। परन्तु अगर हर बार जब पापी आकर कहे "ओ पिता मैंने पाप किया है," और आप कहें "पिता, पुत्र व पवित्र आत्मा के नाम पर मैं तुम्हें पाप मुक्त करता हूँ।" तो आगे पाप न करने की कोई प्रेरणा नहीं रहेगी। और वह प्रसन्न होकर चला जायेगा। हर शुक्रवार वह अपराध स्वीकरण के लिये आता है और अगले सप्ताह वह फिर अपनी पुस्तिका भरने लगता है कि इस शुक्रवार क्या स्वीकार करना है। चरित्र में कोई बदलाव नहीं होता। इसी कारण बाबूजी जी ने कहा था कि "असली

पश्चाताप का अर्थ है, यह फैसला करना कि मैं इसे दोबारा नहीं करूँगा।'' पश्चाताप शब्दों द्वारा नहीं वरन् कर्मों द्वारा होना चाहिये।

यह गुरुदेव की दूसरी महान शिक्षा है। इन सब विचित्र विचारों को भूल जाओ, अपराध के विचार को पाप के विचार को भूल जाओ। सहज मार्ग में यह सब कुछ नहीं होता। गुरुदेव को सब पता है, फिर हमें गुरुदेव को यह सब बताने की क्या आवश्यकता है? यह प्रश्न सब अभ्यासियों के सम्मुख आता है। जब उन्हें सब पता है तो मैं उन्हें जाकर क्यों बताऊँ? अब यह नकारा नहीं जा सकता कि उन्हें सब मालूम हो सकता है। यह कहना कि वे सब जानते हैं एक प्रकार से ठीक नहीं होगा। यह सत्य है पर सहीं नहीं, क्योंकि वे बिचारे सब कुछ नहीं जानना चाहते। जानने को है क्या? इतनी बुराइयाँ, इतनी भ्रष्टता, इतना पाप, इतने दोष और इतनी कम सुन्दरता। वे यह सब क्यों जानना चाहेंगे? पर बेशक वे ज़रा सा आँख खोलें तो सब कुछ देख सकते हैं, जान सकते हैं। पर हम उन्हें क्यों जाकर बतायें? इसका अर्थ है कि हम अपने संकोच से, उस व्यक्ति पर अपने अविश्वास से ऊपर उठ रहे हैं और हम उनके पास प्रेम और श्रद्धा से जाने में सक्षम हैं। और सबसे महत्वपूर्ण, यह हमारे अहं को हटाता है, अंग्रेजी भावार्थ में, फ्रांसीसी में नहीं। यह हमारी अहंमन्यता ही है जो हमें अपनी गुप्त बातों को छिपाये रखने को बाध्य करती है।
अतः,जब हम गुरुदेव के पास प्रेम व श्रद्धा से जाते हैं तो अहंमन्यता चली जाती है, और यही वह द्वार है जो हम सदैव बन्द रखते हैं। सो कल वह ईवा की बहुत मूल्यवान वार्ता थी। उसने बहुत संक्षेप में और बहुत सुन्दर ढंग से कहा था। मैं इसी विषय पर अनावश्यक रूप से अधिक बोल गया।

तीसरी चीज़ जिसके विषय में मैं बात करना चाहता हूँ कि बहुत से अभ्यासी यह बताने में समय बरबाद करते हैं कि वह सहज मार्ग में कैसे आये। यह वास्तव में समय की बरबादी है। हम सब यहाँ बोनास्ख्र में हैं, और अलग-अलग स्थानों से आये हैं। यह जानना कि हम यहाँ कैसे आये रोचक नहीं है। कोई पूर्व से आया, कोई पश्चिम से, कोई उत्तर से, कोई दक्षिण से, इससे क्या फर्क पड़ता है? महत्वपूर्ण बात यह है कि हम यहाँ हैं। उससे भी महत्वपूर्ण बात है कि यहाँ आने के बाद हम इस अवसर से क्या लाभ उठा रहे हैं? क्या हम जैसे आये थे उससे बेहतर होकर जायेंगे? हमें इसकी चिन्ता होनी चाहिये। दूसरी तरह देखें तो जब हम इसके बारे में बात करते हैं कि हम कैसे आये तो हम भूतकाल के विषय में सोच रहे हैं, जब कि हमें

भविष्य की सोचना चाहिये। भूतकाल के बारे में विचारमग्न होने से हम उसके प्रभाव को और शक्तिशाली बनाते हैं। अतः भविष्य में जब अभ्यासी बोलें तो ध्यान में अपने अनुभव व ध्यान में अपनी समस्याओं के विषय में बोलें न कि वह ध्यान-मार्ग में कैसे आये। आज मुझे इतना ही कहना है। कुछ टिप्पणियाँ जो मैंने कीं और मुझे नहीं करनी चाहिये थीं, उनके लिये मुझे क्षमा करें, परन्तु ईवा ने मुझे उकसाया। (हास्य) उसके लिये मैं ईवा का आभारी हूँ। इसने मुझे उस विषय में बोलने का अवसर दिया।

धन्यवाद।

स्मरण में कार्य करो

३ सितम्बर १६८८ सायंकाल

आज दोपहर मुझे एक सभा में भाग लेने का अवसर मिला, वहाँ मैंने देखा कि जिस कार्य की हमेशा अपेक्षा की जाती है और जीवन के आध्यात्मिक स्तर के बीच कुछ संभ्रांति थी। मैंने इस प्रवृत्ति के विषय में कहा था, जो विशेष रूप से भारत में है कि सब कुछ गुरु पर या ईश्वर पर या जिसको भी मानते हों, उस पर छोड़ कर किसी चीज़ के लिये कुछ भी नहीं करना। यह चरम प्रवृत्ति हमें केवल भाग्यवादी विचारधारा की ओर ले जाती है। इसके बिल्कुल विपरीत पाश्चात्य लोगों का रवैया है कि सब कुछ हमें स्वयं करना है, ईश्वर का तो अस्तित्व ही नहीं है और यदि है तो उसका हमसे कोई वास्ता नहीं है। दोनों ही चरम प्रवृत्तियाँ हैं। पूर्वी मनोवृत्ति ने भाग्यवाद को जन्म दिया है और पश्चिमी ने एक आत्मकेन्द्रित भौतिकवाद को। दोनों ही मानव पतन का कारण बनी हैं और उससे वास्तविक जीवन स्तर में गिरावट आई है।

यह संभ्रांति अभी भी बनी हुई है, क्योंकि आज की इस तीसरे पहर की सभा में जिसका सम्बन्ध मिशन की भौतिक समस्याओं से था, वहाँ भी यही प्रवृत्ति थी कि हमें सब कुछ गुरु पर छोड़ देना चाहिये और सब समाधान किसी तरह अपने आप हो जायेगा। जिस क्षण हम यह कहते हैं कि "किसी तरह यह समस्या हल हो जायेगी" यह एक पराजयवादी प्रवृत्ति है।

मुझे चिन्ता है कि पश्चिम में भी यह प्रवृत्ति प्रवेश कर रही है। शायद यह एक सीमा से दूसरी सीमा की ओर की पेंग है। मेरे गुरुदेव ने बड़े स्पष्ट रूप से यह समझाया है कि हमें अपना कर्त्तव्य करना है और जितनी अच्छी तरह हम कर सकते हैं करना है। अगर इसके लिये जीवन देना भी आवश्यक हो तो दें और केवल परिणाम उनके हाथों में छोड़ दें। परन्तु हम काम भी उन्हीं पर छोड़ देना चाहते हैं। और यही उलझन की शुरुआत होती है – कि हम समर्पण को गलत समझ बैठते हैं कि सब कुछ 'उन' पर छोड़ कर परिणाम की प्रतीक्षा करते हैं। यह तो ऐसा होगा कि आप की पत्नी रसोई में खड़ी हो जाये और कहे "बाबूजी खाना हाज़िर कर देंगे" तो हमें सहज मार्ग

को ठीक-ठीक और अच्छी तरह समझना चाहिये। मैं मानता हूँ कि यह कठिन है क्योंकि एक ओर तो हमसे कहा जाता है कि गुरु को प्यार करो, उनके प्रति समर्पण करो और वह डेल्फी की पुरानी उक्ति "अपने आप को जानो" की जगह कहते हैं "अपने आप को भूल कर 'उसे' याद रखो।"

सो उलझन यह है कि एक ओर मेरे गुरुदेव कहते हैं कि मुझे प्यार करो, अपने आप को भूल जाओ, सब कुछ मुझे दे दो, दूसरी ओर वह कहते हैं अपना कर्त्तव्य करो। इस संसार में कार्य करो। सो हमें क्या करना है? अब यह नव मानस की एक और विचित्रता है "यह या वह"। या तो मैं यह करूँ या वह करूँ। मेरे गुरुदेव के निर्देश एकदम स्पष्ट हैं, हमें दोनों करना है। हमें इस संसार में पूरी तरह से, पूरे उत्साह से कार्य करना है। अपनी क्षमता की एक-एक बूँद मेहनत और योग्यता लगा कर।

सो आप देखते हैं कि यह हमारा मन हमें चकमा देता है। यह उन बच्चों की भाँति है जो या तो खेलना चाहते हैं या काम करना चाहते हैं, परन्तु कभी-कभी हमें ऐसे काम करना होता है जैसे हम खेल रहे हों और ऐसे खेलना होता है जैसे काम कर रहे हों। वास्तव में पूर्व में यह विचित्र विचार है कि कार्य को ऐसे करो जैसे हम खेल रहे हों, और खेल को उसी गंभीरता से लो जैसे कोई कार्य हो। एक पुरानी उक्ति भी है, आयुर्वेद में खाने के विषय में, जो कहती है "तरल पदार्थ खाओ और ठोस पदार्थ पिओ।"

इस प्रकार के विरोधात्मक घुमाव हमें अधिकांश चीज़ों में मिलते हैं। समस्या हमारी तर्कात्मक बुद्धि है, हमारा बुद्धिसंगत व्याख्या के साथ चिपके रहना है, कि क -- क ही है, ख -- ख ही है और ग को ग ही होना चाहिये। इसलिये जब हम आध्यात्मिक क्षेत्र में आते हैं तो हम ज़रा कठिन परिस्थितियों में होते हैं क्योंकि सब कुछ उलटा-पुलटा लगता है, हर जगह उलटफेर का सिद्धान्त काम करता दिखाई देता है। परन्तु यदि हम थोड़ा सा मस्तिष्क की जगह हृदय से सोचें तो उसमें कुछ भी मुशकिल नहीं।

जब मैं १९६४ में पहले गुरुदेव के पास आया तो मुझे भी यही समस्या रहा करती थी। मेरी शिक्षा, मेरा समाज जिसमें मैं बड़ा हुआ दुर्भाग्यवश वह अंग्रेजी के प्रभाव में रंग चुका था। कुछ हद तक भारतीय अंग्रेजों द्वारा भ्रष्ट हो चुके थे इस अर्थ में कि मानसिक क्रियाओं ने पश्चिमी रंगत ले ली, यह अवश्यम्भावी था। हालाँकि हम वेदों, गीता व उपनिषद में डूबे हुए थे फिर भी यह समस्या तो थी ही। ये सब

तोते की भाँति एक चीज़ को दोहराते हैं। परन्तु गीता की शिक्षा और मेरे गुरुदेव की शिक्षा में एक फर्क है, या कहें वैदिक शिक्षा और मेरे गुरुदेव की शिक्षा में। वेदों के आधे भाग में कर्मकाण्ड पर विशेष ज़ोर दिया गया है, जिनके ब्योरे पर सतर्कता से ध्यान देना है। क्योंकि ज़रा सी गल्ती से उल्टा असर हो सकता है। उदाहरणार्थ एक मृत्युंजय होम है जो कि मृत्यु पर विजय पाने के लिये है और तब ही किया जाता है जब कोई अत्यधिक बीमार होता है, अंत निकट होता है। ठीक से करने पर माना जाता है कि वह उस व्यक्ति को नवजीवन प्रदान करेगा, जिस के लिये किया जा रहा है।

अब यहाँ दो खास बातें सामने आती हैं : एक है कि इसमें भक्ति और विश्वास या अन्य किसी चीज़ पर कोई ज़ोर नहीं। जो तरीका या कर्मकाण्ड या आदेश हैं उनका सही-सही एक-एक करके पालन करने पर ज़ोर है। दूसरा है कि गल्ती करने पर व्यक्ति की मृत्यु अवश्यम्भावी है।

अब जब आप बाबूजी महाराज की शिक्षा पर आते हैं तो उनकी शिक्षा एक स्तर तक गीता का अनुसरण करती है। गीता कहती है कि "तुम अपना कर्म करो, तुम्हें उसके फल या परिणाम पर कोई हक नहीं।" अब समस्या है कि मानव मन यह स्वीकार करने को तैयार नहीं। तर्कवादी मन कहेगा कि "मैं कार्य करूँ और परिणाम की आशा क्यों न करूँ? यह ईश्वर की ज़्यादती है कि वह हमसे काम करने की आशा करे और हमें उसका फल न दे। पर बाबूजी परिणाम के बारे में कुछ नहीं कहते, वह कहते हैं, "काम करो", यह नहीं कहते हैं कि परिणाम तुम्हारा है और न कहते हैं कि परिणाम तुम्हारा नहीं है। बड़ी सतर्कता से वह दोनों को छोड़ देते हैं। वह केवल कहते हैं, "जब तक तुम इस शरीर में हो, कार्य करना तुम्हारा कर्त्तव्य है और ऐसी पूर्णता से कार्य करना जैसे तुम्हारा जीवन इस पर निर्भर है।" यह गीता के कर्मयोग की भाँति है।

अब उनकी शिक्षा का दूसरा कदम आता है जिसका गीता ज़िक्र भी नहीं करती। वह कहते हैं, "जब कार्य करो तो यह विचार मत रखो कि तुम कार्य कर रहे हो, गुरु की चेतनता में, उनकी याद में काम करो। "इससे लाभ क्या है? जब हम 'उनका' विचार लेते हैं तो हम अपने आप को उनके विचार में भूल जाते हैं। ऐसे में हमारे माध्यम से उनकी शक्ति कार्य करना आरम्भ कर देती है। अब यहाँ पर हिन्दू विचार से, गीता के विचार से भी गुरुदेव की शिक्षा की भिन्नता प्रकट होती है। वेद विश्वास रहित कर्मकाण्ड पर ज़ोर देते हैं। गीता

विश्वास के साथ कर्म पर ज़ोर देती है परन्तु परिणाम को ईश्वर के प्रति समर्पण करने को कहती है। मेरे गुरुदेव परिणाम के विषय में कुछ नहीं कहते परन्तु उनका प्रयत्न उस कार्य के स्तर को मानवीय स्तर से दिव्यता के स्तर तक उठाना है।

मैं कहूँगा कि वैदिक शिक्षा से गीता की शिक्षा, फिर गुरुदेव की शिक्षा तक एक क्रमिक परिवर्तन है। वेदों का तरीका बिल्कुल यंत्रवत तरीका है जो विश्वासहीन व्यक्तिगत मानव प्रयत्न को बढ़ावा देता है। गीता कहती है, "एक मानव की भाँति कार्य करो, फल को भूल जाओ।" मेरे गुरुदेव कहते हैं, "तुम्हें कार्य करना है, परन्तु यह भूल जाओ कि तुम मानव हो। गुरुदेव का विचार लेकर कार्य करो तो वह तुम्हारे माध्यम से कार्य करेंगे। भूल जाओ कि तुम एक इन्सान हो, केवल उनकी याद में काम करो तो यह करिश्मा होता है कि उनकी शक्ति तुम्हारे माध्यम से कार्य करती है।"

अब इस से हमें क्या प्राप्त होता है? वैदिक शिक्षा हमें छोटे मोटे परिणाम देती है : बेटी की शादी, किसी की नौकरी या बुरा करने वाले की मृत्यु — हम जो प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहे हैं उसकी तुलना में छोटी-मोटी चीज़ें। और अगर हमारे कर्मकाण्ड में गलती हुई तो हमारी मृत्यु भी हो सकती है! यह काम के प्रति बहुत आदिकालीन प्रवृत्ति है, "तुम कुछ करो तो कुछ मिलता है और अगर ठीक से नहीं करो तो तुम्हारी मृत्यु।" यह तो हिब्रू सिद्धान्त की भाँति हुआ "जैसे को तैसा।" सूर्य देवता का यज्ञ करो तो वह तुम्हें कुछ देंगे। यह सबको ईश्वर मानने के समान है और दिव्यता के साथ एक व्यापार की तरह है : लेना और देना। : हम हमेशा ईश्वर को सब कुछ देकर उससे कहीं ज़्यादा वापस पाना चाहते हैं। स्वभावतः वास्तव में यह धर्म तक पहुँचने का एक आत्मकेंद्रित, स्वार्थी व व्यापारिक ढंग है। गीता इस के स्तर को कहीं ऊँचा उठाती है; गीता कहती है, "मेरे मित्र, कार्य का परिणाम कभी भी तुम्हारा नहीं था। तुम सोचते हो कि परिणाम तुम्हारा है क्योंकि तुम आज कार्य कर रहे हो। परन्तु जो परिणाम तुम्हें आज मिल रहे हैं वह कल के कार्य के हैं, परसों के कार्य के हैं, पिछले वर्ष के कार्य के हैं।" इन दोनों चीज़ों का पास-पास होना ही हमारे मन को कार्य और कारण की तरह लगता है। परन्तु आज का परिणाम आज के कार्य का फल नहीं है। आज के फल का कारण भूतकाल में है, और आज के कार्य का फल भविष्य में होगा। इसलिये तुम्हें अपने कार्य का परिणाम पता भी नहीं चल सकता, उसे भूल जाओ। अपनी क्षमतानुसार उच्चतमरूप में कार्य करो। फिर गुरुदेव आते

हैं और सब कुछ उलट-पुलट जाता है और किसी को मालूम भी नहीं पड़ता, बड़े-बड़े विद्वानों को भी नहीं। भारत में बहुत कम लोगों को समझ में आया है कि मेरे गुरुदेव ने क्या शिक्षा दी है, नहीं तो शायद वह उन्हें निकाल बाहर करते! न ही कभी उन्होंने यह चीज़ें समझायी हैं या कहा है, "मैंने यह किया है, यह किया है और यह किया है।" उन्होंने केवल कहा, "मैंने सब काम अपने गुरुदेव लालाजी की याद में किया, जो कुछ भी हुआ उन्हीं की कृपा है।" बस यही उन्होंने हमें सिखाया है।

उनकी शिक्षा की खूबसरती क्या है? कि मैं मानव रूप में कार्य करने के लिये बाध्य हूँ क्योंकि मैंने मानव जन्म लिया है। शरीरधारी को शरीर की आवश्यकतानुसार कार्य तो करना ही पड़ता है। दूसरा, हम जो कुछ भी करते हैं वह हमारे संस्कारों के अनुसार पहले से निर्धारित होता है, इसलिये जो कुछ हम करते हैं उसमें हमारा चुनाव नगण्य है। एक कसाई, कसाई ही रहता है, लोहार लोहार ही बना रहता है, फिर गुरुदेव हमें इस भूतकाल से कैसे मुक्त कराते हैं? एक ओर वह हमारे संस्कारों की सफाई करके उन्हें हटा देते हैं, परन्तु हमें अपने कार्य के प्रति कर्त्तव्य से छुटाकारा नहीं दिलाते, क्योंकि वह कहते हैं, "अब अपने संस्कारोंवश काम करने के बजाय मेरे कारण कार्य करो।"

अब मान लीजिये मैं कसाई हूँ और बाबूजी से कहूँ, "पर बाबूजी मैं अब भी कसाई हूँ, पहले मैं अपने संस्कारों के कारण कसाई था, अब आप ने मेरी सफाई कर दी है फिर भी मैं कसाई हूँ, यह कैसे सम्भव है?" वे दया से मुस्कुराते हुए कहते हैं, "मेरे बेटे, कसाई होने में कोई हर्ज नहीं है, कोई काम करने में हर्ज नहीं है। अपने मन में किसी कार्य के छोटा या बड़ा होने का विचार मत लाओ ऐसा नहीं है। अगर तुम्हें गुसलखाने की सफाई करनी पड़े तो वह भी कार्य है: अगर तुम्हें राजा के लिये खाना पकाना पड़े वह भी कार्य है। यह तुम्हारा मन है जो तुम्हें किसी कार्य को गन्दा और किसी को साफ, किसी को अच्छा और किसी को बुरा सोचने पर बाध्य करता है। इस मन की लीला को भूल जाओ।" फिर उन्होंने मुझे कार्य की एक सुन्दर परिभाषा दी : "जिसको करना आवश्यक है, वही कार्य है," चाहे वह कुछ भी हो।

सो उन्होंने सफाई द्वारा भूत के बाध्यकारी कारण को हटा कर उसके स्थान पर अपने आप को दिया -- वह व्यक्ति जिसे हम प्रेम करते हैं, जिसकी आराधना करते हैं, जिसका हम आदर करते हैं।

इसका परिणाम क्या है? जब हम संस्कारों से बाध्य हो कर कार्य करते थे तो हमें उस कार्य से घृणा थी वह एक बंधन था, परन्तु जब हम उसके लिये कार्य करते हैं जिसे हम प्यार करते हैं, जिस पर हमारी श्रद्धा है, तो वही कार्य सुखद हो जाता है। तो कार्य एक बोझ न बन कर सुखद बन जाता है। यह उनकी शिक्षा का प्रथम लाभ है। दूसरा कदम आता है जब वह कहते हैं, "भूल जाओ कि तुम कार्य कर रहे हो, केवल 'उनको' याद रखो, गुरु को।" और उस याद में जो कुछ तुम्हें करना है करो।

आप में से जिन्होंने "मेरे गुरुदेव" पढ़ी है, उन्हें स्मरण होगा कि उन्होंने मुझे प्रशिक्षक के रूप में क्या निर्देश दिये थे। "जब तुम अभ्यासी को सिटिंग (पूजा) देने के लिये बैठो तो यह विचार लो कि गुरुदेव वहाँ बैठे हैं। सोचो कि तुम्हारे चेहरे पर भी दाढ़ी है अगर इससे तुम्हें मदद मिले; और अपने आप को उस जगह से हटाने की कोशिश करो। फिर तुम देखोगे कि सीधे गुरुदेव काम करते हैं।"

उन्होंने हमें गीता की भांति फल को त्यागने को नहीं कहा, वरन् हमें चेतना के उच्चतम सम्भव स्तर तक उठा कर एक करिश्मा कर दिखाया जहाँ हम परिणाम के लिये कार्य नहीं करते। ऐसे में हम ईश्वर की भाँति, परिणाम के लिये नहीं, विकास के लिये कार्य करते हैं, अपने विकास, औरों के विकास, ब्रह्माण्ड के विकास के लिये। तो वह हमारे मन से परिणाम या फल के विचार को निकाल देते हैं। क्योंकि जब मैं कार्य नहीं कर रहा हूँ, मैं केवल गुरुदेव के खयाल में हूँ और वह कार्य कर रहे हैं, तो मैं परिणाम या फल की आशा ही कैसे कर सकता हूँ?

सो यह एक साधारण अन्वेषण या आविष्कार, इसे आप चाहे जो कुछ भी कहिये, उन्होंने किया। उन्होंने कार्य को वैसे ही छोड़ कर हमारी चेतना के स्तर को उठाया ताकि हम कार्य को उस पूर्ण रूप से कर सकें जैसा स्वयं ईश्वर करता और साथ ही हमें परिणाम या फल के विचार से मुक्त कर दिया।

मेरे विचार में यह पहली बड़ी मुक्ति है, क्योंकि फल के विचार से हम जो कुछ करते हैं वह हमारे अन्दर गिरावट पैदा करता है। यह हमारे अन्दर कार्य करने के प्रति भय भी उत्पन्न करता है, क्योंकि हमें पता नहीं कि उसका कुछ फल होगा कि नहीं। जब हम मानवीय स्तर पर कार्य करते हैं तो उसके पीछे दो चीज़ें होती हैं : लालच और डर। गुरुदेव की छाया में दोनों गायब हो जाती हैं। मेरे सुझाव से यह उच्चतम शिक्षा है जो मानव को दी गयी है, कि हम कैसे जियें

और एक मानव होते हुए भी एक दिव्य जीव की भाँति कैसे कार्य करें। यह हमारी साधना के अन्तिम लक्ष्य को पाने का अर्थात् दिव्य बन जाने का तरीका है।

इस प्रकार से देखें तो हमारे विकास के तीन चरण हैं। जब हम गुरुदेव के पास आते हैं तो एक मानव की आकांक्षाऐं लेकर मानव की भाँति कार्य करते हैं। दूसरे चरण में हम ध्यान कर सतत स्मरण तक पहुँच जाते हैं, जहाँ हम मानव तो हैं परन्तु गुरुदेव हमारे माध्यम से कार्य करते हैं और हमारी आकांक्षाएं दिव्य हो जाती हैं। अगर यह प्रभावपूर्ण ढंग से कर लिया जाता है तो हम तीसरी व अन्तिम स्थिति में पहुँच जाते हैं, जहाँ हम दिव्य बन जाते हैं और दिव्यात्मा के रूप में बिना आकांक्षाओं के काम करते हैं। हमारी वही इच्छायें रह जाती हैं जो ईश्वर की हो सकती हैं, अर्थात् कुछ नहीं। यह सहज मार्ग शिक्षा का करिश्मा है। जो हमें अपने ऊपर तथा शेष अस्तित्व पर कार्य कर सकने का सामर्थ्य प्रदान करती है।

अब दोपहर की सभा के विषय पर वापस आते हुए, हमें इसी भाव से काम करना है कि काम मानवीय स्तर पर करना है, परन्तु उनकी याद में, फिर परिणाम जो कुछ भी उनकी इच्छा होगी आयेगा। स्मरण रखिये कि यही सहज मार्ग की मूल शिक्षा है। इसका परिणाम व लाभ मैंने स्वयं देखा है, जब मुझे १९६७ में प्रशिक्षक बनाया गया था। पहली बार जब मैंने एक अभ्यासी को पूजा दी तो डर रहा था कि क्या करूँ। गुरुदेव ने मुझे कोई भाषण या शिक्षा नहीं दी थी, उन्होंने केवल कहा था कि "आँखें बन्द कर के बैठो और विचार लो कि प्राणाहुति जा रही है, और वह जायेगी।" यह कोई करिश्मा नहीं था कि वैसा ही हुआ, क्योंकि वह उनका काम था। पर करिश्मा यह हुआ कि कुछ ही मिनट बाद मैंने देखा कि मेरे दाहिने हाथ की ओर एक दीवार है और उसमें एक दरवाज़ा खुला है और उसमें से बाबू जी एक कुर्सी लेकर आये और मेरा काम देखने के लिये वहाँ मेरे पास बैठ गये। मैंने गुरुदेव से पूछा, "क्या यह सत्य है?" और उन्होंने मुस्कुराते हुए कहा, "कोई भी, कहीं भी गुरु की जानकारी के बगैर काम नहीं कर सकता।"

अब उनकी दयालुता देखिये। वह हम कितने सारे लोगों को काम देते हैं और सब के ऊपर एक साथ निगरानी रखते हैं कि हम क्या कर रहे हैं, क्योंकि यह उनका ही कार्य है और वह पक्का करना चाहते हैं कि हम ठीक तरह से काम करें, नहीं तो उन्हें उसे दोबारा करने में समय बरबाद करना पड़ेगा। तो उन्हें अपने गुरु के स्तर, दिव्यता

के स्तर से हममें से प्रत्येक पर निगरानी रखनी पड़ती है जिसे उन्होंने काम सौंप रखा है, और आप जानते हैं कि हम मानव हैं जो मानवीय भटकनों के शिकार हैं। कोई कह नहीं सकता कि हम कब काम कर रहे हैं, इसी कारण उन्हें दिन के चौबीस घंटे हमारी निगरानी रखनी पड़ती है। तो देखिये जब हम उनका काम करते हैं, हमें कितना बड़ा लाभ मिलता है। उन्हें अपने हित के लिये २४ घंटे हमारी निगरानी रखनी पड़ती है। साथ ही मेरे हित का भी पूरा ख्याल रखना पड़ता है। कितना बड़ा लाभ मिलता है!

अब सिक्के का दूसरा पक्ष देखिये। हमें केवल एक काम करना है, एक ही गुरु को स्मरण करना है जो हम नहीं कर पाते। क्यों? क्योंकि हमारा मन विभिन्न धाराओं में बँटा होता है। मेरा अक्सर अनुभव रहा है कि मेरे गुरुदेव दिन के चौबीस घंटे अपने काम के अलावा कुछ भी नहीं सोचते थे। विदेश यात्रा करते समय हम साथ-साथ जहाज़ में बैठे होते तो वह मुझे एक मिनट भी चैन नहीं लेने देते। कभी-कभी मैं चलचित्र देख रहा होता और कानों में हेडफोन लगे होते तो वह मुझे हिला देते और उन्हें हटाने को कहते और फिर मुझे बताते, "मैं तुम्हें बताऊँगा कि लालाजी ने मुझे १० वर्ष पूर्व या २० वर्ष पूर्व क्या बताया था।" फिर १५ मिनट तक वह मुझे कहानी बताते और जब मैं सोचता कि बात समाप्त हो गयी और फिर से कानों में फोन लगाता और सिनेमा देखने लगता तो वह मुझे फिर हिला देते। मैं फिर फोन हटाता और वे कहते, "मैं एक बड़ी महत्वपूर्ण बात तुम्हें बताना भूल गया, मैं इस खास केन्द्र के विषय के बारे में चिन्तित हूँ और यह महत्वपूर्ण कार्य है, तुम भी इसके ऊपर विचार करो।" मैं फिर हेडफोन लगाता। कभी-कभी मैं उनसे इतना चिढ़ जाता कि एक बार जब ऐसा १७ या १८ बार हुआ तो मैंने बाबूजी से पूछा, "बाबूजी, क्या आप अपने काम के अलावा और कुछ नहीं सोच सकते?" उन्होंने अपने चेहरे पर एक भोला भाव लाकर मुझसे प्रश्न किया, "और क्या है सोचने को?"

हमारी गुरुदेव के काम के प्रति यही प्रवृत्ति होनी चाहिये। हमारे पास भी उनके काम के अलावा और क्या है सोचने को? क्योंकि मैंने आपको दिखाया कि वह अपने कार्य की रक्षा हेतु कैसे चौबीसों घंटे हमारी निगरानी कर रहे हैं और इस प्रक्रिया में वे हमारी भी रक्षा कर रहे हैं। अब अगर कोई व्यक्ति चौबीसों घंटे मेरी देख भाल कर रहा है तो क्या वह मुझे, मेरा खाना या कपड़े भूल जायेगा? तो मुझे उसके काम के अलावा किस की चिन्ता करना चाहिये । क्योंकि जितनी भक्ति,

श्रद्धा व पूर्णता से मैं उसका कार्य करूँगा उतना ही अधिक वह मेरा ध्यान रखेगा।

मैं आपको छोटा सा उदाहरण देता हूँ। एक बार सात या आठ वर्ष पूर्व मेरी नाक में पोलिपस (ट्यूमर या गाँठ) हो गया, दोनों ओर अंगूर के गुच्छे की भाँति। मुझे साँस लेने में तकलीफ होती। अत्यधिक असुविधाजनक। अजीब बात यह थी कि जब मैं किसी को पूजा देने के लिये बैठता तो मेरी नाक साफ हो जाती और मैं आराम से साँस ले सकता था। जब बाबू जी मद्रास आये तो मैंने उन्हें बताया उन्होंने फौरन कस्तूरी की ओर देखा और कहा, "गुरु जब अपना काम करवाना चाहते हैं तो उसके लिये अनुकूल परिस्थितियाँ बना देते हैं।" मुझे थोड़ा क्रोध आया और मैं बोला "बाबूजी केवल जब वह अपना काम कराना चाहते तो मुझे मुक्त कर देते हैं। आप क्या नहीं सोचते कि यह अन्यायपूर्ण है?" उन्होंने कहा, "तुम्हें आभारी होना चाहिये कि कम से कम उस एक घण्टे के लिये तुम्हें उस परेशानी से छुट्टी मिल जाती है।" (हास्य) मैंने कहा "हाँ पर यह इसलिये कि मैं उनका कार्य कर रहा था --- यह मुफ्त नहीं था।" वह बोले "पार्थसारथी! मैं तुम्हें एक बात बताता हूँ, तुम्हें अब तक स्वयं ही समझ जाना चाहिये था। इस परेशानी से चौबीसों घंटे के लिये छुट्टी पाना सम्भव है।" (हास्य) मैं बहुत प्रसन्न हुआ और उत्सुकता से पूछा, हाँ बाबू जी कैसे? वह बोले, "चौबीसों घंटे 'उसका' कार्य करो।" (हास्य) आप देखें, अब यह एक मज़ाक की तरह लगता है पर इसमें एक वादा भी है ,कि अगर आप गुरुदेव के लिये चौबीसों घंटे कार्य करें तो आपकी देखभाल करना उनका कर्त्तव्य बन जाता है। मैं तो इससे बढ़िया सौदे के बारे में सोच भी नहीं सकता। मैं अपने मूर्ख मानव बुद्धि, कमजोर मानव शरीर व भ्रष्ट मानव हृदय से उनका काम करता हूँ और वह मेरी देखभाल अपने दिव्य प्रेम, दिव्य हृदय और दिव्य संरक्षण से करते हैं। क्या इससे बेहतर प्रस्ताव कहीं भी हो सकता है?

अतः गुरुदेव के लिये कार्य करने में यह रहस्य है। मैंने पहले आपको इस फल के विचार से मुक्ति के विषय में बताया है, जिसके फलस्वरूप लोभ और भय का विचार भी समाप्त हो जाता है। मैं आपको एक चीज़ बताना चाहूँगा। जब बाबू जी इस संसार से गये तो कई लोगों को धक्का लगा और वे भौंचक्के रह गये। मैं भी वैसी ही अवस्था में था। मुझे आपको बताते हुए लज्ञा आती है कि उनके जाने के बाद जो पहली सिटिंग मैंने दी, मेरे मन में एक क्षण के लिये शंका उठी कि क्या प्राणाहुति आयेगी। मैंने सोचा, "अब जब वह नहीं हैं तो

क्या वह कार्य करेगी?'' इस कारण जो मुझ में विश्वास नहीं करते मैं उन्हें दोष नहीं देता। जैसे ईसा मसीह ने अपने शिष्य पीटर से कहा था, ''मुर्गे की बाँग देने से पूर्व तुम तीन बार मुझ से इनकार करोगे'' और पीटर ने वैसा ही किया था। वैसे ही मेरे हृदय में भी क्षणिक सन्देह आया। परन्तु भाग्यवश उसे अपने कार्य में बाधक नहीं बनने दिया, और अपना कार्य रोका नहीं, मैंने काम जारी रखा और यह कारगर हुआ। ठीक इसलिये कि मुझे शिक्षा दी गयी है कि परिणाम के विषय में चिन्ता मत करो, आज मैं आपके सम्मुख बैठ कर उनका कार्य कर सकता हूँ, उनकी ओर से आपको भाषण दे सकता हूँ, बिना यह सोचे कि उसका क्या परिणाम होगा। यह सम्भावना हम सभी के लिये है क्योंकि एक मानव के रूप में बाबूजी हम सब से भिन्न नहीं थे। मैं भी किसी और से भिन्न नहीं हूँ। अगर वह उस पूर्णता से कार्य कर सकते थे तो इसलिये कि उन्होंने अपने गुरु की स्मृति में पूर्ण विश्वास व समर्पण की भावना से कार्य किया। अगर मैं उनकी, अपने गुरु के प्रति भक्ति व विश्वास को दोहरा सकूँ तो मेरा भी कार्य उतना ही सम्पूर्ण होगा।

हम क्या करते हैं कितनी दक्षता से करते हैं यह इस बात पर निर्भर करता है कि हमें गुरुदेव के प्रति कितनी भक्ति है और हम उनकी कितनी याद करते हैं। केवल यह दो चीजें! हमारी क्षमता, हमारी बुद्धि, हमारा ज्ञान, उनका इससे कोई सम्बन्ध नहीं। तो आप देखें, आज मैंने एक बहुत बड़ा रहस्य आपको बताया है, जो कि आप पहले से ही जानते हैं कि पुरुष या स्त्री, अमीर या गरीब, मूर्ख या बुद्धिमान, बलवान या निर्बल, कोई भी गुरुदेव की भाँति कार्य कर सकता है, अगर उसमें गुरुदेव पर शत-प्रतिशत विश्वास है और केवल उनका स्मरण करता है, और किसी का नहीं। मैं आप सब को आमंत्रित करता हूँ कि इस प्रयोग को पूर्ण हृदय से अपनायें और गुरुदेव अवश्य आपके प्रयास को अपने आशीर्वाद द्वारा सफलता से भर देंगे।

तीसरा व्यक्ति

४ सितम्बर १९८७, सायं

आज प्रातः क्लॉड ने अपने सचमुच सुन्दर भाषण में एक बात कही थी। अनेक लोगों ने उसे मज़ाक समझा होगा और संदर्भ विशेष में (मुस्कुराते हुये) वह थोड़ी उलझन पैदा करने वाली भी हो सकती है। मैं उसके उस कथन की बात कर रहा हूँ जहाँ उसने कहा कि उसकी ऐना से शादी वास्तव में तीन व्यक्तियों की शादी है। ऐना, वह और वह व्यक्ति जिसे वह अपना 'मालिक' (मास्टर) मानता है। जाने या अनजाने में उसने एक बहुत बड़ा सत्य प्रकट किया है। हमारी सभी क्रियाओं में एक तीसरा व्यक्ति भी होता है। यह एक विचित्र बात है कि अंग्रेजी की व्यवस्था में एक चीज़ होती है जिसे कहते हैं "अन्य व्यक्तिवाचक, एकवचन, वह।" जब आप उसको बड़े अक्षर में लिखेंगे तो उसका अर्थ होता है ईश्वर। वह इस अर्थ में एक है क्योंकि वह अकेला ही है, कोई उसकी तरह का नहीं है। वह तीसरा व्यक्ति इस अर्थ में है कि जहाँ भी हम दो होते हैं, वह वहाँ तीसरे के रूप में विद्यमान है।

दक्षिण भारत में एक परम्परा है। एक प्रसिद्ध ब्राह्मण सन्त के विषय में वैष्णव परम्परा है। वह एक छोटे से कमरे में सो रहे थे, इतना छोटा कमरा कि उसमें एक ही व्यक्ति लेट सकता था। फिर एक मित्र ने आकर द्वार खखटाया, उसने कहा "मेरे पास कहीं जाने को नहीं है। क्या तुम मुझे थोड़ी जगह दे सकते हो?" सन्त ने कहा "कृपया आ जाओ, जहाँ एक लेट सकता है वहाँ दो बैठ सकते हैं।" आधे घंटे बाद फिर द्वार खटका, एक और व्यक्ति आया और कहा "मेरे पास कहीं जाने को नहीं, क्या मुझे यहाँ आने देंगे?" सन्त ने कहा "अन्दर आ जाओ, जहाँ दो बैठ सकते हैं वहाँ तीन खड़े हो सकते हैं।" आप सब को पता ही है कि हम भारत में रेलगाड़ी में इसी प्रकार सफर करते हैं -- ठसा-ठस क्योंकि व्यावहारिक जीवन में यही सिद्धान्त लागू होता है। अब कहानी का चमत्कार वाला भाग आता है। फिर द्वार पर दस्तक होती है और एक और व्यक्ति अन्दर आना चाहता है। अब कमरे का मालिक कहता है "मेरे मित्र, जहाँ एक सो सकता था दो बैठ सकते थे, इस कारण मैंने दूसरे को आने

दिया। तब जब तीसरा व्यक्ति आया और (खटखटाया) तो मैंने कहा। 'जहाँ दो बैठ सकते थे वहाँ तीन खड़े हो सकते हैं', और मैंने उसे भी आने दिया। अब तुम आ गये हो, मेरी समझ में नहीं आता कि जहाँ तीन खड़े हैं वहाँ चौथे के लिये कहाँ स्थान हो सकता है।'' इस चौथे व्यक्ति ने उत्तर दिया, ''जहाँ तुम्हारे लिये स्थान है वहाँ मेरे लिये भी स्थान है और जब दो व्यक्ति मेरे नाम पर एकत्र होते हैं तो मैं वहाँ तीसरा व्यक्ति होता हूँ। अगर तुम लाख लोग भी हो और कमरे में ठसा-ठस भरे हो, मैं कोई स्थान नहीं घेरता। मेरे लिये सदैव स्थान होता है।''

तो यही परम्परा है कि जहाँ भी हम हैं, 'वह' भी वहाँ है। वास्तव में भारत में कई व्यापारिक समुदायों ने इस विचार को सामान्य मानवीय व्यवहार में ला दिया है, और अगर किसी व्यापार में दो भागीदार हैं तो भागीदारी के समझौते पर हस्ताक्षर करते समय वे ईश्वर को तीसरा भागीदार बना कर उसे नाम मात्र का हिस्सा दे देते हैं, जो पैसा वे मन्दिर या किसी और जगह पर दान कर देते हैं। दुर्भाग्यवश यह वे किसी आध्यात्मिक तथ्य के कारण नहीं करते, अपितु केवल यह पक्का करने के लिये करते हैं कि उनका व्यापार बढ़िया चलता रहे। कुछ भी कारण हो सत्य इस भ्रष्ट प्रथा में सन्निहित है।

ऐसा कहिये कि हम इस तीसरे व्यक्ति की उपस्थिति से पीछा नहीं छुड़ा सकते, वह अकेला है। यह एक अद्भुत चीज़ है कि अंग्रेजी व्याकरण में 'उसे' तीसरा व्यक्ति - एकवचन कहा जाता है। हमारे विवाहों में, वास्तव में भारतीय परम्परा में हम जो कुछ भी करते हैं उसमें ईश्वर को सदा ही साक्षी मानते हैं। अधिकांश लोग यह भूल जाते हैं। मुझे प्रसन्नता है कि क्लॉड ने उपदेश के इस पहलू को भी पहचाना और महत्ता दी और अपनी वार्ता में इस विषय में कहा। मेरे विचार में उसने इसे काफी गभीरता से लिया और इस कारण उसका विवाह मंगलमय होगा। हमारा सदैव यह प्रयत्न होना चाहिये कि इस गुप्त उपस्थिति को अपने साथ रखें।

यह तो कथा का धार्मिक पहलू है। जब हम आध्यात्मिकता की ओर आते हैं तो हम ईश्वर को एक बाह्य उपस्थिति के रूप में नहीं मानते, जो हमारे साथ है और बाहर से हमारा ध्यान रखती है। सहज मार्ग की हमारी आध्यात्मिक साधना का लक्ष्य ईश्वर को अपने अन्दर लाना है। इसी कारण एक प्रसिद्ध उपनिषद्, ईश-उपनिषद् संयोग से जो बहुत छोटा है - यह कहता है, वह सबके हृदय में है, वह सारी

सृष्टि में व्याप्त है।'' तुम उससे बच नहीं सकते चाहे तुम्हें पसन्द हो या न हो। वह तुम्हारे अन्दर है, वह तुम्हारे बाहर है।

उपनिषद् के इस आरम्भिक वाक्य को स्पष्ट करते हुये टीकाकार ने बड़ी सुन्दर उपमा या उदाहरण का प्रयोग किया है। वे कहते हैं कि यह नदी में डूबे पानी के घड़े के समान है, उसके भीतर पानी है, उसके बाहर पानी है। परन्तु घड़े के भीतर का पानी सोचता है कि उसका अलग अस्तित्व है, वह अलग है, वह एक स्व है। घड़े को तोड़ दो, तो दोनों पानी एक हो जाते हैं। इसका वास्तविक अर्थ क्या है? इसका अर्थ है कि हमारा यह शरीर ही हमें अलग व्यक्तित्व प्रदान करता है, हमारी पृथकता की भावना, यह 'मैं' और 'मेरे' का अहसास। अतः उपनिषद् के टीकाकार के विपरीत आध्यात्मिकता कहती है ''इस कवच को मत तोड़ो उसे अपने अन्दर ले आओ'' वास्तव में वह वहाँ पहले से ही है।उसकी उपस्थिति को पहचानों और अपने आप को उसके हवाले कर दो, सतत् स्मरण द्वारा।

ध्यान द्वारा कभी-कभी 'उनका' स्मरण करके हम उस सतत् स्मरण की प्रक्रिया का प्रयत्न कर रहे हैं। वास्तव में जब मैंने बाबूजी से पूछा, ''यह तीन या चार सिटिंग जो आप नये अभ्यासियों को देते हैं उसका उद्देश्य क्या है?'' वह बोले, ''सफाई करना।'' मैंने कहा, ''किस चीज़ की सफाई?'' सामान्य उत्तर, ''स्थूलता की।'' मैंने पूछा, ''स्थूलता की सफाई क्यों?'' फिर उन्होंने मुझे बताया कि यह पहले की लालटेन की भाँति है जिसका शीशा कालिख की मोटी परत से इतना ढक गया है कि रोशनी बाहर नहीं आ सकती।

उसी प्रकार हमारी स्थूलता ने भी हमारे हृदय में प्रज्वलित दिव्य प्रकाश को पूर्णतया ढाँक रखा है। हालांकि वह ज्योति हमारे अन्दर है हम उसको देख नहीं सकते, उसको महसूस नहीं कर सकते, उसको अनुभव नहीं कर सकते। बाबूजी ने आगे कहा, ''अगर मैं आपको ध्यान करने को कहूँ और आप प्रकाश को देख न सकें, हालांकि मैं आपसे कोई दृष्टिमय प्रकाश देखने की आशा नहीं करता, फिर भी अगर आपके और उसके बीच में कोई रुकावट होगी तो वह आपके ध्यान के प्रयत्न में बाधक होगी। इसी कारण मुझे पर्याप्त सफाई करनी पड़ती है ताकि आप अपने हृदय में छिपी असलियत को महसूस कर सकें।'' जैसा कि बाबूजी ने कहा पहली तीन-चार सिटिंग में या कभी-कभी २२ सिटिंग में यह किया जाता है। तो आप प्राथमिक ३ या ४ या ५ सफाई की बैठक का महत्व देखते हैं।

आप जानते हैं, जब हम गाड़ी में सफर करते हैं, या हम अपने घर में बैठते हैं, और अन्दर गरम और बाहर ठण्डा होता है तो खिड़की के शीशे पर एक नमी जम जाती है, न आप बाहर देख सकते हैं और न आप बाहर से अन्दर देख सकते हैं। एक पतली सी नमी की परत जो शीशे पर जम जाती है। फिर हमें उसे साफ करना पड़ता है, तभी हम देख सकते हैं। यह एक साधारण भौतिक उदाहरण है जो देखने की सम्भावना के पूर्व सफाई की आवश्यकता को दर्शाता है। यही सिद्धान्त आध्यात्मिक अस्तित्व पर भी लागू होता है।

इसलिये सहज मार्ग में सफाई अत्यधिक महत्वपूर्ण है। बाबूजी ने इसमें एक विचित्र कथन जोड़ दिया, उन्होंने कहा, ''कुछ व्यक्ति इतने स्थूल हैं कि वह स्थूलता एक चट्टान का रूप ले चुकी है, और जिस पर हम हथौड़ी से पत्थर तोड़ते हैं, उसके अलावा और कोई चारा नहीं रह जाता और कुछ भी नहीं किया जा सकता।'' तो मैंने पूछा, ''आप ऐसे मामले में क्या करते हैं?'' बाबूजी ने कहा, ''अगर मैं ऐसे करूँ तो व्यक्ति की मृत्यु हो जायेगी।'' जब मैंने पूछा, ''क्या ऐसे लोगों के लिये कोई आशा नहीं है?'' उन्होंने कहा, ''अगर तुम गुरु या मालिक के कहे अनुसार नहीं करते हो तो उस स्थूलता को साफ करने में कई और जन्म लग जायेंगे और संस्कारों के भोग द्वारा उसे साफ करना पड़ेगा, तब पुनः किसी सुयोग्य व्यक्ति द्वारा मार्ग दर्शन लेना पड़ेगा।'' मैंने कहा, ''उन्हें क्या करना है, जो कि गुरुदेव कहते हैं कि उन्हें करना चाहिये?'' क्योंकि वह ध्यान नहीं कर सकते, वह सफाई नहीं कर सकते दस नियमों का उनके लिये कोई अर्थ नहीं क्योंकि वह अभ्यासी नहीं हैं। उन्होंने कहा ''जो प्रार्थना मैं देता हूँ अगर वह उसे सबेरे जागने पर सबसे पहले दोहरायें और रात में सोने के पूर्व एक बार उस प्रार्थना को सच्चे हृदय से कहें और प्रार्थनामय भाव से हृदय में प्यास और तड़प के साथ स्वयं परमात्मा से आध्यात्मिक स्वतंत्रता के लिये मार्ग दर्शन माँगें, तो किसी प्रकार यह स्थूलता पिघलना आरम्भ हो सकती है।, और कभी-कभी वह कुछ ही महीनों में आध्यात्मिक अभ्यास के योग्य हो जाता है।''

तो आपने देखा कि अभ्यासी या होने वाला अभ्यासी जो उसके हृदय को घेरे हुये स्थूलता के भारी बोझ के कारण साधना आरम्भ नहीं कर सकता, उसकी अपनी मुक्ति के लिये प्रार्थना का कितना महत्व है- आध्यात्मिक अर्थ में मुक्ति नहीं बल्कि स्थूलता से छुटकारा ताकि वह आध्यात्मिक साधना आरम्भ करने के योग्य हो जाये। दुर्भग्यवश हमारे

पास ऐसे भी कुछ लोग आते हैं और उन्हें यह समझाना कठिन होता है कि वे उस क्षण अभ्यास आरम्भ नहीं कर सकते।

आज ही तीसरे पहर मेरे पास एक क्रुद्ध नवयुवक आया। वह समझ नहीं पा रहा था कि कैसे और लोग इसके योग्य हैं और वह नहीं हैं। उस समय मेरे पास उसे समझाने या उस विषय में वार्तालाप का समय नहीं था। अब कई लोग इसको सुनेंगे और अगर वह नवयुवक यहाँ है तो उससे प्रार्थना करूँगा कि वह एक बात समझ ले - यह कहना कि कोई योग्य नहीं है कोई व्यक्तिगत आलोचना अथवा तिरस्कार नहीं है। केवल यह है कि किसी को योग्य बनाने में थोड़ा और समय चाहिये होता है और उसमें प्रतीक्षा करने के लिये धैर्य, प्रार्थना करने के लिये विश्वास और आध्यात्मिकता की वह प्यास जो इन सब के लिये आवश्यक है, होनी चाहिये। अगर वह क्रोधित या निराश होकर अपने मार्ग दर्शक को केवल एक ऊपरी सतह से देख कर उसके निर्णय पर सन्देह करता है कि "यह सब लोग योग्य हैं, मैं क्यों योग्य नहीं?" तो खतरा है कि वह कभी भी इस रास्ते पर नहीं आ पायेगा, यह एक छोटा खतरा है। उससे बड़ा खतरा यह है कि वह इस भाँति और संस्कार एकत्र करता जायेगा, यहाँ तक कि सौ भावी जीवनों के लिये वह इस योग्य नहीं बन सकेगा।

अब पुनः क्लॉड के उस तीसरे व्यक्ति पर आते हुये, हम जब प्रार्थना करते हैं तो हम उसी से निवेदन करते हैं, क्योंकि पसन्द करें या न करें, वही हमारे हृदय में है। उस प्रकाश को घेरे हुये स्थूलता की परत चाहे इतनी गहरी हो कि हम उसे देख न सकें, न उसका अनुभव कर सकें और न उसकी आवाज सुन सकें, परन्तु, हमारे सौभाग्य से संसार में कुछ भी ऐसा नहीं जो उसे मुझे देखने व सुनने से रोक सके। यह उस तीसरे व्यक्ति की सबसे बड़ी उदारता है। यह उस एक दिशा वाले शीशे की भाँति है जहाँ आप एक ओर से नहीं देख सकते परन्तु वे दूसरी ओर से देख सकते हैं।

अब कुछ लोग पूछ सकते हैं, "उन परिस्थितियों में गुरु से प्रार्थना क्यों नहीं करें? अब सहज मार्ग में आप कहते आये हैं कि आपके गुरु ही ईश्वर हैं, तो अन्तर क्या है?" इसके दो उत्तर हैं, पहला उत्तर है यदि तुम उसे गुरु स्वीकार करते हो तो जो वह कहता है उसे तुम्हें करना है, और बहस नहीं करना है। कभी गुरु से कोई बहस नहीं, किसी भी विषय पर नहीं। आज्ञाकारिता ही अभ्यासी की परीक्षा है। दूसरी बात है अभी वह तुम्हारे लिये गुरु ही है, ईश्वर नहीं। वास्तव में कई लोगों के लिये वह गुरु भी नहीं है केवल एक और व्यक्ति है।

पहले तुम्हें उसे केवल मानव मार्ग दर्शक के रूप में स्वीकार करना है, उसकी सलाह मान कर वह जो कहता है उसे करना है। अगर यह कदम सफलतापूर्वक ले लिया तो फिर उसे गुरु के रूप में देखने की सम्भावना होती है। इस स्थिति में आ कर ही आपका वास्तविक आध्यात्मिक अभ्यास आरम्भ होता है, तब तक केवल वह यंत्रवत् था। अब वह जब आपका गुरु बन गया है तब आपका आध्यात्मिक अभ्यास पूर्व निष्ठा के साथ आरम्भ होता है। अब वह मालिक है और मैं उसका सेवक हूँ। जब हम इस भावना के साथ आध्यात्मिक मार्ग पर अग्रसर होते हैं तो भक्ति व प्रेम में वृद्धि होती है और अन्त में हम उसे अपने अन्दर विद्यमान ईश्वर के रूप में देखते हैं। तभी हम पूरे हक और अधिकार से यह कह सकते हैं कि वह ईश्वर है। फिर यह महत्वपूर्ण नहीं रहता कि हम ईश्वर से प्रार्थना करें या गुरु से प्रार्थना करें, वह एक ही है। इस अवस्था में कोई फर्क नहीं पड़ता कि गुरु अन्दर है या बाहर है। वास्तव में तब अन्तर में स्थित गुरु अधिक स्वीकार्य है क्योंकि वह स्थायी है, हृदय में शाश्वत रूप से है और मेरे साथ अनन्तकाल तक रहेगा जबकि बाह्य गुरु तो विलुप्त हो जायेगा।

तो सहज मार्ग आध्यात्मिक पद्धति का ही करिश्मा है -- हालाँकि यह व्यक्ति सदैव हृदय में रहा है, वह सृष्टि के आरम्भ से मेरा अंश रहा है, चाहे मैं पत्थर का ढोंका, पेड़-पौधा या जानवर कुछ भी था, वह मेरे अन्दर था। फिर भी मुझे उसे बाहर देखना है, बाहर स्वीकार करना है, प्रेम करना है, समर्पण करना है और फिर आश्चर्यजनक रूप से हम उसे अन्दर पाते हैं। वह सदैव वहीं था, हम ही इतने मूर्ख थे कि उसे पहचान नहीं सके, अनुभव नहीं कर सके और अपने भीतर में उसके प्रति समर्पण नहीं कर सके।

मेरे विचार में आध्यात्मिकता और धर्म में यही मूलभूत अन्तर है और इस कारण से आध्यात्मिकता धर्म के पार जाती है। क्योंकि धर्म ने सदैव एक बाह्य ईश्वर से प्रार्थना की है, जो हम से अलग है, चाहे मन्दिर में, चाहे गिरजाघर में, शायद स्वर्ग में कहीं - सो धर्म के ईश्वर, रहस्यवादियों के आने तक, समय और काल में हम से अलग थे। हर एक धर्म में वे थे और वे अपने-अपने धर्म की सीमाओं से ऊपर उठ सके, आध्यात्मिक साहस और उससे भी अनूठे विश्वास के साथ एक रहस्यमय निर्णय से वे कह सके, '' 'वह' मेरे हृदय में है, मैं मन्दिर क्यों जाऊँ, मैं गिरजाघर क्यों जाऊँ? मैं कहीं भी क्यों जाऊँ? जो सदैव मेरे अन्दर विद्यमान है, मैं बैठ कर उसके साथ सम्पर्क करूँ।'' और जैसे-जैसे उसका सम्पर्क बढ़ा और शक्तिशाली हुआ आन्तरिक वाणी

तथा आन्तरिक प्रकाश ने सब कुछ सँभाल लिया। और बाह्य व्यक्ति का अस्तित्व प्रायः समाप्त हो गया। स्व का असली चालक अपने अन्दर का उच्चतर स्व बन जाता है। ऐसा व्यक्ति ईश्वर द्वारा संचालित, ईश्वर द्वारा नियंत्रित और उसी द्वारा चलता है। वास्तव में उस व्यक्ति के अन्दर अब ईश्वर ही जीवित है। फिर हमें यह महान चमत्कार दिखाई देता है जो इतना अनोखा, इतना भव्य है जिसकी कल्पना भी कठिन है, कि एक साधारण मनुष्य, जिसने आध्यात्मिक साधना आरम्भ की, अब दिव्य हो गया है या स्वयं ईश्वर के समान हो गया है। सहज मार्ग पद्धति में यह दिव्यता की प्रक्रिया का अन्तिम चरण है। सो आप देखते हैं कि हम कैसे उस तीसरे व्यक्ति को बाहर से खोजना आरम्भ करते हैं फिर उसे अन्दर ले आते हैं और अन्त में पता चलता है कि वह तीसरा व्यक्ति और कोई नहीं हम स्वयं हैं। बेशक इस तीसरे व्यक्ति को अपने भीतर पाना काफी कष्टप्रद है, क्योंकि जो कुछ भी हम करते हैं, देखते हैं, सुनते हैं वह उसका साक्षी है। इस कारण दुर्भाग्य यह है कि जो लोग इस सत्य को पहचानते हैं वह भी इससे भाग खड़े हुये। यह मानव मूर्खता व अति मन्दबुद्धि की अभिव्यक्ति है। क्योंकि सत्य से भागने से हम 'उससे' नहीं भाग सकते। 'उसे' पीछे छोड़ कर तुम कहाँ भाग सकते हो? यह नास्तिक की, पापी की मूर्खता है, दुर्भाग्य है, जो अपनी अपराध भावना के कारण ईश्वर से दूर भागना चाहते हैं, यह कहने के बजाय कि "मेरे प्रभु, मैं जो कुछ हूँ सो हूँ, परन्तु तुम फिर भी मेरे अन्दर हो। तुम दयालु हो क्योंकि मेरे भ्रष्ट, पापी, सब प्रकार बुरा होने के बावजूद तुम मेरे में हो। मैंने सृष्टि के आरम्भ से तुमसे दूर भागने का प्रयत्न किया, पर सब बेकार, मैं कहाँ जा सकता हूँ जहाँ तुम नहीं हो? अगर मैं अन्तर में स्थित तुम से यह सोच कर दूर भागूँ कि मैं तुम्हें पीछे छोड़ दूँगा तो तुम बाहर भी चारों ओर हो। मेरी यह परिस्थिति है कि अगर मैं तुमसे अन्तर में आँख न मिलाना चाहूँगा तो मुझे बाहर तुम्हारा सामना करना पड़ेगा। मैं तुम्हारा अन्तर में सामना करना अधिक पसन्द करूँगा।"

फिर अगर ईश्वर पूछे "क्यों?" उसका उत्तर है कि बाहर का ईश्वर एक कठोर न्यायकर्ता है। मेरे अन्दर का ईश्वर मैं हूँ। अगर वह मुझे दण्ड देता है तो स्वयं को दण्ड देता है। इसलिये अपने अन्दर के ईश्वर से निवेदन करना, बाहर के ईश्वर से निवेदन करने से हमेशा अच्छा है। इस कारण यह कुण्ठा मिलती है कि जब हम बाहरी ईश्वर से मन्दिर में या गिरजाघर में निवेदन करते हैं तो या तो हमें कोई उत्तर नहीं मिलता या नकारात्मक उत्तर मिलता है। परन्तु ऐसा एक भी

उदाहरण नहीं मिलता जहाँ किसी व्यक्ति ने ध्यान किया हो और आन्तरिक ईश्वर ने उससे न्यायपूर्वक ही नहीं बल्कि कृपामय व्यवहार न किया हो। नहीं तो वह ऐसा होगा जैसे एक पिता अपने पुत्र से कहे, ''मेरे पुत्र तुमने गलती की है और तुम्हें सौ रुपया जुर्माना देना होगा।'' और पुत्र कहता है, ''पिताजी, मुझे रुपये दो।'' वह पिता या माता से रुपये लेकर जुर्माने के रूप में उन्हें अपने पिता को वापस कर देता है। आध्यात्मिकता का भी यही रहस्य है जो अक्सर पुस्तकों में नहीं मिलता कि आन्तरिक ईश्वर हमारा प्रेमी है। वह और कुछ हो ही नहीं सकता क्योंकि वह एक अर्थ में 'मैं' ही है। वह मेरे अन्दर है, मेरे जीवन का केन्द्र है, जो कुछ भी मुझे होता है उसका प्रभाव उस पर भी पड़ता है।

आध्यात्मिकता में यह बहुत उत्साहवर्धक चीज़ देखने को मिलती है कि जब हम बाहरी ईश्वर से मुख मोड़कर, धर्म से उपर उठकर, रहस्यवाद में पड़ कर 'उसे' अपने हृदय में खोजते हैं और 'उसके' पास प्रेम, आदर व भक्ति के साथ जाते हैं, तब वह न केवल हमारे पापों को क्षमा करता या अच्छे कार्यों का पुरस्कार देता है जिसका कि धर्म के देवता वचन देते हैं, बल्कि वह हमें अपनी भाँति बना देता है। यही आध्यात्मिकता का रहस्य है। जो यह तथ्य जानते हैं उनके लिये आध्यात्मिकता का यह महान आकर्षण है। यही वह सत्य है जो हमारी आध्यात्मिक साधना को लगन देती है अतः मैं आशा करता हूँ कि आप सब उसके अस्तित्व को पहचानते हुये और इस सत्य को अनुभव करते हुये कि ''वह 'मैं' है और मैं 'वह' हूँ'' विश्वास और निश्चय के साथ यात्रा को आरम्भ करेंगे। जो आवश्यक था, वह था केवल इस तथ्य को महसूस कर लेना।

धन्यवाद।

दिल की ललक

५ सितम्बर १९८७ सायंकाल

पिछले तीन दिनों से हम अभ्यासियों के साथ भेंट-वार्ता कर रहे हैं। फ्राँसुआ इस बात की पुष्टि करेंगे कि जब भी इस भेंट में देरी हुई लोगों ने वापस आकर कहा कि उन्हें ध्यान में या अपने अन्दर से उत्तर मिल गया है। कल, परसों और आज इसके कितने ही उदाहरण मिले। तो उत्तर का वास्तविक स्रोत हमारे अन्दर है। जो चीज़ हमें प्रश्न पूछने के लिये बाध्य करती है और उत्तर न मिलने तक दुखी करती है वह हमारा अधैर्य है। इन सब प्रश्नों के पीछे मूल समस्या है हमारी अपनी धारणा के अनुसार शीघ्रता। अभी मेरे सम्मुख एक प्रश्न है और इसका उत्तर मुझे अभी ही मिलना चाहिये, मैं प्रतीक्षा के लिये तैयार नहीं। तो समस्या यह है और अगर हम बुद्धिमान हैं - जैसा कि अंग्रेजी की पुरानी कहावत है "इसको समय दो" तो उत्तर मिल जाता है। इसलिये इन प्रश्नों के ऊपर अनावश्यक चिंता मत करो, इनमें से अधिकतर का हमारे अस्तित्व से कोई सम्बन्ध नहीं है। हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि मनुष्य लाखों वर्षों से जीता चला आ रहा है और उसमें से अधिकांश ने कोई प्रश्न नहीं किया। वे केवल जीते थे।

यह प्रश्न और उत्तर का सिलसिला हमारी बुद्धि के कारण है। यह एक आधुनिक बीमारी है, क्योंकि हमें कभी-कभी यह भी नहीं पता होता कि क्या प्रश्न करें। क्योंकि कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न होते हैं और कुछ बेकार प्रश्न। कौन सा महत्वपूर्ण प्रश्न है? अब एक अविकसित समाज में जहाँ मानव को भोजन के लिये किसी जानवर का शिकार करना पड़ता था, महत्वपूर्ण प्रश्न था कि जानवर कहाँ मिलेगा और उसका शिकार कैसे किया जाये, यह नहीं कि जानवर कहाँ से आये, इनकी उत्पत्ति कैसे हुयी? मेरे विचार में पुरानी कहावत कि "शैतान खाली हाथों के लिये खुराफात ढूँढ लेता है" उसको आधुनिक युग में इस प्रकार कहना चाहिये कि "शैतान खाली दिमाग के पूछने के लिये प्रश्न ढूँढ लेता है।" क्योंकि यह सत्य है कि जब हम पूर्ण रूप से व्यस्त होते हैं तो हमारे पास कोई प्रश्न नहीं होते, यह सब जानते हैं। कई बार अपने गुरुदेव के समय में और अब भी मैंने देखा है कि जो

ध्यान नहीं करते वही ये प्रश्न पूछते हैं कि ध्यान कैसे करें। जो सफाई नहीं करते वही रुकावटों व स्थूलता के विषय में चिन्तित रहते हैं।

हमारे प्रश्नों का असली उत्तर उत्तर नहीं है बल्कि उसको करना है। खाना कैसे पकाते हैं – मान लीजिये आपकी बेटी पूछती है कि खाना कैसे पकाते हैं – आप इस पर भाषण नहीं देते कि आग कैसे जलायें, उस पर बर्तन कैसे रखें, उसमें पानी कैसे डालें, उसमें चावल कैसे डालें; आप उसे कर के दिखाते हैं कि कैसे किया जाता है। इसी प्रकार व्यवहारात्मक प्रश्नों का उत्तर केवल कर के दिखाया जा सकता है। गुरु भी यही करता है। वह उत्तर को स्थगित कर देता है आप को ध्यान करने का समय देता है, थोड़ी सफाई करना है और प्रश्न का निराकरण करता है। प्रश्न में हमारी रुचि नहीं रह जाती है। अक्सर लोग आकर कहते हैं कि "ओह, आज प्रातः ध्यान में मुझे उत्तर मिल गया।" मेरा यह अनुभव है कि उत्तर तो अभ्यासी की अवस्था में परिवर्तन में था।

आप सबने भी यही पाया जब आप बाबूजी महराज के साथ थे कि हम उनके पास अनेक प्रश्न लेकर जाते, परन्तु उनके सम्मुख होते तो सब भूल जाते। हममें से अधिकतर को प्रश्न पूछना याद ही नहीं रहता जब तक कि हम वापस नहीं आ जाते, और तब हम कहते, "ओह, मुझे इतने प्रश्न पूछने थे, परन्तु मैंने पूछे ही नहीं।" अब वे प्रश्न हमने क्यों नहीं पूछे? क्योंकि जब हम गुरुदेव की उपस्थिति में होते तो जैसे एक गीला कपड़ा धूप में सूख जाता है उसी प्रकार हमारे प्रश्न भी उड़ जाते थे। हमारी हालत बदल जाती थी और हम उस कपड़े की भाँति कहते, "ओह, मैं सूखा कैसे हो गया? मैं सूखने के लिये आया था और मैं सूख गया।" प्रश्नों के साथ यही समस्या है; कि बुद्धि से आते हैं और हमें सताते हैं क्योंकि हम परिणाम के स्थान पर समझना चाहते हैं। एक बीमार को अपनी बीमारी समझाने से क्या लाभ होगा? उसे तो इलाज चाहिये। कई बार आपको डाक्टर की क्लीनिक में ऐसे समस्याप्रद मरीज़ मिलते हैं जो केवल ठीक ही होना नहीं चाहते उन्हें सब उत्तर भी चाहिये। डाक्टर का समय नष्ट करते हैं।

हमें यह पक्का करना है कि हमें जिसकी आवश्यकता है वह हमें प्राप्त हो, न कि जिसकी हम माँग करते हैं। इसलिये नहीं कि हमें माँगने का कोई अधिकार नहीं है, परन्तु इसलिये कि हमें पता नहीं कि क्या माँगें। बाबूजी सदैव कहा करते थे, "हमेशा व्यावहारिक प्रश्न पूछिये।" जब लोग उनके पास आकर पूछते, "क्या ईश्वर है?" वह कहते, "यह

लोग कितने हास्यप्रद प्रश्न पूछते हैं।'' क्योंकि दर्शन भी कहता है कि जिसका अस्तित्व नहीं है, उसके विषय में आप यह प्रश्न पूछ ही नहीं सकते कि यह है या नहीं। आपका यह प्रश्न पूछना कि "क्या ईश्वर है?'' यह सिद्ध करता है कि ईश्वर है। इस कारण बाबूजी सदैव यह सलाह देते थे, "इन बेकार सवालों में अपना समय बरबाद न करो, उसकी मौजूदगी को महसूस करने की कोशिश करो। "इसी कारण वह इस वाक्यांश के विरुद्ध थे "ईश्वर की तलाश।'' आप केवल उस चीज की तलाश कर सकते हैं जो खो गई हो; ईश्वर कभी खो नहीं सकता। हर प्रातः हम अपनी घोषणा सुनते हैं "खोई और मिली हुई वस्तुएँ'' (वह मुस्कुराते हैं)। अब ईश्वर कोई ऐसी चीज नहीं है। हम शायद इस अर्थ में उसे खो बैठे हैं कि हम अपनी चेतना में उससे अलग हो गये हैं और इस अलगाव के कारण हम दुःख भोग रहे हैं। यह ऐसा है जैसे एक व्यक्ति अपने को कमरे में बन्द करके कहे, "कोई हवा नहीं है, कोई हवा नहीं है।'' खिड़कियाँ खोल दो। तो हमें अपने प्रश्नों के उत्तर जानने के लिये केवल अपनी आत्मा की खिड़कियाँ खोल देनी हैं और प्रश्नों के उत्तर नहीं बल्कि उसकी कृपा को प्राप्त करना है। भविष्य में प्रश्नों के सम्बन्ध में यह स्मरण रखियेगा।

दूसरी बात है कि पिछले दो दिनों में मेरे पास बहुत से लोग यह शिकायत लेकर आये हैं कि उनके हृदय में रुकावट है। अब हमें एक बात को समझ लेना चाहिये कि मेरे अन्दर ऐसा कुछ नहीं हो सकता जो किसी ने बाहर से हमारे अन्दर डाल दिया है। वह हमारी स्वयं की उपज है। अब अगर वह कोई भौतिक वस्तु, जैसे खराब भोजन या खराब पानी नहीं है, तो वह अवश्य मानसिक होगी। अधिकतर रुकावटें जो हम अनुभव करते हैं वह मानसिक है। तो हमें सफाई कर के उन्हें हटाना है। फिर वे लोग कहते हैं, "ओह, वह इतना बुरा है कि मैं ध्यान भी नहीं कर पाता।'' मुझे समझ में नहीं आता कि इसे क्या कहूँ, दुःखमय या हास्यास्पद। यह ऐसा है जैसे कि एक रोगी व्यक्ति कहता है, "मैं इतना बीमार हूँ कि दवा भी नहीं ले सकता।'' वह तो करना ही पड़ेगा। अक्सर लोग आकर कहते हैं, "ओह, आपको पता है, मैं साल भर से ध्यान नहीं कर पा रहा और न ही कोई परिणाम है।'' यह और भी विरोधात्मक है कि हम बिना कुछ किये परिणाम की आशा करते हैं। यह मेरे पिछले दो-तीन दिन के अनुभव हैं और इसके कारण मुझे दुःख होता है। अभ्यासी दो साल से ध्यान नहीं कर रहे और फिर परिणाम प्राप्त न होने की शिकायत करते हैं। जब आप उनसे पूछिये कि ध्यान क्यों नहीं करते, तो वे कहते हैं कि

वे रुकावट अनुभव करते हैं। "यह रुकावट कैसे आयी?" "शायद मैंने कुछ किया होगा।" "क्या आप अब भी यह गलती कर रहे हैं?" "दुर्भाग्यवश, हाँ" (हास्य) "फिर तुम उसको क्यों कर रहे हो?" "क्योंकि मैं ध्यान नहीं कर रहा हूँ।" (हास्य)

आप देखते हैं कि यह गोल-गोल चक्कर लगाता रहता है। सो हम इन चीजों के लिये क्या करें? हमें केवल सुबह एक घंटे तक ध्यान करने को कहा जाता है, शाम को १५-२० मिनट सफाई और रात्रि में १० मिनट प्रार्थना। हमारे पास इसके लिये समय नहीं होता या इसके लिये रुचि नहीं होती। एक अभ्यासी ने मुझे आकर यह भी कहा कि जब भी मैं ध्यान करना चाहता था, उसी समय मुझे कुछ और करने को मिल गया। अब जब आपके पास कुछ करने को पहले ही है तो और कुछ करने को मिल जाना कैसे सम्भव है? इसका अर्थ केवल यह है कि आपका मन ध्यान पर नहीं है। उसके लिये केवल एक ही परामर्श था, "कृपया इसे करिये।"

आप देखते हैं यह कितनी मूर्खतापूर्ण स्थिति है कि हम अपनी नासमझी से, अपनी संकल्पशक्ति का दुरुपयोग कर के कितनी समस्या पैदा कर लेते हैं। एक चीज जिस पर बाबूजी हमेशा जोर देते थे : अगर तुम्हारे पास किसी चीज पर लगाने के लिये कुछ भी संकल्प शक्ति है, तो तुम उसका उपयोग तुम जो भी करना चाहते हो उस अन्य कार्य पर भी कर सकते हो । अगर तुम उसी संकल्प शक्ति से एक चीज नहीं कर सकते और दूसरी चीज कर सकते हो तो इसका अर्थ है कि तुम एक चीज करना चाहते हो और दूसरी चीज नहीं करना चाहते। इसमें संकल्पशक्ति की कमी नहीं है। और उसे इसका दोष नहीं दिया जा सकता।

तो वास्तव में ध्यान करने की अक्षमता, वस्तुत: ध्यान करने की अक्षमता नहीं बल्कि ध्यान करने की अनिच्छा है। बाबूजी ने मेरी उपस्थिति में कितने ही अभ्यासियों से कहा था, "अगर मेरे ध्यान करने से आपको लाभ होता, तो मैं खुशी से आपके लिये भी ध्यान कर लेता।" यह बात उतनी ही हास्यास्पद है जितना यह कहना कि "अगर मैं आपके लिये खा सकता तो खा लेता।" आपको खाना तो पड़ेगा ही। तो यह समझने का प्रयत्न करिये कि जब भी आप कहते हैं कि "हम ध्यान नहीं कर सकते" तब आप ध्यान नहीं करना चाहते हैं। क्योंकि प्रकृति में ऐसी कोई शक्ति नहीं जो कि दृढ़ संकल्प का विरोध कर सके। आवश्यकता है कि हम अपनी प्राथमिकताओं को पुन:निर्धारित करें और ध्यान करें। अगर आप ऐसा करें, तो आप देखेंगे कि और

कोई प्रश्न नहीं हैं, हमारे लक्ष्य का पथ सरल व सुगम हो जाता है और प्रगति निश्चित है।

दूसरी बात जो प्रश्नों के विषय में है -- मैंने पहले भी इस विषय में कहा है कि वे अधिकतर हमारी इच्छाओं पर आधारित हैं। तो आप जिस प्रकार से भी देखिये, प्रश्नों का कोई तात्पर्य नहीं है। इसी कारण हम प्रश्नों का तुरन्त उत्तर देने से कतराते हैं। और बौद्धिक उत्तर की हमारे जीवन में कोई प्रासंगिकता नहीं है। मुझे स्मरण है कि एक बार एक युवक के यह प्रश्न पूछने पर कि "क्या ईश्वर है?" उत्तर देते हुए बाबूजी ने पूछा "मान लीजिये मैं कहूँ हाँ, तो आप मान लेंगे?" तो मैंने उनसे कहा, "आप उससे यह क्यों पूछ रहे हैं?" उन्होंने कहा, "इस युवक ने यह प्रश्न सैकड़ों लोगों से अभी तक पूछा होगा। मैं चाहे कहूँ, "हाँ ईश्वर है" या "ईश्वर नहीं है" उसके लिये इसका कोई अर्थ नहीं।" सो आप वास्तव में देखते हैं कि प्रश्न का उत्तर मिलने पर भी यह जरूरी नहीं कि वह अपने आप हमें कुछ भी बताये।

एक बार मेरे पास एक मनुष्य आया जो कि सम्भावित अभ्यासी था, झंझटिया और अत्यन्त तर्कवादी। उसने मुझसे एक प्रश्न पूछा। वह बोला, "क्या आप मूर्ख हैं?" मैंने कहा "हाँ! बेशक, मैं मूर्ख हूँ।" (हास्य) फिर उसने कहा, "आप कैसे ऐसा उत्तर दे सकते हैं?" मैंने कहा, "जब आप मुझसे प्रश्न पूछते हैं, मैं सत्य उत्तर देता हूँ।" वह बोला "नहीं, नहीं, आप उस स्थिति में हैं जहाँ आपके गुरु ने आपको बैठाया है; आप ऐसा उत्तर कैसे दे सकते हैं?" तब मैंने उससे पूछा, "आप मुझसे उत्तर की आशा करते थे?" वह बोला "नहीं, नहीं, मैंने सोचा था कि आप कहेंगे, "नहीं मैं बुद्धिमान हूँ" और मैं कहता, "आप नितान्त मूर्ख हैं।" तो मैंने उससे कहा, "मैंने आपका काम आसान कर दिया है" आपको मालूम है? आश्चर्य जनक बात यह हुई कि वह इतना प्रभावित हुआ कि अभ्यासी बन गया। अब उस उत्तर में क्या था जिससे वह प्रभावित हुआ? केवल बौद्धिक दाँव-पेंच।

मैंने यह उदाहरण आपको मानवीय व्यवहार का एक और पक्ष दिखाने के लिये दिया है। यह आवश्यक नहीं कि प्रश्नकर्त्ता उत्तर से प्रभावित हो। वह तो इससे प्रभावित होता है कि उत्तर किस ढंग से दिया जाता है। इसी कारण अगर कोई पूछे "क्या ईश्वर है" और आप कहें "हाँ" तो वह उठकर चल देगा। परन्तु अगर आप तीन घंटे तक उसके पास बैठ कर कान्ट, शॉपेनावर व नीत्शे की या और कुछ भी निरर्थक बातें करें, बिना उसके प्रश्न का उत्तर दिये, तो वह अत्यधिक प्रभावित होगा। उन्हें उत्तर नहीं चाहिये, वह केवल आपके

ज्ञान की परीक्षा ले रहे हैं। अब गुरु का यह अधिकार है कि वह अपने ज्ञान की परीक्षा देने से इनकार कर दे। या कम से कम आप में सही तौर से परीक्षा लेने की क्षमता तो हो। मेरे विचार में सामान्यत: ऐसे गुरु जैसे मेरे गुरुदेव बाबूजी व लालाजी, ऐसा नहीं है कि वे प्रश्नों का उत्तर नहीं देना चाहते, वे उन सही प्रश्नों की प्रतीक्षा करते हैं जो यह प्रमाणित करेंगे कि इस व्यक्ति में मेरे ज्ञान की परीक्षा करने की, मेरी आध्यात्मिक पहुँच की परीक्षा लेने की क्षमता है। फिर वह शायद हमारा आलिंगन कर हमें स्वीकार करें। कहा जाता है कि ''मनुष्य को उसके प्रश्नों से पहचानो।''

इसलिये बाबूजी ऐसे व्यक्तियों से खीझ उठते थे जो कि अति कामुक व जीवन के निम्नस्तर से सम्बन्धित प्रश्न पूछते थे-- यौन सम्बन्धी प्रश्न या इधर-उधर के प्रश्न कम। वह इस कारण नहीं खीझते थे कि वह झूठी लज्ञा करते थे या विषय गन्दा था। उन्हें दु:ख होता था कि एक मानव जिसके विचार उच्च होने चाहिये वह कितनी निम्न चीजों के विषय में सोचता है। कि आप एक गुरु के पास जाकर ऐसे प्रश्न पूछें – यह उनका दु:ख था। मैं बहुत से लोगों को जानता हूँ जिन्होंने इसे गलत समझा और कहा, "ओह! ये हिन्दू, यौन विषयों में इनका बड़ा संकीर्ण विचार है।" यह मूर्खता है। मैंने किसी दूसरे सन्दर्भ में किसी दूसरे स्थान पर कहा है अगर तुम वास्तव में यौन के सम्बन्ध में जानना चाहते हो तो एक हिन्दू के पास जाओ। पाश्चात्य लोगों को इसके विषय में अभी तक प्राथमिक ज्ञान भी नहीं है। मेरा मतलब है कि हिन्दुओं ने इस विषय पर जो पुस्तकें हजारों वर्ष पूर्व लिखी थीं उसका ज्ञान यहाँ अभी भी नहीं है। तो वह झूठी लज्ञा या इस विषय पर बात करने की अनिच्छा नहीं थी, वह दु:ख था। यह तो ऐसा होता जैसे आप आइन्स्टाइन के पास जाकर पूछें, "दो जमा तीन क्या होता है?'' या ईश्वर के पास जाकर मूँगफली का एक पैकेट माँगें।

यही उनका दु:ख था -- प्रश्न पूछे जाने या प्रश्न का उत्तर देने की अनिच्छा नहीं -- परन्तु उनके जीवन का दुर्भाग्य, कि जहाँ दिव्यता का भंडार है वहाँ लोग इतनी कम रुचि के साथ आते हैं जैसे चूहे पनीर के टुकड़े को कुतरने आते हैं। बेशक यह दुर्भाग्य इतनी सरलता से तो हटाया नहीं जा सकता। क्योंकि मेरे गुरुदेव जैसे लोग इतनी उच्च स्थिति से अवतरित होते हैं कि शायद ही कोई ऐसा प्रश्नकर्त्ता होगा जो उनसे वह प्रश्न पूछ सके जिसकी वे प्रतीक्षा कर रहे हैं। इसी कारण मैंने एक गुरु के जीवन को दु:खमय जीवन कहा है - इस भावार्थ में। आप में से जो माता-पिता है वह जानते हैं कि आपको

कितनी प्रसन्नता होती है जब आपका बच्चा एक बुद्धिमत्तापूर्ण प्रश्न पूछता है। आप क्यों प्रसन्न होते हैं? गुरु के साथ भी ऐसा ही होता है। हम सब उनके बच्चे हैं, और वह हमसे कभी एक बार भी बुद्धिमत्तापूर्ण प्रश्न की अपेक्षा करते हैं। परन्तु दुर्भाग्यवश ऐसे गुरु को अधिकतर निराशा ही मिलती है। आइन्स्टाइन ने भी कहा है, "सही उत्तर जानना आवश्यक नहीं, सही प्रश्न जानना आवश्यक है।"

सो अगर आप गुरुदेव से कुछ चाहते हैं, तो क्या माँगना चाहिये वह पता होना चाहिये। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि यह संसार में सबसे कठिन चीज है, क्योंकि यह ज्ञान का मामला नहीं है, न कोई खोज का मामला है, न किसी जाति का, बुद्धि का, न चेतनता जैसी किसी चीज का मामला। यह तो केवल हृदय की ललक का प्रश्न है। जब वह है तो आप जानते हैं कि गुरुदेव से क्या पूछें। न कि मैं क्या चाहता हूँ, मै क्या बदलना चाहता हूँ, अपने सिरदर्द से पीछा कैसे छुड़ाऊँ, यह काम कैसे पूरा करूँ, अपना घर बदलूँ या नहीं। परन्तु ऐसा व्यक्ति सीधा गुरुदेव के पास जाकर बोलेगा, "गुरुदेव मुझे आपसे एक चीज माँगनी है।" फिर हो सकता है गुरुदेव कहें, "हाँ, कहो क्या है?" और इस मनुष्य में यह क्षमता हो कि वह कह सके, "मैं आपको पाना चाहता हूँ।" केवल यही एक चीज है।

हास्य का रहस्य

५ सितम्बर १९८७, संध्या

जॉन मिशेल गुरुदेव के चरित्र के एक रुचिकर पहलू परिहास - के विषय में कह रहे थे। हम सबने उसका आनन्द उठाया है, खूब हँसे हैं और कभी-कभी कुछ आँसू भी बहाये हैं। और असाधारण चीज़ थी उनकी हाज़िरज़वाबी। हालाँकि वे कहते थे कि वे शिक्षित नहीं हैं और उन्हें अधिक अंग्रेजी नहीं आती, पर वे एक तलवारबाज़ की भाँति थे। उनके प्रत्युत्तर व हाज़िरजवाबी बड़े-बड़े विद्वानों को हैरान कर देती थी, चाहे वे हिन्दी के हों या अंग्रेजी के।

उनके साथ अपने सम्पर्क के दौरान काफी पहले ही मैंने यह जान लिया कि परिहास के लिये भाषा पर अधिकार की आवश्यकता नहीं है। यह एक गलती है और विशेष रूप से अंग्रेज इसके शिकार हैं। वे सोचते हैं कि जब तक आपको अंग्रेजी का पूरा ज्ञान न हो, आप इसमें परिहास कर ही नहीं सकते। यह हास्यप्रद है क्योंकि यह परिहास को भी एक शब्दकोष के अन्दर ला देता है। मेरे गुरुदेव के परिहास का सार था, किसी भी परिस्थिति में से उसके बेतुकेपन को चुनने की क्षमता - भाषा से नहीं परन्तु परिस्थिति से।

अब वे उस बेतुकेपन को चुन कर उसको हास्य का विषय क्यों बनाते थे? इससे अनेक काम होते थे। सर्वप्रथम तो वह तनातनी को कम करते थे। जब हास्य गूँज रहा हो तो तनाव समाप्त हो जाता है। दूसरा, अगर कोई व्यक्ति दुःखी होता और वे उसके बेतुकेपन को परिहास द्वारा खोल देते थे तो समस्या उसके मन में छोटी होकर अपने सही अनुपात में आ जाती थी, क्योंकि हमारे मन में अपनी समस्या को, जो वह वास्तव में है, उससे बढ़ा-चढ़ा कर देखने की प्रवृत्ति है। एक हँसी का फौव्वारा उसे सही अनुपात में ले आता है। तीसरा कारण और भी महत्वपूर्ण है; हास्य सीमाओं को तोड़कर लोगों को उनके अत्यधिक निकट ले आता था।

जो कोई भी उनके निकट रहा है वह इस बात का अनुमोदन करेगा कि मेरे गुरुदेव के पास तीन हथियार थे जिससे उन्होंने मानवता को जीत लिया था: पहला उनका हुक्का था, दूसरा उनकी हँसी थी, और तीसरी सबसे प्रभावकारी चीज थी उनकी आँखों की नटखट चमक,

जिसे उन्होंने न शब्दों में और न हास्य में व्यक्त किया। आपको मालूम है? जो कुछ भी वह कहना चाहते उसे इस प्रकार भावमय आँखों में भर उस व्यक्ति की ओर देखते (उनकी आँखें चमकती हैं)। लोगों को अपनी ओर खींचने की उनकी क्षमता (वह उनके पास नहीं जाते थे परन्तु उन्हें खुद अपनी ओर खींच लेते थे) उनकी मानवीयता में प्रकट होती, अति मानवीयता, जिसके कारण लोग सरलता से कहते, "वह हमारी ही भाँति हैं, हम उनके निकट जा सकते हैं।"

एक चीज उनके परिहास और विनोद में मुझे सदैव दिखाई दी, हालाँकि वे हमारी समस्याओं से निपट रहे थे और हमारे अहं को कम कर रहे थे, वे ऐसी परिस्थिति बना देते जैसे समस्या उनकी हो, फिर अपने पर हँसते और हमें भी हँसाते, किंतु साथ ही साथ उस व्यक्ति को संदेश भी पहुँचा देते जिसके लिये वह निर्दिष्ट होता। यह बहुत महत्वपूर्ण चीज है, वह अपने ऊपर हंसते और लाभ हमें होता। अगर वह सीधे हमारी समस्याओं पर हँसते तो हमारे अहं व आत्मसम्मान को ठेस पहुँचती और शायद हम उन्हें छोड़कर चले जाते। इसी कारण हर समस्या के लिये गुरुदेव का उत्तर था..., मान लीजिये मैं कहता कि मुझे २५ वर्ष से सिरदर्द है तो उनमें शक्ति थी कि देख सकें कि यह कहाँ है, और वह तुरन्त कहते, "क्या यहाँ है?" और हम प्रसन्न हो जाते कि उन्होंने इसका स्थान मालूम कर लिया है और आप कहते, "हाँ बाबूजी, यहाँ है।" तुरन्त वह कस्तूरी या और किसी की ओर देख कर कहते, "देखा, मैं तुम्हें क्या बता रहा था? मुझे भी इसी स्थान पर बीस वर्ष से सिरदर्द होता है।" अब आप ऐसे व्यक्ति के साथ क्या करेंगे जो आपके कहने पर कि आपको सिरदर्द है, अपने सिरदर्द की चर्चा करने लगे। यही बात पेटदर्द के साथ थी, कोई भी चीज जो आपको थी, वही उन्हें थी। फिर वह इस पर हँसते और किस्सा सुना देते -- कैसे वह लालाजी के पास गये, "जैसे पार्थसारथी मुझे अपने सिरदर्द के बारे में बता रहे हैं, मैंने लालाजी को अपने सिरदर्द के बारे में बताया।" और लालाजी ने कहा, "मैं तुम्हारे लिए प्रार्थना करूँगा" फिर वे मीठी मुस्कान के साथ कहते, "देखो मैं तुम्हें बताता हूँ, मैं अपने गुरुदेव से अधिक तो नहीं कर सकता। मैं भी तुम्हारे लिए प्रार्थना करूँगा।" फिर वे एक बालक की भाँति हँस कर कहते, "सिरदर्द में क्या है जो हम इतना चिन्तित हैं?"

उनका परिहास भाषा के हेर फेर का परिहास नहीं था, और न ही वे किसी का मजाक उड़ाने के लिये किसी स्थिति को पकड़ते। उनका परिहास दिव्यता से अलंकृत औषधि स्वरूप होता था। उनकी

हँसी दवा का काम करती, लोगों की बीमारी दूर करती, उनके मन व हृदय को शांत कर उन्हें पूर्णता प्रदान करती। वह इस पुरानी कहावत का पक्का सबूत थे कि "अगर तुम हँसो, तो तुम अपनी समस्याओं को हँस कर उड़ा दोगे।" हम सब को अपनी समस्याओं पर हँसने की कोशिश करना चाहिये, क्योंकि अगर हम बैठकर उन पर चिंता करते रहें, "ओह, मेरा सिरदर्द," तो वह बढ़ता ही जाता है। क्या आपने कभी दो रोगियों को अपने रोगों के विषय में बात करते देखा है? (हास्य) वह अत्यधिक दर्शनीय होता है। हर एक अपने दुःख के अधिक दर्दनाक होने का दावा करता है, कई बार यहाँ तक कि आपको आश्चर्य होता है कि वे यह किस्सा बताने के लिये जीवित कैसे हैं? नहीं, मैं मजाक नहीं कर रहा, यह सच है। परन्तु जब हम अपनी ही बीमारी पर हँसते हैं तो उसकी पकड़ ढीली हो जाती है, और हम काफी हद तक अपना इलाज कर लेते हैं। तो बाबूजी की हास्य-तकनीक का यही रहस्य था।

मुझे विश्वास है कि यहाँ कई मनोवैज्ञानिक व चिकित्सक हैं; वे और अधिक लोगों की सहायता और कम खर्चे में कर पायेंगे अगर वे अपनी क्लिनिक में मुँह लटका कर बुद्धिमान होने का दिखावा करने के बजाय केवल हँस पायें। यह बुद्धिमत्ता का दिखावा सब से बड़ा रोग है, क्योंकि जिस क्षण आप सोचते हैं कि आप बुद्धिमान हैं तो आप को सारा ज्ञान होना चाहिये। और जब आपको सब ज्ञान होगा तो वह आपके क्रिया-कलाप और इलाज में दिखायी देगा। तो, जो बेचारा आपके पास सिरदर्द लेकर आयेगा, उसे केवल दो गोलियाँ सेफिल की नहीं मिलेंगी बल्कि उसे १७ मनोविज्ञान की पुस्तकों का सामना करना पड़ेगा। मेरे भाई जो मनोविज्ञान व मनोवैज्ञानिक चिकित्सा से सम्बन्धित हैं उनके प्रति बिना किसी अवहेलना के मेरा सुझाव है कि वे अपनी बुद्धिमत्ता द्वारा नयी बीमारियों को जन्म देते हैं। तो कृपया.... (हास्य) यह सत्य है । (वे मुस्कराते हैं) (हास्य) तो मेरा सुझाव है कि हास्य-क्लिनिक होनी चाहिये (हास्य) जहाँ आप बैठ कर हँस सकें। और आप देखेंगे कि संसार एक स्वस्थ स्थान ही नहीं अपितु एक अधिक सुरक्षित स्थान भी होगा।

क्योंकि मनुष्य जाति का सब से बड़ा शत्रु हथियार नहीं बल्कि बुद्धिमान कहे जाने वाले व्यक्ति का अत्यधिक अहं है। वैज्ञानिक अनुसंधान में यही अनर्थकारी प्रवृत्ति का रूप ले लेता है। उदाहरण के तौर पर महज यह दर्शाने के लिये कि हमें कुछ पता है, हम जीन्स की लड़ी गूँथना चाहते हैं। किस लिये? दानव पैदा करने के लिये? तो आप

देखते हैं कि पुराना ज्ञान कि हम जो कुछ करें मानवता के कल्याण के लिये हो, इसका अर्थ अब नहीं रह गया है। आप सबको मालूम है कि अगर आप किसी को बेचैन अथवा लज्जित करना चाहते हैं तो उस पर हँसिये। यह एक ऐसा हथियार है जिसका कोई मुकाबला नहीं। आप जितना अधिक हँसेंगे वह उतना ही विचलित होगा। शत्रु को हास्य द्वारा बेहथियार कर देने की कला को हम भूल गये हैं। मेरे गुरुदेव ने इसे दक्षता दी। यही हास्य का रहस्य है।

सहजता

६ सितम्बर १९८९, प्रातः

इनमें से कुछ लोगों को देख कर मुझे कुत्ते का ख्याल आता है। आप को पता है, कैसे? क्योंकि जब आपका कुत्ता आपके साथ खेलना चाहता है तो वह अपनी गेंद लाकर आपसे करीब एक मीटर की दूरी पर रख कर आपकी ओर आशा से देखता है। (हास्य) अगर आप ध्यान न दें तो वह गेंद को दस सेन्टीमीटर और करीब लाकर (हास्य) फिर आपकी ओर देखेगा। (हास्य) आप फिर भी ध्यान न दें, तो वह बहुत करीब आकर गेंद आपके पैरों के पास रखकर प्रेम भरी दयनीय आँखों से आपकी ओर देखेगा; आप फिर भी दूसरी ओर देखें तो वह धीरे से गेंद को आपके पैरों पर रख कर आपकी ओर देखेगा, दुम हिलायेगा, एक बार भौंकेगा और फिर आपको उसके साथ खेलना ही पड़ेगा। इसी भाँति यह माइक्रोफोन को धीरे-धीरे मेरे करीब खिसका रहे हैं। (हास्य) परेशानी यह है कि मुझे पता नहीं कि क्या बोलूँ। (हास्य) अगर आप किसी के पास कोई विषय है...

प्रश्न - जेन एक विषय के बारे में कह रही थीं, जो मैंने आपको बताया था।

उत्तर - नहीं, मैं सहज मार्ग के विषय में अत्यधिक नहीं बोलना चाहता। आप सब को ध्यान और सफाई की आवश्यकता के विषय में पता है, पिछले सप्ताह इस पर काफी बोला जा चुका है। कभी-कभी यह आवश्यक होता है कि किसी गम्भीर विषय पर अत्यधिक गम्भीर न हों। मुझे याद है कि मेरी पहली नौकरी के दौरान मेरे एक अफसर कहा करते थे, ''ऐसे काम करो कि जैसे खेल रहे हो, और ऐसे खेलो जैसे काम कर रहे हो।'' मेरे विचार में कई बार सहज मार्ग में बड़ी समस्या यह हो जाती है कि हम उसे अत्यधिक गम्भीरता से लेते हैं। हम उसे ''सहज मार्ग'' कहते हैं, परन्तु उसके बारे में अत्यधिक गम्भीर होकर उसे असहज कर देते हैं। असली रहस्य इसमें है कि हम इसे अस्तित्व का अंग बना लें, जैसे कि हम चौबीसों घंटे ध्यान कर रहे हैं, सफाई कर रहे हैं और सतर्क हैं। जब हम चीजों को अत्यधिक व्यवस्थित कर देते हैं तो समस्या यह होती है कि वह अपनी सहजता खो बैठती है और हमारे जीवन से अलग चीज हो जाती है। इसी

कारण कल रात को मैं आपको बाबूजी और उनके मज़ाक के विषय में बता रहा था, शायद वह इस प्रकार विषय को अधिक गम्भीर न बनाकर उसे अधिक मानवीय बनाना चाहते थे। चीजों को व्यवस्थित करने या कड़े नियमों में बाँधने की यही समस्या है। मैंने इसमें भी देखा है कि जब आप दफ्तर जाते समय अपनी पत्नी और बच्चों को चुंबन करते हैं, तो यह एक नियम सा बन जाता है जो अपनी स्वाभाविकता खो बैठता है। एक चुंबन, चुंबन ही रहना चाहिये। अगर आप काम पर जाने के पूर्व बिना ध्यान दिये केवल अपने होठों का मक्खन चुंबन द्वारा पत्नी पर उतार रहे हैं तो उसमें कुछ मजा नहीं रह गया। वह एक और कर्मविधि बन जाती है। इस प्रकार घर पर हमारी कर्मविधियाँ हैं, कार्य स्थल पर कर्मविधियाँ हैं, जैसे बिना सचमुच ऐसा अनुभव करे धन्यवाद कहना। उदाहरणार्थ, अगर आपका उच्च अधिकारी आपके कार्य की आलोचना करते हुए एक पत्र आपको देता है, तो आप उसको पढ़कर उसे घूँसा जमाना चाहते हैं, परन्तु आप कहें, "आपको धन्यवाद"--- यह तो पागलपन है।

हमारे प्रातः उठने से लेकर रात में सोने तक ऐसी अनेक कर्मविधियाँ हमारे जीवन में हैं। कोई सोचेगा कि कम से कम नींद में तो ऐसी कोई कर्मविधि नहीं होगी। किंतु आप बाल्यावस्था से आरम्भ करें तो वहाँ भी कर्मविधियाँ हैं। बच्चे को सोते समय अपना भालू का खिलौना चाहिये। और कभी-कभी ये बच्चे पंद्रह या सोलह की उमर के हो जाते हैं फिर भी वे उस भालू के बिना सो नहीं सकते। मैंने इस प्रकार के बच्चे देखे हैं, और उन्हें वही भालू चाहिये। अगर आपने उसे बदल दिया तो वे सो नहीं सकते। मैं एक व्यक्ति को जानता हूँ जो इतना जबर्दस्त प्रशिक्षित था कि जब वह सोये तो खिड़की हमेशा उसके बाईं ओर होनी चाहिये।

बचपन से दी गयी इन कर्मविधियों का प्रशिक्षण हमें यांत्रिक पुतला बना देता है, यहाँ तक कि हम अपनी सारी स्वभाविकता खो बैठते हैं। और हम हर कार्य ऐसे करते हैं जैसे कोई रोबो कर रहा हो। यह हमें बेकार बना देने वाली चीज है। जहाँ कोई स्वाभाविकता नहीं, वहाँ कोई आनन्द नहीं। इसी कारण लोगों की आँखों में देखने पर वही भाव, वही निराशा, वही आकांक्षा मिलती है। वह क्या देखते हैं, क्या अनुभव करते हैं, क्या करते हैं, उसमें बहुत ही कम अन्तर है। मैंने देखा है कि जब वह किसी कला प्रदर्शनी या कला परिषद में भी जाते हैं तो बिना सूची तालिका में दिये गये विवरण के चित्र भी नहीं देख सकते। उसे देखने के बाद वह उसकी प्रशंसा करेंगे, "ऊ... ला ला"

तथा "अहा" तथा "ओह हो" आदि कहेंगे। (हास्य) कभी-कभी, बल्कि नहीं, अक्सर वह किसी मूर्ख द्वारा रचित बे सिर-पैर की चीज लगती है। परन्तु जन साधारण के सम्मुख हमें प्रशंसा करनी चाहिये, तो हम अपनी स्वाभाविकता ही नहीं अपनी ईमानदारी भी खो बैठते हैं। "उस चित्र के विषय में आपकी क्या राय है?""ओह, यह आश्चर्यजनक है।" और कभी-कभी आप उस विचित्र वस्तु को मोल लेकर अपने घर में भी लगा देते हैं --- एक बहुत महँगी मूर्खता।

अगर आप आज अपने चारों ओर लोगों का अध्ययन करें तो देखेंगे कि कोई स्वाभाविकता नहीं है। आपकी छुट्टियाँ भी अस्वाभाविक होकर एक बाध्यकारी चीज बन गयी हैं। किसी को पहाड़ पर ही जाना है, वह जंगल या झील की ओर नहीं जा सकता। मज़ा कहाँ है? मज़ा केवल उसी चीज को बार-बार दोहराने में है। जो व्यक्ति बियारिट्ज़ जाता है उसे सदैव बियारिट्ज़ ही जाना है। कोई तिब्बत जाता है तो उसे हमेशा तिब्बत ही जाना है। तो आप देखते हैं कि हमारी छुट्टियाँ भी कैसी अस्वाभाविक, आवर्ती तथा उबाने वाली बन गयी हैं। और अगर आपकी छुट्टियों का यह हाल है तो आपके काम का क्या हाल होगा? जीवन में कोई आनन्द नहीं रह गया। फिर से स्वाभाविकता को लाकर हमें उस आनन्द को लौटाना है।

अगर हम सहज मार्ग में इसलिये आते हैं कि वह विकास का एक स्वाभाविक मार्ग है, तो यहाँ भी हम इसे एक पद्धति बना कर, नियम बना कर उसका अश्मीकरण कर देते हैं। फिर जैसा कि बाबूजी सदैव व्यक्त करते थे, वह बड़ा संकट उत्पन्न हो जाता है कि ध्यान भी एक यांत्रिक निर्जीव वस्तु बन जाता है। ऐसे में हमारी प्रगति कैसे होगी? नियम व कायदे तो होने ही चाहिये, पर वे हमारे कपड़ों की तरह ढीले और आरामदेह होने चाहिये, जिन्हें आवश्यकता पड़ने पर हम उतार कर फेंक सकते हैं।

मेरे विचार में मैंने बड़े साहस के साथ कई बार कहा है कि कई नियम तोड़ने के लिये भी होते हैं। स्मरण रखने की बात यह है कि हम उन्हें कब तोड़ें? उदाहरणार्थ, मैं उस दिन वेल्स और लन्दन के बीच एक अन्तर्नगरीय एक्सप्रेस गाड़ी में सफर कर रहा था, तो खिड़की के ऊपरी कोने में प्लास्टिक में लिपटी एक सुन्दर छोटी हथौड़ी देख कर मैं चकित हुआ। उस पर लिखा था, "आपत्ति के समय शीशा तोड़ने के लिये इस हथौड़ी का प्रयोग करें।" हाँ, क्योंकि गाड़ी सब तरफ से बन्द है, और बिजली की खराबी के कारण अगर गाड़ी रुक जाये तो वातानुकूलन रुक जायेगा, और सब दरवाजे खिड़कियाँ बन्द

होने के कारण आप दम घुट कर मर सकते हैं; या दुर्घटना में गाड़ी के उलट जाने पर खिड़की तोड़नी पड़ेगी।

तो आप देखते हैं कि हर पद्धति के अन्दर एक स्वनिर्मित लचीलापन है जो आवश्यकता पड़ने पर आपको उस नियम को तोड़ने की क्षमता देता है। मुझे नहीं मालूम कि जर्मन लोग इस पर सहमत होंगे कि नहीं। (हास्य) परन्तु यह सत्य है। मैं उस हथौड़ी से शीशा कब तोड़ूँ? वह भी बताया गया है-- "आपत्ति के समय"। अगर मैं बिना आपत्ति के तोड़ूँ तो क्या होगा? नियम के अनुसार ५०० पाउंड का जुर्माना होगा। तो ऐसा नहीं है कि आप नियम तोड़ नहीं सकते, परन्तु उन्हें केवल तब तोड़ना चाहिये जब आवश्यक हो। दूसरे शब्दों में कहें, तो नियम इतने कड़े नहीं होने चाहिये कि हम शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक रूप में भी उनमें कैद हो जायें।

मुझे एक शिक्षा मिली थी जिसे मैं बहुत कीमती समझता हूँ। यह मुझे अपने अफसर से मिली थी जो बहुत अच्छे तथा काफी उदार विचार के थे। यह १९५५ की बात है, मेरे गुरुदेव के पास जाने के काफी पहले। मैंने एक विक्रेता के रूप में अपनी कम्पनी में काम आरम्भ किया, शायद सब से कनिष्ठ विक्रेता। मुझे काम करते हुए करीब तीन माह हुए होंगे और एक दिन सब से तंग आकर मैं २ बजे दफ्तर छोड़कर सिनेमा देखने चला गया। मैं ऐसे ही उठकर चला गया, सिनेमा देखा और शाम को साढ़े छः बजे घर चला गया! उस दिन बड़े अफसर साहब मुझसे मिलना चाहते थे। हमेशा ऐसा ही होता है! तो अगली सुबह जब मैं पहुँचा तो सब मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे, "चारी, तुम कहाँ थे? अफसर साहब ने कल अपराह्न में तुम्हें बुलाया था और आज सुबह सबसे पहले उन्होंने तुमसे ही मिलना चाहा है।" अब मुझे पता था कि मेरा बुलावा कोई सम्मान की बात नहीं थी। फिर भी मैं उनसे मिलने गया। वह काफी गुस्सा थे, "तुम कल तीसरे पहर कहाँ थे?" एक क्षण के लिये मैं उनसे झूठ बोलने की सोच रहा था। मैं एक विक्रेता हूँ और कहीं भी बाजार में किसी ग्राहक के पास हो सकता था। झूठ बोलना सरल था। परन्तु मैंने उनसे सच कहा, "मैं दफ्तर से तंग आ गया था, इसलिये एक सिनेमा में जाकर बैठ गया था।" मैंने सोचा कि वह मुझे नौकरी से निकाल देंगे, परन्तु वह बहुत प्रसन्न हुए और मुस्करा रहे थे। वह बोले, "मैं चाहता हूँ कि मेरे अफसर ऐसा ही करें। केवल यहाँ बैठकर घड़ी देखने से क्या लाभ? ऐसे में तुम मुझे कोई लाभ नहीं पहुँचाते। मैं प्रसन्न हूँ कि तुमने जाकर अपना दिमाग तरोताजा कर लिया; कम से कम आज तुम बेहतर काम करोगे।"

वह एक समझदार अफसर थे और जानते थे कि कुछ मानसिक परिस्थितियों में काम करना सम्भव नहीं। चाहे तुम दफ्तर में बैठे रहो, उससे कुछ लाभ नहीं।

अब, ऐसे कई मौके होते हैं, जब हम ध्यान को भी ऐसी ही रूढ़ चीज बना लेते हैं। लोग ध्यान की मुद्रा में बैठते हैं, परन्तु ध्यान नहीं करते। अब आज जो मैं कह रहा हूँ वह कुछ खतरनाक बात है। आप उसका गलत अर्थ निकाल कर यह मत कहियेगा, "ओह, आज मेरा ध्यान करने का दिल नहीं है; मैं ध्यान नहीं करूँगा।" इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है। तात्पर्य यह है कि उसे एक अस्वाभाविक और रूढ़ चीज बनाने के बजाय, उसे इतना स्वाभाविक बनायें, जैसे हमारा श्वास लेना, कि बिना ध्यान के हम जीवित ही नहीं रह सकते। अब इसमें अन्तर क्या है? जब हम नियम का पालन करके ध्यान के लिये बैठते हैं – जैसा कि दस नियमों में पहले के अनुसार : सूर्योदय के पहले उठो और ध्यान में बैठो – ऐसे में हम अपने मन से, बुद्धि से आज्ञापालन करते हैं। परन्तु जब हम गुरुदेव से प्रेम करना सीख जाते हैं और इसे अपने जीवन का एक अंग बना लेते हैं, तब हम दिल से काम करते हैं। फिर वह सफल होता है। तो चाहे हम आग्रह करें, बहुत बल देकर भी कि लोग नियमित हों, लोग ठीक समय पर बैठें लोगों में, विशेष कर प्रशिक्षकों में, थोड़ा सा लचीलापन दिखाने की उदार प्रवृत्ति अवश्य होनी चाहिये। "आज आठ बजे के बदले आप नौ बजे आये हैं। ठीक है, मैं आपको सिटिंग देता हूँ।" एक पुलिस वाले की भाँति नहीं, "नहीं, नहीं, आज नहीं, मेरा समय समाप्त हो गया है।" क्योंकि हमें इस बात का ज्ञान नहीं है कि किन परिस्थितियों में वह बेचारा ध्यान नहीं कर पाया। तो एक ओर हमें अनुशासन रखना है, दूसरी ओर लचीलापन भी आवश्यक है।

अब मेरे गुरुदेव, बाबूजी के जीवन पर जब हम आते हैं, उन्होंने लिखा है कि अपने जीवन काल में वह लालाजी से केवल कुछ ही बार मिले। उनका सम्बन्ध शायद दस या ग्यारह वर्ष का था और वह शायद लालाजी से दस बार से अधिक नहीं मिले। मैं अपने गुरुदेव से हर वर्ष कम से कम तीन बार मिलता था और उनके साथ हफ्तों और कभी-कभी महीनों रहता था। तो उन्हें गुरु के संग का उतना लाभ नहीं मिला जितना मुझे मिला। दूसरी बात जो बाबूजी ने खुद मुझे कई बार बतायी कि जब वह लालाजी के अभ्यासी थे तो वह बहुत कम ध्यान करते थे। उनके प्रशिक्षक पंडित रामेश्वर प्रसाद थे जिनका नाम 'सत्य का उदय' में है, जो पुस्तक उनको ही समर्पित है। वह जब भी

ध्यान करते थे तो कभी तीन मिनट और कभी पाँच मिनट के लिये। उनके समय में लालाजी के ऐसे शिष्य भी थे जो ऋषियों की भाँति ध्यान करते थे। फिर भी वह गुरु बने और बाकी अभ्यासी ही रहे। इससे हमें यह भी पता चलता है कि हम कितने समय के लिये ध्यान में बैठते हैं, यह उतना महत्वपूर्ण नहीं। हम उस समय में क्या करते हैं यह महत्वपूर्ण है। एक घंटा ध्यान में बैठने का क्या लाभ अगर मैं उस एक घंटे में तीन मिनट भी ध्यान नहीं करता? मैंने गुरुदेव के दस नियमों का पालन किया है, परन्तु वह बेकार है। बाह्य रूप से तो मैंने आज्ञापालन किया है पर आन्तरिक रूप से नहीं।

तो हमें एक आन्तरिक आज्ञापालन पैदा करना है, जो हृदय से हो, और यह तभी हो सकता है जब हम वह करें जो हमें प्रिय है और जो हम करें वह हमें प्रिय हो। तो सहज मार्ग निश्चय ही कोई ऐसी चीज हो जाना चाहिये जिसे करना हमें प्रिय लगे, और जो हम करते इसलिए हैं कि वह हमें अत्यन्त प्रिय है। इसका अर्थ है कि वह मेरा बनना ही चाहिये। वह एक पद्धति नहीं, मेरे जीने का तरीका है। मैं प्रातः उठकर उस स्थान पर जाता हूँ जो मैंने इस क्रिया के लिए रखा है, सहज रूप से ध्यान में बैठता हूँ, बिना इस चेतना के कि मैं ध्यान कर रहा हूँ, दस नियमों का पालन करता हूँ, बिना उनको स्मरण किये। जैसे एक चालक वायुयान चलाने के पहले सब यंत्रों को भली भाँति चेक करता है, क्योंकि उसे एक मशीन से वास्ता है – हमें भी दस नियमों का पालन अपने जीवन के परिवर्तन के लिये करना है किंतु इस प्रकार कि हम उन्हें स्वाभाविक रूप से अपनायें। सच बोलना स्वाभाविक हो जाता है। किसी को यह पूछने की आवश्यकता न हो, "क्या तुम सच कह रहे हो?" और अगर कोई तुमसे यह प्रश्न पूछे भी तो तुम्हें सच और झूठ का अन्तर मालूम न हो। जब मेरा ध्यान के लिये बैठना सहज हो, ध्यान सहज हो, दस नियमों का पालन सहज हो, केवल तभी मैं वह बनता हूँ जो मेरे गुरुदेव मुझे बनाना चाहते थे। नहीं तो अभी मैं कुछ बनने का प्रयास कर रहा हूँ। प्रशिक्षकों के साथ संघर्ष, गुरुदेव के साथ संघर्ष, अपने आप के साथ संघर्ष कर रहा हूँ। हमारा मन विभाजित है।

देखिये, जब आपको सोचना पड़े : मैं करूँ या नहीं? तो मन में विभाजन है। लोग कभी-कभी कहते हैं, "आह! यह सब इतना कठिन है, तो यह सहज कैसे हो सकता है?" बाकी सब चीजों के लिये हमारे जीवन में स्थान है, तुम्हारे पास एक गुसलखाना है, दाँत साफ करने का स्थान है। अपनी कंघी व अन्य चीजें रखने का स्थान है। आप

उन कार्यों के लिये उनके स्थान पर जाते हैं और खाने की मेज पर खाना खाने के लिये, सोने के कमरे में सोने के लिये। तो ध्यान के लिये स्थान होने में आश्चर्य क्यों? क्योंकि यह विचित्र बात है कि कई लोगों ने मुझसे कहा है कि उनके पास ध्यान करने के लिये कोई स्थान नहीं है। मेरी समझ में नहीं आता कि यह कैसे सम्भव है। आप खाने की मेज की कुर्सी पर बैठकर ध्यान कर सकते हैं; अपने बिस्तर पर बैठ कर सोने के कमरे में ध्यान कर सकते हैं। मुझे तो इसमें कोई कठिनाई दिखाई नहीं देती सिवाय इसके कि आजकल लोगों के दिमाग ऐसे खण्डों में बँट गये हैं कि उन्हें केवल ध्यान के लिये एक कमरा चाहिये जिसे बिलकुल अलग रखा जाय। अब बाबूजी ने यह तो नहीं कहा, ''ध्यान के लिये एक अलग कमरा बनाओ।'' उन्होंने कहा है, "ध्यान के लिए एक स्थान रखो।'' हमारे घर में सैकड़ों स्थान होते हैं। मैं जानता हूँ कि स्थान न होने पर लोग सीढ़ियों पर बैठ कर ध्यान करते हैं और वे वहाँ ध्यान कर भी पाते हैं। जमीन पर बैठे हुए लोग, सड़कों पर बैठे हुये लोग। इसलिये जब बाबूजी होते हैं और इतनी भीड़ होती है कि जगह नहीं होती तो हम सीढ़ी पर बैठकर ध्यान कर सकते हैं, सड़क की पटरी पर बैठ कर ध्यान कर सकते हैं। तो वहाँ ध्यान करना कठिन नहीं। हमें किसी प्रेरणा की आवश्यकता है – कि गुरुदेव वहाँ हैं, क्योंकि कोई और स्थान नहीं है तो हम यहीं बैठ जायेंगे। अब अगर वही स्थान हमारे पास है, और आप अपने हृदय में सचमुच यह अनुभव करते हैं कि गुरुदेव सदैव आपके साथ हैं तो फिर आप प्रतिदिन सीढ़ी पर बैठकर ध्यान क्यों नहीं कर सकते?

तो आप देखते हैं कि यह मानसिक सामंजस्य का प्रश्न है। मन केवल तब सामंजस्य बैठाता है जब हमारा हृदय वैसा करना चाहता है। इसलिये मैं प्रशिक्षकों से प्रार्थना करूँगा कि वह अपने तरीके में लचीलापन पैदा करें, किन्तु अभ्यासियों को अवश्य ही अनुशासित होना चाहिये। यह सदा से विचित्र असंगति रही है कि अनुशासन व स्वतंत्रता को साथ-साथ चलना है। बिना अनुशासन के स्वतंत्रता नहीं हो सकती और बिना स्वतंत्रता के अनुशासन नहीं होना चाहिये। हमें इनमें से किसको कितनी आवश्यकता है यह हम पर निर्भर करता है। अपने जीवन के निम्नतर स्तर पर हमें पूर्ण अनुशासन की आवश्यकता है और हमें थोड़ी सी स्वतंत्रता होती है। उच्चतम स्तर पर हमें पूर्ण स्वतंत्रता होती है, परन्तु हमें स्वयं को अनुशासित करना होता है ताकि हम सामाजिक व कानूनी आवश्यकताओं का अनुपालन कर सकें।

तो यह जीवन की विचित्र पहेली है कि अनुशासन व स्वतंत्रता साथ-साथ चलते हैं, और सभी चीजों की भाँति, जैसे प्रकाश व छाया, अहंकार व प्रकाश, अच्छाई व बुराई, सच व झूठ, सभी परस्पर विरोधी। तो हम बाहर से आरोपित अनुशासन से आरम्भ करते हैं और लगातार तरक्की करते जाते हैं जब तक कि हम अपने को आन्तरिक रूप से अनुशासित न कर लें। प्रथम अवस्था में वह कृत्रिम और बाहर से थोपा गया होता है। उच्चतम स्थिति में वह स्वाभाविक है, मेरे जीवन का अपना तरीका है। मेरे लिये अब यह आज्ञापालन के रूप में बरता गया अनुशासन नहीं रहा, बल्कि मैं अनुशासित हूँ। इसी प्रकार हम ध्यान, सफाई, रात्रि की प्रार्थना, यह सब अपने ऊपर लागू करते हुए आरम्भ करते हैं। ऐसी चीज़ जिसे करना पड़ता है क्योंकि गुरुदेव कहते हैं कि अगर तुम्हें विकास करना है तो यह आवश्यक है। परन्तु जैसे-जैसे हमारा विकास होता है, हम यह करते हैं क्योंकि हम इसे करना चाहते हैं। यात्रा के अन्त तक हम वह करते हैं, परन्तु अब वह सब स्वाभाविक है।

फिर अगर आप गुरुदेव से पूछें, ''क्या आप ध्यान करते हैं?'' तो वे उसका उत्तर 'हाँ' या 'न' में नहीं दे पायेंगे, क्योंकि उनके लिये चाहे वह सोये हों, या जगे हों, अथवा स्वप्न में हों, सब ध्यान है। ऐसे व्यक्ति के लिये आप यह नहीं कह सकते, ''आप सच बोल रहे हैं,'' क्योंकि वह जो भी कहते हैं सच हो जाता है। उनके आशीर्वाद के रहस्य का सत्य यही है। आशीर्वाद कैसे कार्य करता है? क्योंकि ऐसा गुरु जो कहता है वह प्रकृति को भी मानना पड़ता है। तो अगर वह कहें, ''तुम स्वस्थ रहो'' तो तुम्हें स्वस्थ रहना ही है। अतः हम उस स्तर से जहाँ हमें सत्य बोलना पड़ता है, वहाँ पहुँचने के लिये ऊपर बढ़ते हैं जहाँ हम जो बोलते हैं वही सत्य हो जाता है।

तो सहज मार्ग साधना का यह रहस्य है कि जब तक हम यह सोचते हैं कि हम ध्यान करने के लिये, सफाई के लिये, रात्रि-प्रार्थना के लिये बाध्य हैं, तब तक वह सहजता अथवा स्वाभाविकता जिसका सहज मार्ग दावा करता है अभी तक नहीं आयी। तो मैं आप सब से प्रार्थना करूँगा कि इस स्वाभाविकता को अपने जीवन में लाने का प्रयत्न करें; तो आप देखेंगे कि यह केवल आपकी साधना को ही परिवर्तित नहीं करेगी, परन्तु आप जो कुछ भी करते हैं उसे परिवर्तित कर देगी।

धन्यवाद।

भविष्य भीतर है

७ सितम्बर १९८७, प्रातः

मेरे ख्याल से परसों सुबह, करीब तीन बजे की बात है, मैं पूरी तरह जगा नहीं था, न ही सो रहा था। यह कोई बीच की अवस्था थी। कुछ ईश्वर के विषय में विचार आये। यह कोई निश्चयात्मक या सुसंगत प्रस्तुतीकरण नहीं, बल्कि कुछ ऐसे ही बेतरतीब विचार हैं जो मैं आपके सामने रखना चाहूँगा।

पहला विचार जो मेरे मन में उभरा, वह था कि ईश्वर के लिये न तो यह कहा जा सकता है कि वह है और न ही यह कहा जा सकता है कि वह नहीं है। मैं सोच रहा था कि यह कैसे सम्भव है। मैंने निश्चय किया, यह इसलिये था कि हम उसकी खोज किसी विशेष स्थान या समय में नहीं कर सकते, और न ही हम यह कह सकते हैं कि वह किसी स्थान या समय में नहीं है। फिर यह विचार आया कि अगर हम पदार्थ के भीतर तक जायें तो हमें अन्त में कहीं तो ईश्वर मिलेगा। फिर ज्योतिष विज्ञान के विषय में कुछ विचार आये कि जब हम अपने इस संसार, पृथ्वी से बाहर की ओर चलते हैं, तो उदाहरणार्थ भू-विशेषज्ञ हमें बताते हैं कि भू-क्रोड बहुत घनत्व के पदार्थ से ठसाठस भरा है, परन्तु जैसे-जैसे हम केन्द्र से बाहर परिधि की ओर आते हैं तो घनत्व कम होता जाता है। फिर हम वायुमण्डल में आते हैं और वहाँ घनत्व और भी कम से कमतर होता जाता है। फिर हम अन्तरिक्ष में जाते हैं और ऐसे क्षेत्रों में आते हैं जहाँ पर वस्तुतः कुछ भी नहीं है और हम उसे शून्य कहते हैं। परन्तु फ्रेड हॉयल जैसे खगोलज्ञ हमें बताते हैं कि अन्तरिक्ष के बाह्यतम क्षेत्रों में भी कोई ऐसा स्थान नहीं है जहाँ हम कह सकें कि पूर्ण शून्यता है, सम्पूर्ण निर्वात है। उदाहरणार्थ, हॉयल यह अनुमान लगाते हैं कि अन्तरिक्ष के सुदूरतम क्षेत्र में भी अन्तरिक्ष के हर घन मील या चार घन किलोमीटर में पदार्थ का एक कण होता है। तो कहीं भी पूर्ण शून्यता नहीं है। एक अर्थ में हम कह सकते हैं कि इस भौतिक ब्रह्माण्ड में भौतिकता इसीलिये है कि वहाँ भी पदार्थ का एक कण है।

फिर मुझे विचार आया कि अगर हम उस कण को भी हटा दें तो क्या हम ईश्वर तक पहुँच जायेंगे। फिर मुझे स्मरण आया कि

बाबूजी ने एक बार मज़ाक में कहा था कि भगवान को भी रहने के लिये स्थान की आवश्यकता है, इसलिये दार्शनिक रूप से बात करने पर अन्तरिक्ष को ईश्वर के पहले मानना चाहिये। उन्होंने जब यह कहा था, तो खूब हँसे थे। परन्तु उन्होंने वाद में यह भी कहा था कि यह केवल मज़ाक नहीं है। फिर मैं सोचने लगा, "क्या हम अन्तरिक्ष को ईश्वर कह सकते हैं?" यह थोड़ी झंझट की बात थी क्योंकि सभी दार्शनिक व रहस्यवादी सिद्धान्त जब संसार की सृष्टि की बात करते हैं तो वह एक प्रकार के मूल व प्रारंभिक अणु की बात करते हैं। तो ऐसा लगता है कि पुराने रहस्यवादियों ने अन्तरिक्ष को ईश्वर न मानकर किसी और को ईश्वर माना। अगर ईश्वर नहीं तो कम से कम संसार की सृष्टि का मूल। तो हम 'उसे' कहाँ खोजें? अगर हम उसे बाहर खोजने का प्रयत्न करें तो समस्या का कोई समाधान नहीं मिलता।

बाद में हम घूमने जा रहे थे, तो आकाश साफ होने के कारण हमें कुछ तारा समूह दिखायी दे रहे थे। मुझे यह विचार आया कि जब हम तारों को देखते हैं तो हम अतीत में देख रहे हैं, क्योंकि निकटतम तारा भी साढ़े चार प्रकाश-वर्ष दूर है। इसलिये हम वास्तव में कोई तारा नहीं देखते, हम वह प्रकाश देखते हैं जिसे तारे को छोड़े हुए साढ़े चार वर्ष हो गये। हो सकता है कि वह आज बिलकुल न हो। यह तो निकटतम तारे का हाल है। सुदूरतम आकाशगंगाओं की दूरी तो करोड़ों प्रकाश-वर्षों में मापी जाती है। सूर्य की रोशनी भी हम तक पहुँचने में ६ मिनट लगते हैं। तो हम किसी भी क्षण यह निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि सूर्य का अस्तित्व है, क्योंकि जो हम अब सूर्य देखते हैं, वह वैसा ६ मिनट पूर्व था।

ज्योतिष विज्ञान में, जब हम अन्तरिक्ष में देखते हैं तो इस रोचक निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ऐसा लगता है कि यह सब चीजें वहाँ हैं, परन्तु हम निश्चय रूप से यह नहीं कह सकते कि वे अभी भी वहाँ हैं। क्या इससे इन्हें ईश्वर कहा जा सकता है? स्पष्टतः नहीं। वे वहाँ हों या न हों, फिर भी वे पदार्थ हैं। तब यह विचार बार-बार आया कि कुछ भी हो, हम केवल अतीत में झाँक रहे हैं, और हम कुछ अतीत में नहीं खोज सकते। मेरा मतलब, मान लीजिये आपका पर्स खो जाय तो क्या आप उसे अतीत में खोजेंगे? आप उसे वर्तमान में खोजते हैं। मुझे पता नहीं कि यह आश्चर्यपूर्ण है या नहीं, पर मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि भू-विज्ञान व ज्योतिष विज्ञान हमें दिव्यता का कोई संकेत नहीं दे सकते, क्योंकि वह हमें अतीत का अनुमान व ज्ञान देते हैं। तो इन विज्ञानों का क्या लाभ?

फिर मुझे बिलकुल नया विचार आया। जब हम उस आकर्षक पहाड़ पर चढ़ रहे थे, उस समय मैं अपनी ताकत के मुताबिक आखिरी चढ़ाई पर चढ़ने के लिए जोर लगा रहा था, तो अचानक मेरे मन में यह विचार आया। अगर जो कुछ भी हम इस भौतिक जगत में करते हैं, वह हमें केवल अतीत से परिचित कराता है, तो हम भविष्य किस प्रकार देख सकते हैं? तब यह विचार अवश्य ही बाबूजी से आया होगा कि भविष्य को देखने का एक ही तरीका है, वह यह है कि हम अपने अन्दर देखें। हर बार जब हम ध्यान करने बैठते हैं, हम अपने अंदर देखते हैं। आत्मा अभौतिक है, इस कारण आप यह नहीं कह सकते कि इसका उद्‌गम अतीत में है। भविष्य में देखने का यही एक मार्ग है; एक दूसरे अर्थ में हम यह भी कह सकते हैं कि ईश्वर हमारे लिये भविष्य में है, क्योंकि हम उसे अन्तः में खोजते हुए अभी पाने का प्रयत्न कर रहे हैं।

यह भाव कुछ समझ में आता है जिसे विज्ञान की शिक्षा पाये हुए या वैज्ञानिक मिजाज का आदमी भी तर्क संगत मानेगा, क्योंकि आप जिस भांति भी देखें भौतिक स्तर पर सब कुछ अतीत से सम्बन्धित है। आप एक ग्रामोफोन रिकार्ड को सुनें तो वह अतीत का संगीत है, अतीत की आवाज, जो अतीत में भरी गयी थी जिसे आप वर्तमान में सुनते हैं। अतीत के भवन हम वर्तमान में देखते हैं। अतीत के जीवन के रूप हम वर्तमान में जीवाश्म के रूप में देखते हैं। यह भी कहना कि हम उन्हें वर्तमान में देखते हैं गलत होगा। हम उनको नहीं देखते, उनके चिह्नों को वर्तमान में देखते हैं जो उन्होंने अतीत में छोड़ा था। क्योंकि रिकार्ड किये गये संगीत को संघनित लहरों के रूप में भी समझा जा सकता है जो हम ध्वनि के रूप में सुनते हैं, आप उसको अश्मीभूत ध्वनि भी कह सकते हैं।

अतीत का निरीक्षण हमें चीजें नहीं वरन् उनके चिह्न दिखाता है। यही समस्या चिकित्सा के अध्ययन में है। उदाहरणार्थ, आप शरीर की चीर-फाड़ करके उसके अंगों का अध्ययन करते हैं, आप उसका अध्ययन कभी नहीं करते जो जीवित हैं। जो आप देखते हैं वह मृत है, एक प्रकार से अश्मीभूत। वह जो अतीत में जीवित था, धड़क रहा था, अब मृत पदार्थ है। मैं यह भी सुझाव दे सकता हूँ कि जो चेहरे आप अपने चारों ओर देखते हैं, वहाँ भी हमें अतीत के चिह्न दिखायी देते हैं, क्योंकि आज वे अपने अतीत के संस्कारों का परिणाम हैं जिन्होंने उन्हें वर्तमान रूप में ढाला है। इस पर विचार कीजिये।

इसी कारण शायद आजकल किसी भी इंसान को जानना इतना कठिन है। क्योंकि वे जैसे वर्तमान में हैं वैसा ही उन्हें हम नहीं देखते। उदाहरणार्थ, कोई व्यक्ति पियक्कड़, नशेबाज, रोगी रहा हो तो वे उसके चेहरे तथा आचरण पर अपने निशान छोड़ जायेंगे, पर हो सकता है कि अन्दर का व्यक्ति इतना बदल गया हो कि वह सन्त के समान बन गया हो। परन्तु आप उसकी ओर देख कर यही कहते हैं, "यह बेकार का आदमी है", किन्तु उसके अन्दर जो नया व्यक्ति है उसे आप देख नहीं पाते। और हम उसके चेहरे और आचरण पर अतीत के चिन्हों को देख कर एक अच्छे व्यक्ति को ठुकरा देते हैं। किसी व्यक्ति की परख करने में यही कठिनाई है। इसीलिए, मैं समझता हूँ, कोई व्यक्ति 'अब' क्या है इसकी परख करने के लिए एक असली गुरु होना चाहिए, क्योंकि आप जानते हैं कि बाबूजी लोगों को कैसा देखा करते थे। उनकी दृष्टि ही कुछ और होती थी। वह हृदय में झाँक कर देखते थे, और वहाँ आप देख सकते हैं कि वह व्यक्ति इस समय, इस क्षण क्या है। बाकी सब कुछ हमें गुमराह कर सकता है क्योंकि वह केवल चिह्न हैं और कुछ नहीं। तो किसी का बाह्य रूप से अध्ययन करना उतना ही फलदायक हो सकता है जितना किसी अतीत के जीवाश्म का अध्ययन, या अतीत के ग्रामोफोन रिकार्ड का, या अतीत की हिमनदी का। वह केवल हमें यह बता सकता है कि क्या था, न कि क्या है।

यह समझने के लिए भी कि इस समय 'क्या है', हमें आध्यात्मिक दृष्टि का विकास करना पड़ेगा। इसी कारण यह जानना कठिन है कि संसार में हमारे चारों ओर क्या हो रहा है। दुर्भाग्यवश इस महत्वपूर्ण विज्ञान या कला को सिखाने के बदले हमारी शिक्षा पद्धति हमें अतीत में पीछे, और भी पीछे ही, ढकेलती जाती है। ज्योतिष विज्ञान हमें अन्तरिक्ष में और दूर, अर्थात समय में और पीछे ले जाना चाहता है। उन्हें क्या पता चलेगा? मनोविज्ञान भी कुछ ऐसी पद्धति अपनाता है जो आपको स्वयं अपने में पीछे ले जाती है। सच हो या झूठ, यहाँ तक दावा करते हैं कि आप स्वयं अपने जन्म के समय की पीड़ा का भी अनुभव कर सकते हैं और शायद अपने पहले के भी जीवन में जा सकते हैं। पर क्या लाभ? यह आपको केवल बतायेगा क्या था न कि क्या है। वही बात जीवाश्म विज्ञान या भू-विज्ञान में है, इस काल में यहाँ क्या था, इस काल के हजारों या करोड़ों वर्ष पहले यहाँ क्या था। ज्यादा से ज्यादा वे अतीत से वर्तमान तक एक क्रम प्राप्त कर सकते हैं।यह उसी भाँति है कि हम कहें कि सीढ़ी में २६ पग सीढ़ियां हैं, पर उसके बाद मेरे आगे कितने पग हैं? इसी कारण मेरे

गुरुदेव की शिक्षा में विशाल बुद्धिमत्ता है, "अतीत को भूल जाओ"- ज़्यादा से ज़्यादा वह स्पष्टीकरण दे सकता है, कुछ परिवर्तित नहीं कर सकता। तो अपना परिवर्तन कैसे करें? इस समय जहाँ तुम हो, जैसे तुम हो, वहाँ से आरम्भ करो और अपने भविष्य में देखो। "हाँ, पर बाबूजी आपने अभी तो कहा था कि हम अतीत नहीं देख सकते, और गौर करने पर हम केवल अतीत ही देख सकते हैं, और अब आप कहते हैं कि अपने भविष्य में देखो।" वह कहते हैं, "हाँ मेरे बेटे, अपने अन्दर देखो, अपने हृदय में देखो, वहीं पर तुम्हारा भविष्य है।" तो आप हृदय के महत्व को देखते हैं। हम न केवल अपने आप को खोजते हैं, हम अपने में उसे भी खोजते हैं जो हम बनने जा रहे हैं तो एक अर्थ में आप कह सकते हैं यह प्रक्रिया पूर्ण होने पर जो हम होंगे हम उसे अपने में खोज रहे हैं। और जब आप अपने हृदय को देखते हैं तो आपको वहाँ घृणा दिखाई देती है। अगर आप उसे हटायेंगे नहीं तो वही आपका भविष्य होगा। अब अगर आप अतीत के जीवाश्म को साफ करें तो आप ने उस में से कुछ भी हटाया नहीं, वह केवल एक स्वच्छ जीवाश्म है, अभी भी मृत। परन्तु अगर आप अपने हृदय में देखते हैं और वहाँ घृणा पाते हैं, तो आपको मालूम है कि अगर आपने उसे वैसे ही छोड़ दिया तो आपका भविष्य भी केवल घृणा से भरा होगा। आपको सफाई की आवश्यकता का, एक अनिवार्य, मार्मिक आवश्यकता का अनुभव होता है। आपको हृदय में झांकने पर गलत प्रवृत्तियाँ, दिखाई देती हैं, तो आपको मालूम है कि आपका भविष्य क्या होगा, गलत प्रवृत्तियाँ, गलत कार्य, गलत फल। और अगर आपको हृदय में झाँकने पर 'वह' दिखाई देता है तो वह भी आपका भविष्य है, वही मैं बनने जा रहा हूँ। तो मेरे गुरुदेव का आध्यात्मिक विज्ञान कहता है, "अपने हृदय में देखो, हृदय में उपस्थित दिव्य प्रकाश पर ध्यान करो जो कि सदा वहाँ है, सफाई करो ताकि सब व्यर्थ की चीजें निकल जायें जो अतीत की छाप हैं। संस्कार एक अश्मीभूत छाप है जो भौतिक रूप में अश्मीभूत नहीं होता, परन्तु हृदय में एक भिन्न रूप में अश्मीभूत होता है। आप कह सकते हैं कि वह एक अर्थ में अश्मीभूत रूप है जो हमारे ही द्वारा हमारे हृदय में हमारे अतीत के विचारों व कर्मों द्वारा डाले गये हैं। वास्तविक जीवाश्म, पृथ्वी की तहों में पाये गये भौतिक अश्मीभूत हमें अतीत को जानने में सहायता देते हैं। जब वह जीवित था तो क्या था। हमारे हृदय में अश्मीभूत हुए संस्कार हमें बताते हैं कि हम क्या निकाल फेंकें और हमारा भविष्य क्या होगा। तो आप समझते हैं कि अतीत को देखने में और भविष्य

को देखने में कितना महान अन्तर है, भौतिक संसार को देखने में और अपने हृदय के आन्तरिक संसार को देखने में कितना अन्तर है। इसी कारण जब हमें, घृणा, पाप, भ्रष्टता व बीमारियों के स्वरूप दिखते हैं तो हमें माल्‌म हो जाता है कि जब तक इनको निकाला नहीं जायेगा वही हमारे भविष्य में राज्य करेंगे। इसी कारण हमें सफाई करने का परामर्श दिया गया है, और गुरुदेव अपनी भव्य दयालुता में हमारे संस्कारों के उस महान बोझ को साफ करते हैं, जो हम खुद किसी प्रकार भी नहीं हटा सकते। जब यह करीब-करीब समाप्त हो जाता है तो हमें भावी प्रकाश की एक चौंधिया देने वाली झलक मिलती है। एक प्रत्यक्ष अर्थ में नहीं कि जो तुम्हारी आँखों को चौंधिया दे, परन्तु वह कुछ ऐसी भव्य, महान, असाधारण रूप से विलक्षण है कि ''क्या मैं यह होऊँगा?'' यह विस्मय है। इसी कारण बाबूजी ने कहा है, ''आध्यात्मिकता विस्मय का विज्ञान है, और विज्ञान उत्सुकता का विज्ञान है।'' तो उत्सुकता हमें अतीत में ले जाती है और विस्मय हमें आगे ले जाता है। मैं आशा करता हूँ कि जो कुछ मैंने कहा है उसका कुछ अर्थ निकलता है। यह सब कुछ दो दिन पहले हुआ। पाइरिनीस की उस १०० मीटर दूरी को, करीब १०० अभ्यासी भाइयों व बहनों के साथ को, चट्टानों, आकाश को और अपने अन्दर के उस दृष्टिपात को, इन सब को धन्यवाद। ये जो विचार मैंने आपके सामने रखे उसी का परिणाम था। इन विचारों में कोई अन्तिम निर्णय नहीं है परन्तु ये हमें एक महत्वपूर्ण दिशा दिखाते हैं और वह है मेरे गुरुदेव की शिक्षा, ''अपने अन्दर देखो, अपने अन्दर अपने भविष्य का निर्माण करो और उसे अपने अन्दर प्राप्त करो।''

धन्यवाद।

जहाँ सामञ्जस्य है

७ सितम्बर १६८७, प्रातः

आपने अभी हमारे अभ्यासी भाई की वार्ता सुनी। कुछ ही समय पूर्व जो मैंने अपने विचार प्रकट किये थे, यह वार्ता एक प्रकार से उसी विचार का विस्तार है। जो आपको अन्दर दिखता है वही आपको बाहर दिखता है। जो आपके अन्दर नहीं है, वह आपको सम्भवतः बाहर दिखाई नहीं दे सकता। यह मेरा पूर्ण विश्वास है। मेरे विचार में बाह्य, शायद एक दर्पण की भांति, बहुत सीमित तरह से, यह देखने में कि अन्दर क्या है उस अर्थ में और सीमित रूप में वह सहायक है। आप अंग्रेजी की वह कहावत जानते हैं, ''सुन्दरता देखने वाले की नज़र में है।'' यह सच बात है। ऐसा नहीं है कि बाहर कोई सुन्दरता नहीं, परन्तु वह आपके हृदय की सुन्दरता है जिसका प्रतिबिम्ब आपको बाहर दिखाई देता है। और ऐसे व्यक्ति के लिये संसार में कुछ भी कुरूप नहीं है। ईश्वर ने बेशक कुरूप वस्तुओं का सृजन नहीं किया। अगर कोई व्यक्ति हृदय से बीमार है तो उसे बाहर भी बीमारी दिखाई देगी। वह यही देखता है। ईश्वर ने बीमारी का सृजन नहीं किया। अगर आपको सब ओर भ्रष्टाचार दिखायी देता है, तो यह मनुष्य है जिसे भ्रष्टाचार दिखाई देता है, भ्रष्टाचार उसके हृदय में है। ईश्वर ने भ्रष्ट चीजों का सृजन नहीं किया। अगर हम यह मानते हैं कि ईश्वर ने संसार का सृजन किया और ईश्वर प्रेम है, दयालु है तो वह बुरी चीजों का, गलत चीजों का, दुष्ट चीजों का सृजन कैसे कर सकता है? तो हम इस अनिवार्य निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि हम बाहर भी वही देखते हैं जो हमारे अन्दर है। हम वास्तविकता को नहीं देखते।

तो जिसके हृदय में सुन्दरता है उसके लिए संसार में भी सुन्दरता है। इसलिए यह प्रश्न उठता है कि जो हम देखते हैं वह कितना वास्तविक है? इसी कारण दार्शनिकों तथा रहस्यवादियों में दृश्य जगत से पलायन की वृत्ति रही है। सर्वप्रथम यह वही है जैसा मैं इसे अनुभव कर रहा हूँ और मेरा अनुभव भी मेरी वृत्तियों तथा संस्कारों द्वारा दूषित है। एक अर्थ में यह संसार को रंगीन चश्में से देखने जैसा है। पर यदि मैं चश्मा उतार दूँ तो संसार जैसा वास्तव में है क्या मैं वैसा ही देखता हूँ। हमारी इन्द्रियाँ, वृत्तियाँ, आदतें, यह सूक्ष्म छन्ने का कार्य

करती हैं। तो बाह्य संसार की अनुभूत वास्तविकता में किसी के लिए कोई असलियत नहीं हो सकती जब तक उसके खुद के अन्दर असलियत न हो। सो इस संसार में या विश्व में जो कुछ भी सत्य है, वह केवल उस सन्त के लिए सत्य है जिसके अन्दर असलियत है। मैं यह कहने का साहस करूँगा कि केवल ऐसा ही व्यक्ति सचमुच "देखता" है और उसके लिए संसार वास्तविक चीज है। अब यह रोचक प्रश्न उठता है, कि वह उसका वर्णन क्यों नहीं कर सकते? क्योंकि सब रहस्यमय विज्ञान, चाहे उनकी जड़ हिन्दू, बौद्ध या ईसाई, किसी भी धर्म में हो एक ही बात कहते हैं, "जिसने देखा है वह बोल नहीं सकता जो बोलता है उसने देखा नहीं"। हम उस विषय में बोल सकते हैं क्योंकि हमने वास्तविकता नहीं देखी परन्तु वास्तविकता का आभास भर पाया है। अन्तिम वास्तविकता को हम सुन्दर नहीं कह सकते। सुन्दरता जो हम समझते हैं उसका सम्बन्ध आकार, रंग, दृश्य, स्तर, घुमाव जैसी चीजों से है। वास्तविकता में यह सब, कुछ नहीं है। वास्तविकता को हम छोटा या बड़ा नहीं कह सकते क्योंकि उसमें कोई तत्व नहीं है। हम यह भी नहीं कह सकते कि उसमें वजन है।

तो आप वास्तविकता का कैसे वर्णन करेंगे? इसलिये ये महान सन्त और रहस्यवादी केवल एक बात कह सकते हैं, "वह है"। यह कहना भी कि "वह है" गलत होगा, तो वह कहते हैं "है"। अगर आप पूछें कि "क्या है?" तो वह उत्कृष्ट कथन सुनने को मिलता है जो कि मूसा को पर्वत पर मिला था जब उन्होंने ईश्वर से पूछा, "मैं पहाड़ के नीचे जाकर लोगों से क्या कहूँ कि मैंने क्या देखा, उसका नाम क्या है?" तो ईश्वर ने उत्तर दिया, "मैं जो हूँ सो हूँ।" वह भी अपने विषय में नहीं बता सका। अगर आप गैबी से पूछें, "तुम कौन हो?" तो वह केवल यह कह सकती है कि "मैं गैबी हूँ।" अब इस जीवन में वह गैबी है। परन्तु वास्तव में वह क्या है? यह उसे भी नहीं पता। और यही विचित्र बात स्वयं सृष्टिकर्ता तक जाती है। हमें कम से कम यह सुविधा तो है कि गैबी कह सकती है, "मैं १ मीटर ७७ सेंटीमीटर लम्बी हूँ, मेरा वजन ६५ किलोग्राम है, मेरे भूरे रंग के बाल हैं, और मेरे विचार में मेरी आँखें सुन्दर हैं और मैं एक पुस्तकाध्यक्ष हूँ।" यह सब इसलिए कि अन्दर जो असली गैबी है उसने अपने लिये यह बाह्य रूप रंग स्वीकार किया है। परन्तु जब केवल असली तत्व है, अर्थात् जब केवल गैबी है, बिना १७७ सेंटीमीटर शरीर के बिना स्लेटी आँखों के, बिना भूरे बालों के और बिना गैबी नाम के - तो आप किसे पुकारेंगे? और क्या कहेंगे? और अगर आप उससे

पूछ सकें, तो वह तत्व क्या उत्तर देगा? इसीलिए आध्यात्मिक विज्ञान कहता है कि यह ज्ञान इन्द्रियों के परे है। इसी कारण मेरे गुरुदेव, बाबूजी महाराज ने कहा "ईश्वर का कोई भी वर्णन यह दर्शाता है कि उसे देखा नहीं गया।" इसलिये सभी धर्म और पद्धतियाँ जो ईश्वर के विषय में बात करती हैं कि वह अति दयालु, प्रेमी, कृपालु, शक्तिशाली है, वह दिव्यता के एक निम्नस्तर की बात कर रहे हैं, जहाँ एक व्यक्त वास्तविकता है। उस अव्यक्त वास्तविकता तक वे नहीं पहुंचे जिसे हम उस अर्थ में सचमुच वास्तविकता कह सकते हैं।

आप सभी, नहीं तो आप में से कई बाबूजी को जानते थे। मैंने उन्हें कभी किसी व्यक्ति का वर्णन बाह्य गुणों से करते हुए नहीं सुना। वह उन्हें दिखाई ही नहीं पड़ते थे। जैसे हम अपनी इन इन्द्रियों द्वारा वास्तविकता का दर्शन नहीं कर सकते, इसी प्रकार वास्तविकता भी हमें वैसे नहीं देखती जैसे इन्द्रियाँ देखती हैं। यह हम पर बहुत बड़ी कृपा है क्योंकि वह जो हममें वास्तविकता है उसको देखता है जो कि उससे भिन्न नहीं हो सकती। भिन्नता केवल यह है कि वह पूर्णतः वास्तविक है और उस वास्तविकता की एक चिनगारी हमारे हृदय में है। परन्तु वह उसे अपना ही रूप मानते हैं और इसी कारण गुरुदेव को हमें अपना समझ कर स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं होती। वह अच्छे बुरे का निर्णय नहीं करते। उनके निर्णय न करने का कारण यह नहीं जैसा कि ईसाई धर्म में कहते हैं, निर्णय मत करो ताकि तुम्हारा भी निर्णय न हो।" यह तो कहने का एक अति नकारात्मक तरीका है और इसमें कुछ भय का तत्व भी है कि कहीं कोई तुम्हारे बारे में निर्णय न करे। यहाँ निर्णय करने का कुछ भी नहीं है। गुरुदेव हमें अपने अंश के रूप में देखते हैं और कहते हैं "आओ", उसी तरह जैसे कि आप एक दर्पण में अपना चेहरा देख कर कहते हैं "यह मैं हूँ।" अगर वह पूर्ण का अंश है तो अंश उतना ही अच्छा है जितना पूर्ण। बाकी सब का कोई अर्थ नहीं है। एक व्यक्ति नीली कमीज में, दूसरा लाल कमीज में, तीसरा पीली में, या वही व्यक्ति प्रतिदिन अलग-अलग कपड़ों में। हम व्यक्ति को देखते हैं, वह उस व्यक्ति के पीछे व्यक्तित्व देखता है। तो गुरुदेव हमारे अस्तित्व की अन्तरतम गहराइयों में झाँकते हैं, हम पापी हैं या सन्त हैं उनकी नजर में कोई फर्क नहीं। क्योंकि पापी या सन्त बाह्य रूप में है, बाह्य आचरण में है बाह्य वृत्तियों में है। उनके लिये इसका कोई अर्थ नहीं, कोई महत्व नहीं, और इस कारण वह किसी को ठुकरा नहीं सकते। मेरा सुझाव है कि विश्व व्यापक भाईचारे की बात जो हम सहज मार्ग में करते हैं, केवल इसी

प्रकार से विकसित हो सकता है। इस आध्यात्मिक दृष्टि के बिना जो केवल मानव को ही नहीं समस्त जीवन को एकता में बाँधती है। हम रंग, रूप, आकार के आधार पर भाई-चारे का सृजन करते हैं। इसी लिये वैज्ञानिक वर्गीकरण होते हैं : जानवर, कीड़े-मकोड़े, चिड़ियाँ; फिर भिन्न जैविक वर्ग : जातियाँ, उपजातियाँ। इसी प्रकार मानवों का भी वर्गीकरण करते हैं, पहले जाति के आधार पर जैसे कॉकेशियन, आदि। तो भाईचारे का सृजन करने अथवा जीवन की एकात्मता स्थापित करने के बजाए, आकार पर आधारित, गुण पर आधारित उनका यह वर्गीकरण जीवन को टुकड़ों में बाँट कर उन्हें नाम दे देता है। राजनीति उसमें अपना योगदान देती है और धर्म अपना। तो रंग पर आधारित है, गोरा मानव, पीला, भूरा, काला, मानव। राजनीति पर आधारित यूरोपीय, भारतीय, चीन का मानव। फिर धर्म पर आधारित हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध आदि। अब इनमें से कोई भी भाईचारे का निर्माण नहीं करता। आप भाईचारे की आशा में यूरोप आते हैं, पर नहीं, क्योंकि यहाँ वे जर्मनी के, फ्राँस के, इटली के, स्पेन के, वासी हैं। जर्मनी का एक अमीर व्यक्ति सोचता है कि स्पेन का गरीब व्यक्ति मूर्ख है। तो यहाँ भी कोई एकता नहीं है। आप जर्मनी जाते हैं, सामन्जस्य की आशा में। बवेरिया का आदमी सोचता है कि हैमबर्ग का व्यक्ति उत्तर का एक नगण्य व्यक्ति है, और उत्तरी जर्मनी का व्यक्ति सोचता है कि बवेरिया का आदमी एक पियक्कड़ है जो हर समय बीयर पीता है। ठीक है जर्मनी को भूल जाइये। चलें बवेरिया में देखें क्या वहाँ के आदमी प्रसन्न हैं। उनके अपने रीति रिवाज हैं, श्वार्जवाल्ड और बाकी जर्मनी के लोगों के अपने।

इस प्रकार खोजते हुए कि कहाँ मेल-मिलाप है, अन्त में आपके पास कुछ नहीं बचता, सिवाय एक अकेले मानव के। आप आशा करेंगे कि कम से कम उसका तो अपने से सामंजस्य होगा और आश्चर्यजनक यह है कि जैसे जर्मनी के अन्दर अलग-अलग प्रदेश व संस्कृतियाँ हैं, इस मानव के भीतर भी इतनी चीजें हैं जो इसे काटकर स्वयं से अलग कर देती हैं। तो विज्ञान का तरीका, पुरातत्व-विज्ञान का तरीका, मानव-विज्ञान का तरीका, मानव के सब विज्ञानों का तरीका जीवन को टुकड़ों-टुकड़ों में काटते और बांटते हुए हमें एक से छोटी वैयक्तिक इकाई पर ले आता है और फिर निराश होकर हमें डाक्टरों के सुपुर्द कर देता है, मनोवैज्ञानिक को सुपुर्द कर देता है कि वह उन टुकड़ों को पुनः एकत्रित करें और वह केवल हमें और छोटे टुकड़ों में विभाजित कर सकते हैं। आध्यात्मिकता कहती है, ''अन्दर देखो तो तुम्हें सब में

वही चीज मिलेगी। वही इकाई है जो सबको एकता में बाँधेगी। "तो बाहर मत देखो, तुम्हें केवल भिन्नता दिखाई देगी। आध्यात्मिक दृष्टि विकसित करो जो तुम्हें जड़ तक, तत्व तक पहुँचने में सहायक होगी। केवल वही जीवन को एक महान एकीभूत इकाई में बाँध सकती है। इसी कारण मेरे गुरुदेव ने सदैव कहा, "बाकी सब कुछ विभाजित करता है, राजनीति विभाजित करती है, धर्म विभाजित करता है, संस्कृति विभाजित करती है, भाषा विभाजित करती है। केवल आध्यात्मिकता एक करती है। इसी कारण हम सब यहाँ हैं।

केवल यह कहना पर्याप्त नहीं है कि आध्यात्मिकता एक करती है, हमें एक भाईचारे में बँध कर इसे दिखाना है जो इतना मजबूत हो कि पहले तो जो इसमें नहीं हैं उनका आक्रमण सह सके। अगला चरण उन्हें भी इस भाईचारे में सम्मिलित करना है। क्योंकि उन्हें ज्ञात हो या न हो, तुम्हें ज्ञात हो या न हो, वे अभी भी उसका अंश हैं। क्योंकि अगर उसका तत्व और मेरा तत्व एक है तो हमें केवल हमारी मूर्ख मानवीय व्यक्तिगत चेतना अलग रखती है और इसी मूर्ख व्यक्तिगत मानवीय चेतना का प्रयोग हमें ध्यान में करना पड़ता है। अपने अन्दर झाँक कर उसे अ-मूर्ख करो। यह मूर्खता हटाओ, बुद्धिहीनता हटाओ जब तक कि वह उस शुद्ध चेतना में न परिवर्तित हो जाय जो दिव्य है। फिर उसके भी आगे उस स्थिति में जाओ जहाँ चेतनता भी नहीं है। तो हमारी छोटी बहन की सुन्दरता के ऊपर वार्ता, वह बहुत अच्छी चीज है। एक दिन अपराह्न में जब बादलों से घिरे काले आकाश में उन्होंने सफेद पक्षियों के झुंड को उड़ते देखा तो रामकृष्ण परमहंस भी समाधि में चले गये और आनन्द मग्न हो गये। उसने उन्हें भावविभोर करके उस पार समाधि में पहुंचा दिया। कभी-कभी मैं यह सोचने के लिये प्रेरित होता हूँ कि वह अन्तिम चीज नहीं थी। उन्हें समाधि में जाने के लिये अभी भी रंग व आकार की आवश्यकता थी। मैने कभी अपने गुरुदेव को ऐसी समाधि में डूबने के बारे में नहीं सुना क्योंकि उनके लिये स्वयं के अतिरिक्त संसार में कोई ऐसी चीज नहीं थी जो उन्हें समाधि में डुबा सके। हमें उस स्थिति तक विकसित होना है कि जब हम ध्यान में आँखें बन्द करें तो हमें अपने भीतर जो दिखाई दे वह ऐसा विलक्षण विस्मयकारी हो और हमें चुम्बक की तरह 'उसकी' ओर खींचे कि बिना गुरु की कृपा के हम कभी उसके बाहर न निकल सकें। हमारे 'स्व' का आकर्षण हमें समाधि में ले जाने वाला होना चाहिये। डरिए मत हमारे सौभाग्य से गुरुदेव हमें हर बार खींच कर बाहर निकाल लेते हैं। इसलिए नहीं कि हमारा यहाँ होना आवश्यक

है, वास्तव में हमारा यहाँ होना बिल्कुल आवश्यक नहीं, परन्तु इसलिए कि वे प्रकृति के मालिक हैं और उसके नियमों के विरुद्ध नहीं जाना चाहते। वे हमें बार-बार इसलिये निकालते हैं कि जितना जीवन का समय हमें दिया गया है उतने समय हम जीवित रहें। इसी कारण हममें से जो ध्यान की गहराइयों में डूब सकते हैं, उन्हें भी बाहर आना पड़ता है। कभी-कभी उससे निकलने में इतना गंभीर दुःख होता है कि ऐसे में उस समय आत्महत्या का भाव आना भी सरल है। क्योंकि इस संसार में ऐसी कोई चीज नहीं है जो उस आन्तरिक सत्य के एक अणु मात्र की भी बराबरी कर सके। मेरे विचार में वह परम दुःख है, परम वियोजन, जब स्व को 'स्व' से पृथक होकर बाहर आकर इस बुद्धिहीन जीवन में रहना पड़ता है। फिर हमें गुरुदेव से प्रार्थना करनी पड़ती है, ''इसके बदले मुझे कुछ दो'' और वह चालाक वृद्ध व्यक्ति हमें 'उसका' कार्य थमा देता है। इस प्रकार हम आध्यात्मिकता के जाल में फँस जाते हैं जिससे कोई छुटकारा नहीं। क्योंकि एक बार जब हमने आत्मा को झकझोर देने वाली आन्तरिक सुन्दरता का दर्शन कर लिया फिर बाह्य में आपको ऐसा क्या मिल सकता है जो उसकी क्षतिपूर्ति कर सके।

तो यही आध्यात्मिक जीवन है। इसलिये अगर उन्हें कुछ मनोरंजन या परिवर्तन की आवश्यकता होती है तो वे फिर उसे अन्दर खोजते हैं। इस कारण सदा अन्दर ही रहते हैं। बाहर निकल कर फिर बार-बार अन्दर जाने का क्या लाभ। इसलिये उनका अस्तित्व सदा अन्दर ही होता है, कभी-कभी हमारी सहायता करने के लिये या हमारा काम करने के लिये वे बाहर आते हैं। हमारा जीवन पूर्ण रूप से बाह्य है, कभी कभी हम ध्यान में अन्दर डूब जाते हैं। फिर जब वह प्रवृत्ति स्थापित हो जाती है, हम और अधिक अन्दर जाना चाहते हैं, जब तक कि हम भी उनकी तरह अन्तस् में न चले जायें या अन्तर्मुखी न हो जायें। तब हमारा अस्तित्व गुरुदेव जैसा बन जाता है। हम इसी कार्य के लिये यहाँ आये हैं। अगर आप अपने आप को इन बाह्य चीजों से आकर्षित होने देते हैं और अन्दर से बाहर खिंचने देते हैं तो उस सीमा तक आपके काम में रुकावट आ जाती है। इस कारण हमें सचेत रहना है, सतर्क रहना है और केवल तभी बाहर आना है जब हमारे कार्य के लिये आवश्यक हो। जब तक हम स्वयं के अन्दर प्रवेश नहीं कर पाते, तब तक केवल एक ही विधि है जो इसमें हमारी सहायता कर सकती है, सतत स्मरण। तो आप देखते हैं कि गुरुदेव ने हमें कितनी मूल्यवान् विधि दी है। हमें उसकी आदत डालना चाहिये, उसका अभ्यास करना चाहिये, उसे अपने जीवन में स्थापित कर लेना चाहिये।

वास्तविकता का दिव्य क्रम

८ सितम्बर १९८७, प्रातः

एक्सेल का और मेरा एक ही शौक है। एक प्रकार से यह विज्ञान व आध्यात्मिकता में तालमेल बैठाने का प्रयास है। कभी-कभी मैं सोचता हूँ कि उसकी रंगत ही बदल जाती है, वह जैसे वास्तविक व अवास्तविक को मिलाने का प्रयास हो। एक से फिसल कर दूसरे पर चले जाना सरल है। चलिये क्षण भर के लिये हम सुजुकी और वह दूसरा कौन है?... एरिक फ्राम को भूल जायें। मैं दोनों का आदर करता हूं, परन्तु मैं भारत की पुरातन वेदान्तिक परम्परा से कुछ हवाला देना चाहूँगा।

आप सब ने शंकर और उनके अद्वैत दर्शन के विषय में सुना होगा जो कि रामकृष्ण तथा विवेकानन्द के कारण सारे विश्व में फैल गया है, और वही सच्चा भारतीय दर्शन समझा जाता है। ऐसा कहा जाता है कि शंकर के अनुसार सब माया है। वास्तव में उनके दर्शन को मायावाद के नाम से जाना जाता है और यह भी माना जाता है कि इसके पीछे बहुत कुछ सत्य है। मैं समझता हूँ कि आज भी अस्सी प्रतिशत भारतीय दर्शन, भारतीय सन्त, भारतीय सन्यासी उसमें विश्वास करते हैं। माया का अर्थ है भ्रम। शंकर के अनुसार सब कुछ माया है। शायद उन्होंने माया शब्द का प्रयोग ऐसी चीज के लिए किया है जिसका अस्तित्व है ही नहीं। वह कहते हैं "यह संसार माया है, यह विश्व माया है, केवल 'उसका' अस्तित्व है।" इसी कारण इसे अद्वैत कहा जाता है। केवल एक, दूसरा कोई नहीं। फिर एक और सन्त रामानुज आये जिन्होंने शंकर की सारी इमारत को उलट-पुलट दिया, जब उन्होंने वास्तविकता को दो भागों में कर दिया, व्यक्तिगत और वस्तुगत वास्तविकता। उन्होंने कहा, "माया की भी वास्तविकता है।" अगर माया नाम की कोई चीज ही नहीं है तो शंकर ने माया के विषय में कहा कैसे? इसलिए माया का भी अस्तित्व है, और मेरे विचार में शंकर का कोई भी अनुयायी इस तर्क का खण्डन अभी तक नहीं कर सका है। क्योंकि सम्भवतः आप ऐसी चीज के विषय में बात कर ही नहीं सकते जिसका पूर्ण रूप से अस्तित्व है ही नहीं। संयोगवश इसी तर्क का प्रयोग नास्तिक लोगों के विरुद्ध भी किया जाता है - कि जब

वे कहते हैं कोई ईश्वर नहीं है, तो यह ईश्वर कौन है, जो है ही नहीं? है न? तो आज शंकर का दर्शन उनके कट्टर भक्तों के ऊपर टिका है न कि किसी संगत आधार पर।

रामानुज अपने तर्क को कायम रख सके और यह भी सिद्ध कर सके कि स्वप्न की भी वास्तविकता है। जब तक व्यक्ति स्वप्न देखता है कि वह भूखा है या वह मर रहा है, तो वह पीड़ित होता है। यह कहने से कोई लाभ नहीं कि ''वह माया के कारण दुःख भोग रहा है।'' उस व्यक्ति के लिये वह स्वप्न वास्तविक है जिससे उसे वास्तविक पीड़ा पहुँची जिसका उसने अनुभव किया है। इस प्रकार की वास्तविकता को रामानुज ''वैयक्तिक वास्तविकता'' कहते हैं, इस अर्थ में कि उस वास्तविकता को केवल अनुभव करने वाला ही महसूस करता है; कोई दूसरा उसे महसूस नहीं कर सकता। फिर वे कहते हैं, ''वस्तुगत वास्तविकता वह है, जो विद्यमान है, चाहे आप उसे देख सकें या नहीं।'' सो इस अर्थ में अतीत व भविष्य वैयक्तिक वास्तविकता है। हर व्यक्ति का एक अतीत है, हर व्यक्ति एक भविष्य की आशा करता है। अब आपका अतीत मेरा अतीत नहीं हो सकता और आपका भविष्य निश्चय ही मेरा भविष्य नहीं हो सकता। तो वेदान्तिक दार्शनिक या जिसे हम विशिष्ट अद्वैत कहते हैं (जिसका अर्थ है अद्वैत का विशिष्ट रूप) जिस नाम से रामानुज का दर्शन जाना जाता है, वे कहते हैं ''आप वस्तुगत वास्तविकता के तौर पर यह नहीं कह सकते कि कोई अतीत या भविष्य जैसी चीज है। वह केवल वैयक्तिक है''। तो रामानुज ने दो प्रकार की वास्तविकता के अस्तित्व की बात की; व्यक्तिगत वैयक्तिक वास्तविकतायें जिनके कारण हम दुःखी होते हैं जो हमारे मनोरंजन व सुख का कारण होती हैं और जो हर एक व्यक्ति के लिए अलग होती हैं। इसलिए हम एक दूसरे से नहीं बता पाते कि हम वास्तव में क्या अनुभव करते हैं क्योंकि एक ही चीज खाने पर भी इसकी असलियत व्यक्तिगत रूप से हर एक के लिए भिन्न होगी। अतः शंकर को मानने वाले दार्शनिक पूछते हैं, ''इस आम का असली स्वाद क्या है? जब सौ लोग इसके बारे में सौ अलग चीजें कहते हैं, तो वह सत्य कैसे हो सकता है?'' रामानुज के लोगों का उत्तर है, ''वस्तुगत वास्तविकता में उसका कोई स्वाद नहीं है, परन्तु वैयक्तिक वास्तविकता में उसके अनन्त स्वाद हो सकते हैं।'' तो यह समस्या है जिसके विषय में हम बात कर रहे हैं जब दो व्यक्ति अपनी समझ के भिन्न स्तरों से बात कर रहे हों तो किसी विषय पर बात करना सदा सरल नहीं होता।

अब सुजुकी तथा एरिक फ्रॉम के लिये मुझे बहुत आदर है, परन्तु मेरा सुझाव है कि हम सब इस पर विचार करें कि उन्होंने क्या कहा है और वह कितना सत्य है। यह एक साधारण नियम है: सारी शिक्षा इसमें है कि दूसरों ने क्या कहा है उसको पढ़ें या पढ़ने की कोशिश करें और जो उन्होंने लिखा है उसका एक व्यक्तिगत अर्थ निकालें। हो सकता है कि वह उस से बिल्कुल भिन्न हो जो शिक्षक का तात्पर्य था। उससे कोई फर्क नहीं पड़ता। शिक्षा केवल दूसरों द्वारा कही गयी चीज ग्रहण करने की क्रिया नहीं है परन्तु अपनी समझ को बढ़ाने के लिए उसे एक सीढ़ी के रूप में प्रयोग करने की चीज है। इसी कारण बाबूजी ने कहा, "मैं मौलिक रूप से विचार करना ज्यादा पसन्द करता हूँ।" अपने विचारों को दूसरों के विचारों पर व्यर्थ नष्ट मत करो, क्योंकि निश्चय ही वे तुम्हारे विचारों को प्रभावित कर देते हैं। दूसरे शब्दों में वह एक प्रकार से पहले से ही निर्णय कर लेने जैसा है। जब हम अपने विचारों को किसी और के विचारों में रंग लेते हैं तो हम फिर सब कुछ रंगीन चश्में की नजर से देखते हैं। आप में से जिनको बाबूजी के जीवन के विषय में याद है, उन्हें स्मरण होगा कि उन्होंने दर्शन की एक पुस्तक खरीद कर उसके थोड़े से पन्ने पढ़े और उसे किनारे रख दिया। जब लोगों ने उनसे पूछा कि आपने ऐसा क्यों किया, तो उन्होंने कहा, "मैं उसके विचारों से प्रभावित नहीं होना चाहता।" तो आप देखते हैं कि अपने निजी मौलिक विचार करना अत्यधिक कठिन है। इसलिये हम में उद्धरण देने की प्रवृत्ति है। जितना अधिक हम शिक्षित होंगे उतना ही अधिक उद्धरण देंगे। अगर आप इसे समझें तो इसका अर्थ है कि आप ने औरों से अधिक पढ़ा है, परन्तु यह आवश्यक नहीं कि औरों से अधिक समझा है।

अब फ्रॉम व सुजुकी की बातों पर आते हैं। उन्होंने उससे कुछ अधिक नहीं कहा है, जो हजारों वर्षों से भारत के दार्शनिक कहते आ रहे हैं और वह यह कि वैयक्तिक रूप में अतीत व भविष्य वास्तविक हो सकते हैं, परन्तु वस्तुगत रूप में वे अवास्तविक हैं। अब मेरी समझ में नहीं आता कि पूर्व व पश्चिम के लोग समान रूप से एक ऐसे अद्वितीय निष्कर्ष पर पहुंचे तो इस बात का इतना बतंगड़ क्यों बनाया जाता है। मेरा मतलब है कि यह तो ऐसा आधार है जिस पर सम्पूर्ण योग की नींव टिकी है। मैं उनके द्वारा पूर्व व पश्चिम की दूरी को समाप्त करने के इस प्रयास का प्रशंसक हूँ, परन्तु उनका निष्कर्ष मौलिक या चौंका देने वाला नहीं है और शायद सत्य भी नहीं, जो मैं बाद में स्पष्ट करूँगा। क्योंकि ऐसे समय में बाबूजी महाराज आकर वास्तविकता

की एक तीसरी श्रेणी प्रस्तुत करते हैं। वे वैयक्तिक व वस्तुगत से संतुष्ट नहीं। वह कहते हैं, "ये दोनों मानव-मन से देखे जा सकते हैं।" वस्तुगत वास्तविकता भी मानव-मन देख सकता है, इस कारण वह मानव-मन की सीमाओं से बंध जाता है, चाहे वह सीमायें कितनी ही छोटी क्यों न हों। उदाहरण के लिये एक दूरबीन लो - एक इंच वाली या ४०० इंच वाली दूरबीन में क्या अन्तर है? एक दूसरे से अधिक देख सकती है। परन्तु क्या कभी ऐसी दूरबीन हुई है या होगी जो कि एक दृष्टि में पूरा आकाश देख सके? यह सम्भव नहीं है। तो मानवीय अनुभूति में दृष्टि की पूर्णता सम्भव नहीं है। किसी गोलाकार मूर्ति को सब ओर से देखने का प्रयत्न कीजिये एक त्रिआयामी रूप में, आप उसे सब ओर से एक ही समय में नहीं देख सकते। दृष्टि की पूर्णता सम्भव नहीं है।

अतः बाबूजी महाराज ने कहा है कि "बड़े से बड़े सन्त के लिये भी अनुभवपरक क्षमता की सीमाएं हैं, जब तक कि उसमें वास्तविकता की एक अन्य श्रेणी में प्रवेश करने की क्षमता न हो जाय, जिसे वे 'असलियत' कहते थे- जो न वैयक्तिक, न वस्तुगत है, केवल 'वास्तविकता' है। हम यहाँ इसी को पाने का प्रयत्न कर रहे हैं। क्या इस 'वास्तविकता' में कोई अतीत या भविष्य है, यह प्रश्न मेरे लिये एक सनक सी बन गयी थी। क्योंकि मेरा एक सुनिश्चित अतीत था, और मैं एक ऐसे भविष्य की कामना करता था जिसके विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि वह नहीं है। और मुझे खूब सारी विज्ञान कथाएं पढ़ने का शौक था और आकर्षण था। मैं अब भी इसमें कभी-कभी रस ले लेता हूं। विज्ञान कथाओं का एक खास पहलू जिस पर मेरी हमेशा झोंक रही। वह था समय का प्रश्न। क्योंकि असल में अतीत और भविष्य भी समय से ही सम्बन्धित हैं। समय के विचार के बिना आप किसी अतीत या भविष्य की कल्पना नहीं कर सकते। तो सारा प्रश्न समय की धारणा पर निर्भर है। अब यहाँ गीता समय की अतिसुन्दर व्याख्या करती है। जहाँ भगवान श्री कृष्ण कहते हैं, "मैं काल हूँ, मैं विश्व का सृष्टिकर्ता तथा विनाशकर्ता हूँ। मैं सब कुछ हूँ।" तो आप देखते हैं कि हिन्दू धारणा में समय दिव्यता का ही प्रतीक है। इस कारण जब आप दिव्य हो गये तो आपके लिये क्या समय का अस्तित्व है? निश्चय ही नहीं। उस स्थिति में न कोई अतीत है, न वर्तमान और न ही भविष्य। जब हम मानवीय स्तर पर होते हैं तब क्या इसका अस्तित्व है? बेशक! वैयक्तिक रूप से हम समय के दबाव के अधीन होते हैं, यूरोप में पूर्व से अधिक। जो समय के दबाव का सामना हमें

करना पड़ता है उसका लाभ उठाकर जापानी लोग घड़ियाँ बनाकर बेंच कर खूब पैसा बना रहे हैं। आप कह सकते हैं कि वे समय से पैसा बना रहे हैं! अमरीकी लोग समय को पैसे में बदलने का प्रयास कर रहे हैं, और ऐसे में पूर्व के प्रतिभावान् आकर समय से पैसा बनाते हैं। (वे मुस्कुराते हैं) इसके ऊपर आप को विचार करना चाहिये। कौन क्या है? क्या समय पैसा है या पैसा समय है? यह जिक्र तो ऐसे ही था।

गीता में भगवान के यह कहने के बावजूद कि "मैं समय हूँ," मैने बाबूजी से पूछा, "आप प्रगति और विकास की बात करते हैं, क्या उसमें समय नहीं लगता? " उन्होंने कहा, "अगर तुम एक तरीके से देखो तो हाँ, और दूसरे तरीके से देखो तो नहीं। " मैंने कहा, "किस तरह हाँ, और किस तरह नहीं?" उन्होंने कहा, "वह भविष्य जिसकी ओर तुम बढ़ रहे हो, उसका अस्तित्व अभी होना चाहिये।" नहीं तो तुम्हारा विकास उसमें हो ही नहीं सकता। क्या एक वृक्ष किसी स्थान पर बढ़ सकता है जिसका अस्तित्व ही न हो? यह तो एक माँ से यह पूछने की भाँति होगा कि "ममी, एक बच्चे को तुम्हारे पेट में बढ़ने के लिये जगह कहाँ से मिलती है?" आखिरकार जो जीवन एक अकेली कोशिका से आरंभ होकर अब छाछठ सेंटीमीटर लम्बा है, ४.२ किलोग्राम वजन का है, उसे जगह कहाँ से मिली? या एक और अर्थ में, मेरे मन में उठते हुए विचार कहाँ से आये? वह कौन सा स्थान घेरते हैं? और जब वे चले जाते हैं, "तो कहाँ जाते हैं? यह कहना बहुत सरल है, "अवांछित विचारों को त्याग दो क्योंकि अवांछित विचार बिना बुलाये मेहमान की भांति हैं।" तो क्या कोई ऐसा स्थान है जहाँ से वे आते हैं और जहाँ वे जाते हैं? और जब वह मेरे अन्दर हैं तो ठीक-ठीक कहाँ हैं? क्योंकि अगर मुझे पता चल जाये तो मैं वहाँ का द्वार बन्द कर के सब विचारों को रोक दूँ। परन्तु वहाँ बाबूजी मजे में मुस्कुराते हुए कहते हैं, "भविष्य जिस में तुम विकसित हो रहे हो, वह अभी वर्तमान होना चाहिये। जिस भविष्य में तुम विकसित हो रहे हो तुम उस भविष्य का निर्माण नहीं कर सकते। इस कारण भविष्य वर्तमान में है।" उन्होंने भविष्य या भविष्य के अस्तित्व को नकारा नहीं केवल यह कहा, "समय के फैलाव में वर्तमान और भविष्य को तुम्हारी मानवीय चेतना अलग करती है।" समय की वैयक्तिक अवधारणा में मानव चेतना यहाँ गलती करती है। अगर आप मानते हैं कि ईश्वर है, तो वह शाश्वत है, उसके पास समय नहीं है, परन्तु वह ही समय है। तब ईश्वर की अवधारणा के दो पहलू सामने आते हैं: पहला- जो

कि हर स्थान पर, हर काल में एक साथ वर्तमान है, दूसरा कोई ऐसी रहस्यमय वस्तु जिसे हमें प्रयत्न करके उपलब्ध करना है। यहाँ फिर उलट-फेर वाली बात आ गयी।

जैसा मैंने कल कहा था, न आप कह सकते हैं कि 'वह है' और न 'वह नहीं है'। जिसने उसके अस्तित्व का अनुभव नहीं किया उसके लिये वह नहीं है। जिसने उसके अस्तित्व का अनुभव किया है उसके लिये वह है। यह वैयक्तिक भी है और वस्तुगत भी। वास्तविकता की तीसरी श्रेणी में, जिसको बाबूजी ने 'असलियत' कहा, 'वह है'। तीसरी श्रेणी की वास्तविकता, जिसे बाबूजी ने प्रस्तुत किया, उसकी सुन्दरता यही है कि इसमें सभी पहलुओं और सब रंग के मानवीय अनुभवों की गुंजाइश है, फिर भी यह उस वास्तविकता को बचा रखती है जिसमें हमें अधिकाधिक विकसित होना है। फिर मैंने उनसे विकसित होने की बाबत पूछा कि "क्या उसमें समय नहीं लगता?" उन्होंने कहा, "अगर तुम चाहते हो कि मैं इसे वैज्ञानिक रूप से समझाऊँ तो यह थोड़ा कठिन है क्योंकि मैं पढ़ा लिखा नहीं हूँ, परन्तु अगर तुम चाहते हो कि मैं एक सीधे ढंग से बता दूँ तो मैं समझा दूँगा।" उन्होंने एक गुब्बारे का उदाहरण दिया जो बच्चे फुलाते हैं। आप उसे कितना भी बड़ा फुला लें परन्तु उसका केन्द्र नहीं बदलता। तो अगर आप केन्द्र से देखें तो विकास क्या है? केन्द्र कहता है कि "मैं यहाँ हूँ, सदा यहाँ था, मैं शाश्वत हूँ" तो केन्द्र के सन्दर्भ में विकास क्या है?

इसी कारण मेरे विचार से बाबूजी ने ध्येय अथवा दिव्य अस्तित्व को 'केन्द्र' कहा है। विश्व चाहे फैले या सिकुड़े, इससे केन्द्र को कोई फर्क नहीं पड़ता क्योंकि फैलाव केन्द्र से बाहर की ओर होता है और सिकुड़ना बाहर से केन्द्र की ओर होता है। केन्द्र सदा केन्द्र रहता है, शाश्वत, अपरिवर्तित फैलाव व सिकुड़न से अप्रभावित। उन्होंने कहा कि इस अर्थ में केन्द्र, दिव्य केन्द्र तुम में भी विद्यमान है, तो एक अर्थ में तुम बढ़ नहीं रहे हो, परन्तु जब तक तुमने उसे पाया नहीं, पहचाना नहीं, तब तक जिसे हम विकास कहते हैं, उसका तुम्हारे लिये अस्तित्व है। तो आप देखते हैं तब तक आपके लिये प्रगति-अप्रगति, अस्तित्व-अनस्तित्व, पूर्व-पश्चिम, सुजुकी और वह दूसरा व्यक्ति सबका द्वैत है। यह सब चीजें हमारी सीमित चेतना में हैं। अब क्या अतीत, वर्तमान व भविष्य है- अस्तित्व के केन्द्र के रूप में वर्तमान तो अवश्य है, जिसके चारों ओर हम घूम रहे हैं, क्योंकि जैसे एक्सेल ने ठीक कहा अतीत व भविष्य की चेतना हमारे वर्तमान में है, किन्तु मैं यह सुझाव दूँगा कि वह कुछ पन्ने 'गार्डन ऑफ हार्ट्स' के पढ़े जिसमें मैंने बाबूजी

और हम लोगों में भिन्नता के विषय में कहा है। मुझे ठीक स्मरण तो नहीं कि मैंने वहाँ क्या लिखा है, परन्तु वह अतीत में जीने, वर्तमान में जीने, भविष्य में जीने से सम्बन्धित है। जब मानव अपने अतीत में जाकर उस अतीत को एक वैयक्तिक रूप में पूर्ण रूप में वर्तमान में ले आते हैं, तब वे अपने आप को अतीत में ले जाकर, वर्तमान द्वारा दिये गये अवसरों को खो देते हैं। वही बात तब होती है जब हम दिवा-स्वप्नों व इच्छाजनित विचारों द्वारा, अपनी अभिलाषाओं के विषय में विचार करते हुए-- काश मेरे पास कार होती; काश मेरी एक पत्नी होती, ऐसी ही आकांक्षाएं करते हुए अपने को भविष्य में प्रक्षेपित करते हैं। वहाँ भी पूर्ण रूप से यह कहना ठीक होगा कि हम भविष्य को वर्तमान में ला रहे हैं, अथवा भविष्य के कुछ विचार वर्तमान में ला रहे हैं, परन्तु हम कहाँ हैं? हम वर्तमान द्वारा दिये गये अवसरों को नकारते हुये भविष्य में जाने का प्रयत्न कर रहे हैं।

इस अर्थ में दार्शनिक व सन्त कहते हैं, ''वर्तमान में रहो'', क्योंकि वर्तमान ही ऐसा है जिसमें वास्तविकता की तीनों श्रेणियाँ हैं : वैयक्तिक वास्तविकता, वस्तुगत वास्तविकता और 'असलियत'। इस अर्थ में वर्तमान पूर्ण है। अतीत के विषय में आप केवल कह सकते हैं कि ''उसमें वैयक्तिक वास्तविकता है।'' मैं आपको एक साधारण उदाहरण देता हूँ: अक्सर बच्चे अपने माता पिता की शादी के अलबम की फोटो देखकर यह जानना चाहते हैं कि वह उस फोटो में क्यों नहीं हैं। वह यह मान लेते हैं कि जो अतीत उनके माता पिता का है वही उनका अतीत भी है। मानव रूप में अतीत तो केवल उनके जन्म से आरम्भ हुआ। तो यह सब सीमायें हैं। इसलिये जब हम वास्तविकता की श्रेणियों की बात करते हैं तब हमें अति सावधान रहना चाहिये। कृपया याद रखिए कि मानव रूप में हमारे लिये अतीत व भविष्य की कुछ वास्तविकता है, जो कि वस्तुगत रूप में उपस्थित न हों, परन्तु प्रत्येक के लिये वैयक्तिक रूप में हैं। 'असलियत' में इसका स्थान है, यह हम नहीं जानते, हमें पता करना होगा। वर्तमान हम सब के लिये तीनों प्रकार की वास्तविकता लिये है यह ऐसा कहने के समान है कि 'असलियत' में वैयक्तिक व वस्तुगत वास्तविकता दोनों हैं और वह दोनों से ऊपर है। इसलिये वर्तमान वह बीज रूप है जिससे भविष्य वस्तुगत होगा। एक दूसरे प्रकार से देखें तो वह वृक्ष जिसे अभी बड़ा होना है, वह अभी भी बीज में है। इस प्रकार से देखने पर वृक्ष अभी भी मौजूद है। आप केवल अपनी मानव चेतना में उसे वस्तुगत रूप दे रहे हैं। इस प्रकार आप देखते हैं कि यह विषय अनावश्यक रूप से अतीत व

भविष्य के बारे में सोचने से पेंचीदा हो जाता है। तो बाबूजी ने इसे अति सुन्दर और सरल तरीके से बताया है, ''अतीत को भूल जाओ।'' अतः सहज मार्ग में हमारे लिये अतीत का कोई अस्तित्व नहीं है। भविष्य? अगर आप 'केन्द्र' से देखें तो कोई भविष्य नहीं है। अगर आप परिधि से देखें तो प्रश्न केवल 'केन्द्र' में अपने को डुबोने का है, केन्द्र की ओर जाने का है, जिसे 'सी' ने कहा ''घर जाना है'', और वही बाबूजी भी कहते हैं तो यह प्रथम प्रसंग के बारे में है। अन्दर और बाहर में कोई फर्क नहीं। यहाँ फिर अपने नजरिये का प्रश्न है। अगर आप खिड़की के एक ओर हैं तो अन्दर देख रहे हैं और दूसरी ओर हैं तो बाहर देख रहे हैं। अगर कोई खिड़की या घर न हो तो कोई अन्दर या बाहर नहीं होगा। इस विषय में मैंने किसी बातचीत के दौरान कहा है, मुझे याद नहीं कहाँ, शायद वेल्स में। मुझे याद नहीं मैंने क्या कहा था परन्तु इनमें से अधिकतर बातों के बारे में मैं उस वार्ता में कह चुका हूँ अन्दर-बाहर, दाहिना-बायाँ, ऊपर-नीचे का प्रश्न तभी उठता है जब आप कुछ बीच में, एक रेशम का टुकड़ा भी, रख देते हैं। यह जगह को छोटे टुकड़ों में बाँटने के फलस्वरूप पैदा होता है जैसे कमरे, बैठक, घर, कोठियाँ आदि। अन्तरिक्ष में कोई अन्दर या बाहर नहीं होता। यह भौतिक तत्व की उपज है। जहाँ कोई भौतिक तत्व नहीं, वहाँ कोई अन्दर बाहर नहीं होता।

जब हम आध्यात्मिक संसार की बात करते हैं, जो कि परिभाषा के अनुसार अभौतिक है, तो उसमें कोई अन्दर या बाहर नहीं हो सकता। वह संसार है, पर उसका कोई अन्दर-बाहर नड़ीं है। उस अर्थ में वैसा है, परन्तु एक सीमित मानवीय अर्थ में, उनका अस्तित्व है। एक श्रेणी की वास्तविकता की पुष्टि और व दूसरे श्रेणी की अस्वीकृति का प्रश्न नहीं है, जो दुःखद भूल छठीं शताब्दी में शंकर ने की थी। इसमें नयी बात क्या है? इस दुःखद स्थिति से हमें कुछ सीखना चाहिये- कि निचले स्तर की वास्तविकता को नकारे बिना हमें उससे ऊपर उठना है। अब जिस वस्तु के अस्तित्व को आप मानते ही नहीं उससे ऊपर कैसे उठ सकते हैं? इस महान संकट का भारत ने सामना किया और कर रहा है। सन्यासी पेड़ के नीचे बैठकर हुक्का पीते हुए आनन्दपूर्वक इस संसार के अस्तित्व को, अपने अस्तित्व को नकारते हैं। और अगर आप उनसे पूछिये, ''आप पेड़ के नीचे बैठ कर हुक्का क्यों पी रहे हैं?'' तो वे कहते हैं, ''मेरे पुत्र, तुम्हारे लिये यह हुक्का पीना है, मेरे लिये नहीं, जब मैं यहाँ हूँ ही नहीं तो फिर हुक्का कैसे पी सकता हूँ?'' हम इसे वाक्छल कहते हैं। सरासर झूठ। इसलिये निचले स्तर की

वास्तविकता को स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है। फिर हम उसे एक सीढ़ी के रूप में अपनी आगे की यात्रा के लिये प्रयोग करते हुये उससे ऊपर उठ जाते हैं। नहीं तो वह "नहीं, यह है ही नहीं" कहने जैसा है। तब एक स्तर पर हम वास्तविकता की अन्य विकृत श्रेणियों में डूबने के लिये बाध्य हो जाते हैं जो पूर्णतया वैयक्तिक, दम घोटने वाली व आत्मा को बाँधने वाली होती हैं, और जो अन्त में हमें शारीरिक रूप से भी पागलखाने पहुँचा देती है। तो वास्तविकता की श्रेणियाँ जो कि सत्य हैं चाहे वे कितनी ही वैयक्तिक क्यों न हों, उसको अस्वीकार करने पर हम अवास्तविक सत्य की श्रेणियों को जन्म देते हैं और संभ्राति व पागलपन जैसी चीजों के पंजे में पड़ जाते हैं। तो स्वस्थ मन को पहले वैयक्तिक वास्तविकता के अस्तित्व को स्वीकार करना होगा; फिर उससे बाहर निकल कर वस्तुगत वास्तविकता को अनुभव करना होगा, और तब उससे ऊपर उठ कर 'असलियत' के क्षेत्र में कदम रखना होगा। यह दिव्यता की ओर सहज विकास का पथ है। सहज मार्ग पद्धति में मेरे गुरुदेव यही प्रस्तुत करते हैं।

अब तीसरे प्रसंग के बारे में, "मानव जीवन हमें एक अद्वितीय अवसर देता है इस चेतना के लिये कि हम सब एक हैं"।

प्रश्न- "हम वास्तव में क्या हैं?"

उत्तर- आपने कहा, "हम वास्तव में क्या हैं", "हम वास्तव में कौन हैं"। मेरे विचार में इसको स्पष्ट करने की कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि बाबूजी ने कहा है "हम सब जानते हैं कि हम कौन हैं।" सुजुकी तथा फ्रॉम से क्षमा माँगते हुये, हमें पता लगाना है कि हम क्या हैं। यही सहज मार्ग का तरीका है। मैं 'बी' का आभारी हूँ कि उसने मुझे यह स्पष्ट करने का अवसर दिया कि वास्तविकता की तीसरी श्रेणी क्या है, या वास्तविकता की दिव्य श्रेणी जिसे हम तीसरी श्रेणी के रूप में देखते हैं। बाबूजी ऐसी गलती नहीं करते। वे कहते हैं "अनन्त की ओर"। विकास के होने पर जो हम अब तक नहीं देख पाये वह देखेंगे। जो हमने नहीं देखा वह अब देखेंगे। जैसे पहाड़ पर चढ़ने पर अनुदृश्य बदलते रहते हैं। बाबूजी ने वास्तविकता को भी किसी भी क्षण अपनी दृष्टि से सीमित नहीं करना चाहा जो कि बहुत ही अहंकारी कार्य होता। इसके विपरीत उन्होंने अत्यन्त नम्रता से कहा कि लालाजी अभी भी केन्द्र की ओर तैर रहे हैं, और "मैं उनके पीछे तैर रहा हूँ।" जैसे-जैसे हम आगे बढ़ेंगे, कौन कह सकता है कि वास्तविकता की कौन कौन सी श्रेणियाँ हम देखेंगे? अभी कौन कह सकता है? अभी कोई भी नहीं कह सकता इसलिये केन्द्रीय क्षेत्र की बात करते

हुए बाबूजी ने प्रकाश के सात वृत्त बताये हैं और उसके अन्दर एक अपरिभाषित क्षेत्र है और यह कार्य उन्होंने भावी पीढ़ियों के अनुसंधान व निर्णय के लिये छोड़ दिया है कि उसमें कोई और वृत्त है या नहीं।

तो वह सहज मार्ग के भावी अनुसंधान का हिस्सा है। कुछ न कुछ अवश्य बचा रहेगा, क्योंकि दिव्यता यह नहीं कह सकती कि ''अब सब चुक गया'' क्योंकि अगर दिव्यता अनन्तता है तो किसी भी स्थिति को हम अन्तिम सीमा मानकर यह नहीं कह सकते ''यह हमने प्राप्त कर लिया है और अब कुछ भी प्राप्त करने को नहीं बचा।'' तो सहज मार्ग की भव्यता व सुन्दरता है कि वास्तविकता की श्रेणियों की व्याख्या करते हुए या व्याख्या करने के प्रयास में हम उसे ही अपने विकास का यंत्र और साथ ही लक्ष्य बनाते चलते हैं और एक भविष्य सदा हमारे आगे बना रहता है। इस अर्थ में अनन्त को अनन्त ही होना चाहिये। अतः किसी का भी कथन इस संदर्भ में अन्तिम नहीं हो सकता। इस प्रकार यह वैज्ञानिक वास्तविकता को स्वीकार करना है और साथ ही साथ जिन्हें हम 'वास्तविकता का गुरु' मानते हैं उनकी मानवीय नम्रता की अभिव्यक्ति है। अगर आप इस वक्तव्य को सही-सही समझना चाहें तो आप एक बात समझ जायेंगे कि वास्तविकता अपने आप को परिभाषित नहीं कर सकती। जैसे ईश्वर नहीं जान सकता कि वह ईश्वर है, उसी प्रकार वास्तविकता स्वयं को परिभाषित नहीं कर सकती। इस कारण वास्तविकता की कोई परिभाषा एक मानवीय मन द्वारा ही हो सकती है। जैसे-जैसे हमारा विकास होता है, हमें और अधिक दृष्टिगोचर होता जाता है। और वही सहज मार्ग का ''अनन्त की ओर'' है।

धन्यवाद।

दिव्य प्रेम

६ सितम्बर १९८७, सायंकाल

मुझे सचमुच पता नहीं कि मैं किस विषय पर बोलूँ? शायद भय पर? पिछले कुछ दिनों में मुझे बहुत से पत्र आये हैं, मालूम नहीं कि वे नये अभ्यासी हैं, अथवा पुराने। वह सब मुझसे मिलना चाहते हैं, परन्तु मिलने से डरते हैं। पता नहीं वे किस चीज से डरते हैं। एक अभ्यासी को आज सिटिंग के दौरान अनुभव हुआ कि यह डर 'स्वयं' से था। मेरे विचार में भाई पैट्रिक इसी की चर्चा कर रहे थे । हमें इस डर को हटाकर किसी प्रकार का सम्पर्क स्थापित करने का प्रयत्न करना चाहिये।

फिर मेरे उपलब्ध होने का प्रश्न है - - - मैं यहाँ हूँ, और इससे अधिक मैं क्या करूँ मुझे नहीं पता। एक पहेली और है कि आप मुझसे कितनी घनिष्ठता से मिलना चाहते हैं? (हास्य) यह एक शिकायत थी कि वे मुझसे घनिष्ठता से नहीं मिल पाते। बेशक, हम किस हद तक जा सकते हैं उसकी सीमाएं हैं और उस सीमा की परिधि में मैं सदैव प्राप्य हूँ। (वे हंसते हैं) (हास्य) खैर, यह तो एक मजाक है। और दूसरी समस्या है भाषा की बाधा। मैं कई अभ्यासियों को जानता हूँ जो मुझसे अकेले बात करना चाहते हैं और वे यह भी नहीं चाहते कि कोई अनुवाद करे। अब जब तक वह अंग्रेजी नहीं सीखते या मैं फ्रेंच नहीं सीखता तब तक क्या किया जाये। कल तीन अभ्यासी थे जिनको केवल महिला अनुवादक चाहिये थे।

तो काफी समस्यायें हैं, किंतु वे वास्तव में समस्यायें नहीं है। यह मैं अपने गुरुदेव के साथ अपने अनुभव के आधार पर कह सकता हूँ। हालाँकि मुझे बड़ी सुविधा थी कि मैं उनकी भाषा हिन्दी बोल सकता था, परन्तु दक्षिण भारत के ऐसे हजारों अभ्यासी थे जो गुरुदेव के साथ बातचीत नहीं कर पाते थे पर उनका काम मजे में चलता था। उनके पास पूछने को अनेक प्रश्न होते, परन्तु उनको बिना पूछे ही उत्तर मिल जाता। अनेक बार कई लोग समूह में उनके सम्मुख बैठे होते, पूजा की कामना लिये और गुरुदेव स्वयं कह देते "मैं तुम्हें पूजा दूँगा," क्योंकि वह उनके हृदय की पुकार को, इच्छा को समझ पाते थे, देख पाते थे। जब वह भूखे होते तो उन्हें उनके भूखे होने का पता चल

जाता और वह किसी को आदेश देते कि इन्हें रसोई में ले जाकर भोजन कराओ। मेरा निजी अनुभव है कि एक बार सर्दी में मैं बिना कुछ नीचे बिछाये और बिना कुछ ओढ़े सो गया, ग्यारह बजे रात में वे कहीं से एक कम्बल लेकर आये और मुझे उढ़ा दिया।

हम सहज मार्ग में ऐसा ही कुछ तलाश करते हैं कि हम जिस लिये आये हैं वह पूर्ण हो। बेशक, यह सब ऊपरी हँसी-मजाक अच्छा है। परन्तु वास्तविक चीज यहाँ हृदय में है और अगर हमारे जाने के पहले उसकी पूर्ति न हो तो यह सब बातचीत व भाषण इत्यादि व्यर्थ है। एक बार मैंने गुरुदेव से पूछा था कि आध्यात्मिक लोगों के लिये भाषा का कितना महत्व है, क्योंकि जब मैं उनसे १९६४ में मिला तब वे अपने ही हिन्दी भाषी लोगों से घिरे होते थे और थोड़े से दक्षिण भारत के लोग होते थे। फिर १९७०-७१ तक कम से कम चार-पाँच भाषाओं के लोग होते थे, हिन्दी, गुजराती, तमिल बोलने वाले, तेलुगू बोलने वाले, कर्नाटक के कन्नड़ बोलने वाले, सभी भिन्न भाषायें और सन् ७२ के बाद तो शाहजहाँपुर में उनका घर अनगिनत भाषाओं का अड्डा बन गया। इतनी भाषायें - फ्रेंच, जर्मन, डैनिश, इटैलियन आदि ....। कभी-कभी यह पता लगाना भी कठिन हो जाता था कि कौन क्या बोल रहा है। फिर भी गुरुदेव अपना काम मजे से चला लेते क्योंकि वह लोगों की बातें उनकी भाषा में नहीं सुनते थे। वह उनसे सम्पर्क व बातचीत उस एकमात्र विश्वव्यापी भाषा में करते थे जो हमें उपलब्ध है - हृदय की भाषा। एक बार मैंने उनसे पूछा कि यह कैसे सम्भव है? और तब आँखों में झलकती एक चमक के साथ उन्होंने एक अत्यन्त सरल उत्तर दियाः " प्रेम को भाषा की आवश्यकता नहीं है।" यही सत्य है।

हमें भी उसी भाषा को सीखने का प्रयास करना है। अगर आप गुरुदेव के प्रति प्रेम में एक और स्तर ऊपर उठ सकें तो ऐसे में प्रेमास्पद की उपस्थिति या अनुपस्थिति का कोई महत्व नहीं रह जाता। प्रेम के केवल निम्नस्तर पर ही शारीरिक सम्पर्क का महत्व है। मेरे विचार में यह पशु-जीवन का बचा-खुचा अंश है जिसे हम इस मानवीय जीवन में ले आये हैं। आप जानते हैं कि जब पशु आपस में मिलते हैं तो एक दूसरे को सूंघते हैं, छूते हैं, आदि आदि। मेरे विचार में मानव में यह प्रवृत्ति बच गयी है। ऐसा मैं किसी अनादर या आलोचना की भावना से नहीं कह रहा हूँ। यह केवल एक अनुमान है कि आखिर यह आवश्यक क्यों है। क्योंकि प्रेम का अस्तित्व केवल प्रेम के लिये बिना शरीर के भी हो सकता है। आप सब जो मेरे गुरुदेव, बाबूजी

को जानते थे, अभी भी उनसे प्रेम करते हैं। मेरा मतलब है कि उनके शरीर को गये हुए चार साल या उससे भी अधिक हो गया है, परन्तु हमारा प्रेम, सच्चा प्रेम है। वह ऐसा नहीं है जैसा कि किसी फोटो को देखकर कहना, "ओह! यह मेरी पत्नी है। मैं इसे बहुत प्यार करता हूँ।"

अब हम उस व्यक्ति से किस प्रकार प्रेम करते हैं जो अनुपस्थित ही नहीं, परन्तु साधारण भाषा में मृत है? अगर यह कुछ सिद्ध करता है तो वही सिद्ध करता है जो मैं कह रहा हूँ, कि हम व्यक्ति की उपस्थिति के बिना भी उससे प्रेम कर सकते हैं। उसके कभी भी उपलब्ध न होने की सम्भावना होने पर भी हम उससे प्रेम कर सकते हैं। क्योंकि अब बाबूजी का शारीरिक रूप में आना कभी भी सम्भव नहीं। और भी महत्वपूर्ण है कि हम अभी भी अपने प्रति उनके प्रेम को अनुभव करते हैं। कम से कम मैं करता हूँ, और मुझे विश्वास है कि यहाँ पर कई अन्य लोगों का भी यही अनुभव होगा। अब न तो उनका शरीर है और न ही वह हमारी इस पृथ्वी पर हैं, तो वह हमें कहाँ से प्रेम कर रहे हैं? वह कैसे प्रेम कर रहे हैं? हमारे पास अभी शरीर है, हृदय है जिससे हम उनके यहाँ न आने पर भी उनसे प्रेम कर सकते हैं परन्तु बिना शरीर के, बिना हृदय के अपने दिव्य अस्तित्व से जहाँ उन्हें हमारे बारे में सोचने की भी कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि वे एक भिन्न स्तर पर हैं और हम एक दूसरे स्तर पर हैं, वह अभी भी हम से कैसे प्रेम करते हैं?

तो आप ने देखा कि प्रेमियों के लिये जरूरी नहीं कि उनके पास शरीर हो या दिल हो। प्रेमास्पद के लिये भी शरीर या दिल होना जरूरी नहीं है बशर्ते कि जब दोनों शारीरिक रूप से उपस्थित थे उस समय यह प्रेम सुदृढ़ हो चुका हो। मेरे विचार में यही वजह है कि गुरु शारीरिक रूप से आते हैं। अगर वे कभी भी आये न होते तो हम उनसे प्रेम नहीं कर सकते थे। मेरा मतलब है कि क्या आप एक गुरु की कल्पना करके केवल एक काल्पनिक गुरु से प्रेम कर सकते हैं? यह सम्भव नहीं है। सो मेरे विचार में यह सब इसीलिये होता है, विशिष्ट व्यक्तित्व हमारे सम्मुख आता है, अपने आप को हमें दिखाता है, हमसे बातें करता है, हँसता है, मजाक करता है, हमारे साथ खाता है, ताकि हम उससे प्रेम करना सीख सकें, और हाँ, उसका प्रेम तो सदैव शाश्वत होता है। तो यह महत्वपूर्ण नहीं कि उसे हमसे प्रेम करना सीखना है, क्योंकि वह जहाँ है वहीं से हमसे प्रेम कर सकता है। हमारे सम्मुख अपने महान प्रेममय गुणों तथा अपनी कमजोरियों व विचित्र

विशेषताओं के साथ जैसे थूकना या हुक्का पीना आदि के साथ वह अपने को प्रस्तुत करता है, हमारे प्रेम को पैदा करने के लिये, उसी तरह जैसे एक बच्चा वही खिलौना माँग सकता है जिसे उसने देखा हो। कोई ऐसा पुरुष नहीं जन्मा है जो एक अमूर्त स्त्री से प्रेम कर सके और स्त्रियों की प्रेम करने की पूरी क्षमता के बावजूद क्या वे ऐसे पुरुष से प्रेम कर सकती हैं जिसको उन्होंने कभी देखा ही न हो।

तो इस प्रेमी व प्रेमिका की घटना को आरम्भ करने के लिये उपस्थिति आवश्यक है। जैसे मोमबत्ती को जलाने के लिये माचिस की आवश्यकता है परन्तु एक बार मोमबत्ती जलने के पश्चात् माचिस बेमतलब है। अब मोमबत्ती महत्वपूर्ण हो जाती है। शायद इसी प्रकार गुरुदेव एक माचिस के समान हैं, एक दिव्य ज्योति जलाने वाला, अपनी दुनिया में, अपने क्षेत्र में सदा प्रज्ज्वलित, वह नीचे केवल हमें प्रकाशित और प्रज्ज्वलित करने आते हैं। ताकि वह प्रेम जो हमारे हृदय में है, ठन्डा, बर्फीला व स्वार्थी, वह उसे प्रज्ज्वलित करके पिघला देते हैं, तब उनका कार्य पूरा होता है। फिर वह कहते हैं, "अलविदा, अब तुम वह करो जो मैंने तुम्हारे लिये किया है।" अब हमें भी एक अति महत्वपूर्ण चीज याद रखनी है; वह अपना दिव्य प्रेम लेकर आते हैं, दिव्य प्रेम की ज्योति से हमारे हृदयों को प्रज्ज्वलित करते हैं, हमें भी अपनी भांति सुलगा देते हैं, और फिर हमें यही ज्योति अपनी अगली पीढ़ियों को देते जाना है। अगर हम यह सोचें कि यह केवल हमारे आनंद के लिये है या गुरुदेव के साथ आत्मीयता के लिये है तो यह उनके प्रेम के साथ विश्वासघात है। तो आप देखते हैं कि वह हमें प्रेम करने आते हैं, इसलिये नहीं कि उन्हें हमारे प्रेम की आवश्यकता है। वह हमें यह सिखाने के लिए आते हैं कि प्रेम कैसे किया जाता है ताकि हम औरों को भी प्रेम करना सिखा सकें। फिर हो सकता है कि एक दिन पूरा संसार प्रेम से परिपूर्ण हो जाये, जिसकी हम आशा करते हैं। तो यही समस्या है या यही उद्देश्य है जिसके लिये गुरु हमारे सामने आते हैं।

आध्यात्मिकता एक बड़ा शब्द है जिसमें बहुत अधिक अक्षर हैं, मेरे विचार में शायद सात अक्षर हैं प्रेम में केवल ढाई हैं और यह किस बात का प्रतीक है? 'उनका', मेरा, मेरे लिये उनके प्रेम का, उनके लिये मेरे प्रेम का? आम तौर पर हम अपने लिये उनका प्रेम चाहते हैं। हमें उनसे कैसे प्रेम करना चाहिये? तो प्रेम प्राप्त करने की यह इच्छा अभी भी अत्यन्त मानवीय है। हम अभी भी अत्यन्त मानवीय हैं। हम यही चाहते हैं कि प्रेम करने के बजाय प्रेम पायें। यह मानव

हृदय की साधारण पुकार है: ''मुझे कोई प्यार नहीं करता।'' यह बहुत आम बात है। अब कोई आपको क्यों प्यार करे? मेरा मतलब है कि ऐसा कोई तर्कसंगत कारण नहीं है जिसकी वजह से किसी को प्रेम किया जाय। यह बात कि मुझसे कोई प्रेम नहीं करता आप केवल उस हालत में कह सकते हैं जब आप प्रेम करने योग्य हों और आपसे किसी को प्रेम न हो। अब गुरुदेव इसका उल्टा कार्य करते हैं। यहाँ पर कोई भी उनके प्रेम के योग्य नहीं है परन्तु वह हमें प्रेम करते हैं। परन्तु जब हमारी दूसरों से प्रेम करने की बात आती है, जैसा कि वह चाहते हैं कि हम करें, तो हम कहते हैं, ''ओह, वह इस योग्य नहीं, मैं केवल उनसे प्रेम करता हूँ जो इस योग्य हैं।'' फिर हम उनकी भाँति कैसे बन सकते हैं?

उनके जैसा बनने का अर्थ है, उनके जैसा होकर रहना, बिना किसी भेदभाव के उनकी भाँति प्रेम करना। वे हर मौजूद प्राणी से प्रेम करते हैं, जो उनके सामने हैं। केवल उनसे ही नहीं, परन्तु जो अभी पैदा भी नहीं हुआ शायद उससे भी क्योंकि उस प्रकार के प्रेम में कोई देश और काल की सीमाएँ नहीं हो सकतीं। नहीं तो जिस क्षण वह हमें छोड़ कर गये थे, वे हम से तभी प्रेम करना बन्द कर देते। या वह हमें इतना प्रेम न करते कि हमारी खातिर यहाँ आते क्योंकि उन्होंने हमें पहले कभी देखा ही नहीं था, तो वह हमारे पैदा होने के पहले से हम से प्रेम करते हैं, वे हमसे प्रेम करते हैं जब हम उनके सामने होते हैं और वे हमसे तब भी प्रेम करते हैं जब हम इस अस्तित्व के परे चले जाते हैं। केवल उनका प्रेम ही शाश्वत नहीं है परन्तु उनकी उपस्थिति में हम भी एक प्रकार से शाश्वत हैं क्योंकि उनके प्रेम में कोई मृत्यु या जीवन नहीं और न ही जीवनोपरान्त जैसी कोई चीज है। इस कारण हमारे प्रति उनका प्रेम यह सिद्ध करता है कि हम भी उनकी भाँति शाश्वत हैं और यह सब जीवन-मृत्यु की क्रिया हमारी इन्द्रियों का खेल है, चेतना का एक खेल। हमें केवल यह समझना है, ''अगर वह मेरे पैदा होने के पहले से मुझसे प्रेम करते हैं, तो मैं किसी न किसी रूप में अवश्य रहा होऊँगा ताकि वह मुझे प्रेम कर सकें। ''जब मैं जीवित हूँ तब तो मैं प्रेम करने के लिये उनके सम्मुख हूँ ही, अपनी मृत्यु के पश्चात् भी मैं किसी न किसी रूप में अवश्य रहूँगा ताकि वे मुझे प्रेम कर सकें। तो वह मेरा कौन सा सातत्य है जो भूत, वर्तमान तथा भविष्य में मौजूद रहता है? अवश्य ही वे उसी से प्रेम करते होंगे। और अगर वह मेरे पास हैं तो मुझे और क्या चाहिये? क्योंकि वे शाश्वत हैं अतः मैं भी शाश्वत हूँ, हम दोनों का प्रेम शाश्वत

है और यह मिलने-बिछुड़ने का तमाशा हमें इस वास्तविकता के प्रति जागृत करने का खेल है। वे कहते हैं, ''तुम जो मानव हो, अपने को अपनी इन्द्रियों और अपनी इच्छाओं से आच्छादित मत होने दो। तुम्हारा जीवन, जिसे तुम समझते हो, वहाँ से लेकर जिसे तुम मृत्यु समझते हो वहीं तक ही नहीं है। इसलिये इन ६० या ७० वर्षों में अस्तित्व के समस्त सुखों को ठूँसने का निष्फल प्रयत्न मत करो। हर हालत में जो कुछ भी तुम अपने इस शरीर से कर सकते हो वह उसकी तुलना में बहुत स्थूल है जो प्रेम अपने सूक्ष्मतम रूप में कर सकता है। यह बात तुम मुझसे सीखो।'' वह हमें यही सिखाने आते हैं।

इसलिये यह उनके महान प्रेम व कृपा का सूचक है कि वे, वह करते हैं जो उनको करने की आवश्यकता नहीं। अपनी दिव्य सम्पदा को छोड़कर, वे एक मानव रूप धारण कर, उसके समस्त परिणामों को भोगते हुए, केवल अपने स्तर तक उठाने के लिये आते हैं। जब आप एक बच्चे के साथ खेलते हैं तो आपको फर्श पर बैठना पड़ता है, घुटनों के बल चलना पड़ता है, अपने कपड़े व हाथ गन्दे करने पड़ते हैं। आप अपने बच्चे के लिये क्या यह सब करने को तैयार नहीं हैं? वे भी हमारे लिये ऐसा ही करते हैं। सो याद रखिये कि उनका यहाँ पर आने का एकमात्र उद्देश्य हमें अपने स्तर तक उठाना ही है। नहीं तो उनका यहाँ आना बिल्कुल बेकार है। इस प्रक्रिया में हमें विश्वास दिलाने के लिये कि वह हमारी ही भाँति हैं और इसलिये हम उनकी भाँति हैं, जबकि हम अभी केवल मानव ही हैं, उन्हें वह सारे मानवीय कार्य करने पड़ते हैं। यह उसी प्रकार है जैसे एक पिता अपने पुत्र से कहे, ''बेटे, तुम मेरे पुत्र हो, जो भी मेरा है वह तुम्हारा है। यह मत सोचो कि तुम मुझसे कुछ भिन्न हो। मेरा नाम तुम्हारा नाम है, मेरा परिवार तुम्हारा परिवार है, मेरी सम्पत्ति तुम्हारी सम्पत्ति है, अन्तर केवल इतना है कि मैं बड़ा हूँ, वयस्क हूँ, मुझे इन सब चीजों का पूरा ज्ञान है, तुम अभी बच्चे हो और तुम्हें अभी सब कुछ जानना बाकी है।'' अतः पिता हमारा हाथ पकड़ कर हमें राह दिखाता है, जब तक हम उस जैसे नहीं बन जाते। वही चीज गुरुदेव हमारे लिये करते हैं।

यदि कोई ऐसा भी है जिसे इस सारे खेल की कोई आवश्यकता नहीं है, तो प्रत्यक्ष रूप से वह उपेक्षित दिखाई देगा। परन्तु वास्तव में वह उपेक्षित नहीं है, क्योंकि उसको इसकी आवश्यकता ही नहीं है। मान लीजिए कि एक तीन वर्ष का बालक वैसा ज्ञान प्राप्त कर लेता है जैसा उसका पिता है तो अन्य बालकों की भाँति उस पर भी ध्यान केन्द्रित करके उसे सिखाना-पढ़ाना माता-पिता के समय और मेहनत की

बरबादी होगी। यह सामान्य बात है कि एक बीमार बालक को स्वस्थ बालक की अपेक्षा अधिक ध्यान दिया जाता है। उसको उसकी आवश्यकता भी है। क्या कोई इसके लिये शिकायत कर सकता है? केवल एक अति स्वार्थी व्यक्ति ही ऐसा करेगा। हमें यह भी याद रखना चाहिये कि जो ध्यान मेरे गुरुदेव देते हैं वह आवश्यकता पर आधारित है। आपको मालूम है, कुछ लोगों के साथ बात करनी पड़ती है, कुछ की आलोचना करनी पड़ती है, कुछ लोग केवल एक मुस्कान से ही संतुष्ट हो जाते हैं, कुछ दूर से ही उन्हें एक नजर देख कर प्रसन्न हैं, और कोई बिरला यह जानते हुए कि गुरुदेव वहाँ हैं, घर पर ही रहने को तैयार हैं। 'वहाँ' से अर्थ यहाँ-वहाँ या किसी स्थान विशेष से नहीं है। गुरुदेव हैं, मैं हूँ, और अब हमें करने, कहने या महसूस करने को क्या है? ऐसा अभ्यासी अति दुर्लभ होगा क्योंकि वह करीब-करीब गुरुदेव की भाँति होगा। तो आप देखते हैं कि आरम्भ में हमें पूरा ध्यान दिया जाता है, और अगर हमारा विकास जैसा होना चाहिये होता है तो इसका सूचक, डरिये मत, हमारे ऊपर गुरुदेव के ध्यान की कमी हो सकती है। दिल से तो वे फिर भी ध्यान देते हैं, नहीं तो हमारा विकास ही न हो। पर ऊपरी मानवीय ध्यान रुक जाता है। तभी समस्या उत्पन्न होती है। यह वैसा है, जैसे परिवार में दूसरे बच्चे के आने पर पहले को ईर्ष्या होती है। कल तक उसे पूरा दुलार मिल रहा था और अचानक यह दूसरा बच्चा न जाने कहाँ से आ गया और अब सब उस छोटे से हाड़ मांस के पुतले पर इतना बतंगड़ बना रहे हैं। फिर परिवार में समस्या आरम्भ होती है। फिर वाकई माँ को परेशानी होती है। पहले वाले बच्चे को किस प्रकार अनुशासित किया जाए कि उसके दिल में आपके लिये नफरत भी न पैदा हो। उसे यह भी न लगे कि दूसरे बच्चे की तुलना में उसकी उपेक्षा की जा रही है या कम प्यार किया जा रहा है। मेरे विचार में गुरुदेव को भी ऐसी ही समस्या का सामना करना पड़ता है।

जैसा कि मैं पहले टूरेटसूर लूप में शायद पिछले वर्ष कह चुका हूँ, इन सब का कारण ईर्ष्या है। हमें गुरुदेव के ध्यान की आवश्यकता अपने विकास के लिये नहीं बल्कि अपनी संतुष्टि के लिये चाहिये कि वे हमारे विषय में भी सोचते हैं। मैंने देखा है कि कभी-कभी कोई अभ्यासी कोने में छिप कर रो रहा होता है, उनसे केवल इतना पूछने की आवश्यकता होती है, "तुम क्यों रो रहे हो?" बस इतना ध्यान पर्याप्त है। हमें सीखना है कि गुरुदेव का ध्यान केवल विकास के लिये माँगें न कि सन्तोष के लिये, क्योंकि आध्यात्मिकता में सन्तोष व्यर्थ की

चीज है। अगर गुरुदेव आन्तरिक रूप में मुझ पर ध्यान दे रहे हैं तो मैं वाह्य रूप से उपेक्षित होने को तैयार हूँ। वह ही असली चीज है।

आज सायंकाल घूमते हुए हम प्रेम व संग-साथ के विषय पर बात कर रहे थे, और एक लड़की थोड़ा परेशान थी। तो मैंने उससे एक प्रश्न पूछा "जब तुम अपने प्रेमी के साथ होती हो या जब प्रेमी हाथ में हाथ डाले घूमने जाते हैं तो ऐसे में उन्हें क्या प्राप्त होता है? अक्सर उनके बीच बहस या झगड़ा होता है और वे अलग हो जाते हैं, कभी-कभी सदैव के लिये। यह इस पर निर्भर करता है कि कितना कस के झगड़ा हुआ है। (वे मुस्कुराते हैं) इसके विपरीत जब वे नहीं मिलते तो वे एक दूसरे के बारे में सोचते रहते हैं। तो क्या आप मिलकर, लड़ झगड़ कर अलग होना चाहेंगे या बिना मिले चाहेंगे कि दूसरा व्यक्ति पूरे समय आप के बारे में सोचता रहे?" यह बहुत सरल सी बात है। हर घर में जो व्यक्ति अनुपस्थित है उसी को याद किया जाता है। एक बच्चा दूर है तो माँ उसी के बारे में सोचती रहती है। "हैनरी कहाँ है या स्टेला कहाँ है?" और दूसरे बच्चे और पिता कहते हैं "तुम हर समय उसी के बारे में क्यों सोचती रहती हो? हम तो यहाँ हैं।" बेशक माँ कभी यह उत्तर नहीं देती, परन्तु सही उत्तर होगा, "तुम जो यहाँ हो तो मैं तुम्हारे बारे में क्यों सोचूँ?"। जो उपस्थित है हम उसके विषय में नहीं सोचते, यह उपस्थित होने की त्रासदी है। हम शारीरिक रूप से उपस्थित हैं परन्तु उसके मन के बाहर हैं। शादी की प्रभावकारिता कम हो जाने का शायद यह एक कारण है। हम अत्यधिक उपस्थित होते हैं। तो हमें उपस्थिति को किसी तरह अनुपस्थिति में बदलना है ताकि वह प्रेम की ज्योति, प्रेम की कामना जीवित रहे। अब यह कैसे किया जाये? यह प्रत्येक को सीखना है। शायद गुरुदेव का आना और हमें पीछे छोड़ कर चले जाना भी ऐसा ही एक रहस्य है। अब यह मानव हृदय का एक विचित्र और बड़ा रहस्यमय पहलू है कि जो उपस्थित है उसकी तुलना में जो अनुपस्थित है उससे हम अधिक प्रेम करते हैं। अंग्रेजी में एक कहावत भी है कि "अनुपस्थिति प्रेम को बढ़ा देती है।"

अगर कोई दम्पति इस दिव्य और मनोहर प्रेम की ज्योति को वैवाहिक जीवन में प्रज्ज्वलित रखना चाहते हैं तो उसका एक तरीका है कि एक दूसरे से कोई माँग न करें। क्योंकि जो उपस्थित है वही माँग कर सकता है। तो यह प्रेम का एक और पहलू है कि जब हम एक दूसरे से माँग करना बन्द कर देते हैं, तो प्रेम बढ़ता है। क्योंकि एक प्रकार से ऐसा हो जाता है जैसे वह व्यक्ति है ही नहीं। तो यह

कुछ बातें हैं जो हमें समझनी चाहिये, न केवल अपने व गुरुदेव के सम्बन्ध में परन्तु आपस में भी। क्योंकि प्रेम किसी विकास के स्तर पर निर्भर नहीं है। वह सार्वभौम है। केवल मानवीय रूप में सार्वभौम नहीं परन्तु वास्तविक अर्थ में। अगर हम यह पाठ भली प्रकार सीख लें तो फिर कोई उपस्थिति या अनुपस्थिति नहीं होती। प्रेम सचमुच शाश्वत हो जाता है। प्रियतम सचमुच हर समय सम्मुख होता है, चाहे वह वहाँ हो या न हो। हमें यह आभास होने लगता है कि हमारे लिये उसका प्रेम भी शाश्वत है, चाहे हम यहाँ हों या न हों। तो हमें इसे एक वास्तविक सत्य के रूप में अपने जीवन में लाना है और अनुभव करना है, उनकी कृपा से।

उन्नति का मार्ग

६ सितम्बर १९८७ सायंकाल

हमारी मानसिक अशांति व पीड़ा का बोध इस शरीर में होने की भावना के कारण है। यह अलगाव हम पैदा करते हैं। अब इस के बारे में हम क्या कर सकते हैं? अपने गुरुदेव के साथ के आरम्भिक जीवन में जो चीजें मुझे अत्यधिक विचलित करती थीं वह यह थीं कि सदैव ही कोई न कोई अभ्यासी मरते या बीमार पड़ते रहते थे या इसी तरह की कोई बात, किन्तु प्रत्यक्ष रूप में गुरुदेव इन सब से अप्रभावित दिखाई देते थे। मैं सोचता कि वे पत्थर दिल इंसान हैं। उनके मुहल्ले, उनके गाँव से लोग उनके पास रोते हुए आते कि फलां-फलां २ घंटे पूर्व मर गया, वह मुँह लटका कर कहते, "बहुत अफसोस की बात है," उससे अधिक कुछ नहीं। मैं सोचा करता कि एक ओर तो उनके पास ऐसा हृदय है जो सारे विश्व से प्रेम करता है, दूसरी ओर उन बुजुर्ग की आँखों में आपको कभी एक बूँद आँसू नहीं दिखाई देता। यह कैसा विरोधाभास है? फिर मुझे ध्यान में इसका रहस्य समझ में आया। उनके लिये मृत्यु है ही नहीं, हमारे लिये मृत्यु है परन्तु उनके लिए ऐसी कोई चीज नहीं है। तब वह किसके लिए रोयें। जो मरा ही नहीं उसके लिये रोना तो पागलपन है। यही रहस्य है।

हमें भी धीरे-धीरे, थोड़ा-थोड़ा कर के, सीखना पड़ता है। फिर अपनी बारी आने पर हम भी उसी प्रकार के हो जाते हैं और लोग हमें पत्थर दिल कहते हैं। फिर जब तक वे लोग यह सबक नहीं सीख जाते तब तक आपको प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। अब एक अजीब चीज हुई; अभी हाल ही में मेरे पिताजी की मृत्यु हुई। अब पूरा जीवन मुझे इस घड़ी का डर था जब वे नहीं रहेंगे, क्योंकि मेरी माँ की मृत्यु तब हो गयी थी जब मैं पाँच या साढ़े पाँच वर्ष का था और वे ही हमारा सहारा थे। पूरा जीवन उन्होंने हमें पाला-पोसा, प्रशिक्षित किया, व शिक्षा दी और मेरे लिये उस समय की कल्पना भी भयकारी थी जब वे हमारे बीच नहीं होंगे और हमें उनके बगैर रहना पड़ेगा। अब जिस दिन उनकी मृत्यु होनी थी, मुझे स्वप्न आया कि मुझे उनका पत्र मिला जिस पर सामने मेरा पता लिखा था। अब मेरी आदत है कि लिफाफे को उलट कर अवश्य देखता हूँ कि किसने पत्र लिखा है, हालांकि सामान्यतः

मैं लिखावट से जान जाता हूँ। जब मैंने उसे पलट कर देखा तो मेरे पिताजी ने लिखा था, "हो सकता है कि मैं तुम्हें दोबारा कभी न देख पाऊँ।" यह प्रातः चार बजे की बात है और दोपहर को बारह बजे उनका बैंगलोर में देहान्त हो गया। मैं मद्रास में था और हम सब तुरन्त बैंगलौर गये।

मुझे सदैव मुर्दों से डर लगता था या उस जगह ठहरने में डर लगता था जहाँ कोई मुर्दा रखा हो। यह कोई पुराना प्रारम्भिक भय था। परन्तु जब मैं वहाँ गया तो उनका शरीर लिटाया हुआ पड़ा था, मुझे ऐसा लगा ही नहीं कि मेरे पिता जी हैं या वह मृत हैं, जरा भी नहीं। हम सायंकाल छः बजे बैंगलोर पहुंचे। सामान्यतः मैं उस घर में नहीं सो पाता। परन्तु मैं रात को नौ बजे सोने गया और प्रातः छः बजे तक सोता रहा। यह बहुत असामान्य बात थी। साधारण तौर पर मैं इतना अधिक नहीं सोता। अगले दिन उनका शरीर पड़ा हुआ था, लोग संवेदना प्रकट करने आ रहे थे, और मैं आराम से इसी तरह कुर्सी पर बैठा था, एकदम प्रसन्न। अब सवाल यह है कि वह मौत का डर जिसे मैं साठ वर्षों से हृदय में पाल-पोस रहा था कहाँ गया? वह गायब हो गया था। मेरे लिये यह एक बड़ा रहस्योद्घाटन था क्योंकि इसका अर्थ था कि गुरुदेव अभी भी अपना काम कर रहे हैं। तो ऐसी चीज हम सिखाने से नहीं सीखते, केवल अनुभव से सीखते हैं। दर असल, कुछ लोगों ने सोचा हो, "यह बेटा कैसा दार्शनिक की भाँति बैठा है। क्या पिता की मृत्यु पर कुछ भावुकता नहीं होनी चाहिये?" परन्तु वास्तव में भावुकता नहीं होनी चाहिये, क्योंकि वह गये कहाँ हैं? वह अभी भी कहीं 'हैं'। है न?

अब मान लीजिए आपके बेटे ने आस्ट्रेलिया जाकर वहाँ बसने का निश्चय किया है, वह आपको छोड़कर चला जाता है और आप उसे अगले पचास वर्षों तक नहीं देखते। परन्तु हम ऐसे में दुःखी नहीं होते। अब मृत्यु में अलगाव क्या है? वही चीज तो है, परन्तु हम एक कृत्रिम भेद उत्पन्न कर देते हैं, यह मृत है, यह मृत नहीं है। यहाँ फिर हमारी मानवीय चेतना का मामला है जो हमें सुख या दुःख अनुभव कराती है। मैंने यहाँ तक लोगों को बाबूजी से पूछते देखा है कि क्या वे मुक्ति से बच सकते हैं? क्योंकि वे महसूस करते हैं कि जैसे पति-पत्नी के सम्बन्ध में वैवाहिक जीवन का आनन्द भोगने के लिये दो का होना आवश्यक है, वैसे ही "अगर मैं अनन्त में मिल गया तो मैं वहाँ क्या आनन्द उठाऊँगा?" तो आप देखते हैं कि लोग कितने बेवकूफ हैं। यह तो ऐसा है (एक के ऊपर दूसरी उंगली रखते हुए) जैसे मेरी दो

उंगलियाँ कहें, "जब तक हम दो न हों हम ऐसे किस प्रकार कर सकती हैं।" वह यह भूल जाती हैं कि वह मेरे हाथ का भाग है वह मेरे शरीर का भाग, जो कि मैं हूँ। तो हम अनन्त की उंगलियों की भाँति हैं जो बाहर आकर यह सोचती हैं कि वे दो हैं और आपस में प्रेम, घृणा, लड़ाई-झगड़ा करते हुए इस प्रक्रिया में मजा ले रही हैं। सब कुछ भ्रम है।

तो आध्यात्मिक तरीका यह है कि जो चेतना व्यक्तित्व के चक्कर में फँस गयी है उसे मुक्त करा के विश्वव्यापी एकात्मता में विलीन कर देना। फिर क्या होता है? उसकी प्रतीक्षा करके देखना होगा। (सामान्य हास्य) (वह मुस्कुराते हैं) यह हास्यास्पद है जिस प्रकार धार्मिक पुस्तकों में, विशेष रूप से उन धर्मों में जो अधिक विकसित नहीं हैं, देवी-देवता प्रेम में फंस जाते हैं, व्यभिचार करते हैं और एक देवता दूसरे देवता की पत्नी को बेधड़क ले जाता है। ऐसा विशेषकर यूनानी देवकुल में होता है। यह मानवीय कल्पना की बेलगाम दौड़ है। एक और विचित्र उलटफेर है कि दिव्य गुणों को अपने में उतारने के बजाय हम अपने अवगुणों, भ्रष्टाचार इन सभी पापों का स्थानान्तरण देवताओं में कर देते हैं। आपको मालूम है, उन्होंने यह सब क्यों किया? जो वे कर रहे थे उसे न्यायोचित ठहराने के लिये। "ज़ियस यह कर रहा है, जुपिटर कर रहा है, प्लूटो कर रहा है, नेपच्यून कर रहा है, तो मैं क्यों न करूँ?" तो आपने मानवीय मन की क्षमता देखी, अपने पापाचार का स्थानान्तरण दिव्य क्षेत्र में कर के, फिर उसका सहारा स्वयं पापाचार करने के लिये लेते हैं।

मानवीय मन अत्यधिक रचनात्मक है परन्तु दुर्भाग्यवश प्राचीन काल से ही आत्मनाशक रूप में। अगर यूनान और रोम के लोगों ने अपना काम ठीक से किया होता तो हम यहाँ नहीं होते क्योंकि सब कुछ मुक्त हो गया होता। उस यूनानी नाटक के परिणामस्वरूप हम आज भी दुःख पा रहे हैं। आज भी लोग धर्म को, चर्च को, पूर्वजों को दोष देते हैं। कितनी अद्‌भुत परम्परा यूनानी हमारे लिये छोड़ गये हैं और हमें उस पर गर्व है। आज भी मैं हेराक्लस मार्का जैसे लिफाफे देखता हूँ। यह दर्शाता है कि इन विचारों की दुष्ट पकड़ कितनी मजबूत है।

यह पकड़ कैसे सम्भव होती है? हमारी इच्छाएँ। बिना इच्छाओं के हमें इस सहारे की आवश्यकता ही नहीं होती। हमारे अनैतिक आचरण तथा भ्रष्ट क्रिया-कलापों के लिये इन देवी-देवताओं का सहारा अत्यंत सुविधाजनक है। ऐसे में यह आश्चर्यप्रद नहीं कि संसार के अनेक समाजों में लोग लौटकर इस प्रकार की उपासना करने लगे हैं,

येसू के भगवान को भूलकर, हिन्दू सर्वेश्वरवाद के ईश्वर को, उस परमतत्व को भूलकर वे उन आदिम पूजा पद्धतियों पर वापस जाना चाहते हैं। उनसे जीवन में मौज करने की अधिक गुंजाइश होती है और वे मौज करने की अनुमति देते हैं। मानव के विकास का चिह्न उसके ईश्वर का विकास है। उसके पतन का चिन्ह है जब वह अपने ईश्वर को भी अपने स्तर तक घसीट लाता है। आज हमें यह होता दिखाई देता है।

मैं इसे दूसरी तरह व्यक्त करना चाहूँगाः अब मान लीजिए अगर मैं मारसाई से पैरिस तक टी.जी.वी. (तेज गति से चलने वाली गाड़ी) पर जाऊँ और मैं देखूँ कि सब अभ्यासी मुस्कुरा रहे हैं तो मुझे इससे प्रसन्नता होगी। इसी भाँति विदा लेती हुई आत्मा के लिये यह आनन्दमय है, परन्तु जो आत्मा यहाँ है उसके लिये नहीं। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या विदा होती हुई आत्मा में क्या हो रहा है इसका महत्व समझने की चेतना है? साधारणतया नहीं। क्योंकि एक अति उच्च आत्मा ही शरीर छोड़ते समय यह चेतना साथ लिये होती है। साधारणतया वे एक प्रकार की अचेतन अवस्था में होती हैं। ''चेतनारहित स्थिति'' उसे कहेंगे। अचेतन सही शब्द नहीं होगा क्योंकि वह चेतन का विपरीत होगा। यहाँ आत्मा एक ऐसी स्थिति में चली जाती है जहाँ न चेतनता है और न अचेतनता! चेतना गायब हो जाती है। इस कारण उत्तर है 'नहीं'।

एक और चीज जो बाबूजी ने सदैव कही, ''किसी अन्य आत्मा की मदद के लिये हम प्रार्थना के अलावा कुछ नहीं कर सकते।'' या तो आप बाबूजी की भाँति ऐसी उच्च कोटि के सन्त बन जायें कि जो आपके पास है उसका विकिरण करने लगें, जैसा कि बाबूजी कर सकते थे। ऐसे में पूरे संसार, पूरे विश्व को लाभ होता है। अन्तर क्या है? वृहस्पति कितना बड़ा ग्रह है, परन्तु वह कुछ नहीं देता। फिर सूर्य है जो प्रकाश व गरमी देता है जिसके कारण ऋतुएं सम्भव होती हैं, वनस्पति सम्भव होती है। तो आप देखते हैं कि अग्नि आवश्यक है - यही मैंने प्रेम के विषय में कहा था। इसी कारण प्रेम की अनुपस्थिति की अवस्था को ''बर्फीला'' कहते हैं। जो व्यक्ति प्रेम नहीं कर सकता उसे ठण्डे दिल वाला कहा जाता है। क्योंकि प्रेम का सम्बन्ध गरमाहट से, आग से और अन्त में आत्म-ज्वलन से है। आपका प्रेम किसी और को नहीं, केवल आपको ही जलाता है। मोमबत्ती का उदाहरण है, जो मैं हमेशा देता हूँ। तुम्हें प्रकाश देने के लिये वह स्वयं को जला देती है। ऐसी अवस्था में आप किसी की भी सहायता कर सकते हैं। अन्य

सभी स्तरों पर हमें प्रार्थना करनी पड़ती है। मेरे ध्यान से किसी और को लाभ नहीं हो सकता, मेरा मतलब एक साधारण मनुष्य से है। अपने ध्यान द्वारा हम दूसरों के लिए उदाहरण बनते हैं और अप्रत्यक्ष रूप में हम कई लोगों की सहायता करते हैं। इस प्रकार कितने ही अभ्यासी दूसरे अभ्यासियों के द्वारा आते हैं। इसी कारण दो-तीन दिन पहले दूसरों की सहायता की क्षमता के ऊपर बात करते हुए मैंने क्षमता के विभिन्न स्तरों की बात की थी। यह स्वयं स्पष्ट है।

अब यह विचित्र चीज है कि अधिकतर समाजों में बच्चे के जन्म पर हम प्रसन्न होते हैं और किसी की मृत्यु पर रोते हैं। परन्तु एक समाज है जहाँ इसका उल्टा होता है। जब बच्चे का जन्म होता है तो वे रोते हैं और जब किसी की मृत्यु होती है तो खुशी मनाते हैं यह एक समझदार रवैया है। एक आत्मा जो स्वतंत्र थी आनन्द में थी, मुक्त थी, अचानक एक नासमझ मानव शरीर में बन्दी बन जाती है। क्या यह दुःख की बात नहीं है? इसलिये वे रोते हैं। मृत्यु इस कैद से मुक्ति है - वह खुशी मनाते हैं। मेरे विचार में यह एक अति स्वस्थ प्रवृत्ति है। क्या आप ऐसा नहीं सोचते? (हास्य)

यह किस समाज में है और कहाँ होता है उससे क्या फर्क पड़ता है परन्तु यह सत्य है। अगर मैं आप से कहूँ कि किसी ने व्यापार में एक करोड़ रुपया बनाया है, तो आप यह नहीं पूछते कि किसने? आप कहते हैं, "मुझे बताओ, मैं कैसे यह शीघ्र कर सकता हूँ।" यहाँ भी हमें ऐसा ही करना चाहिये। वास्तव में हमारा अधिकतर सुख व दुख परम्परागत है। हृदय इसमें बहुत कम भाग लेता है। हमारे विकास की प्रक्रिया में एक समय अवश्य ऐसा रहा होगा जबकि हृदय के सहयोग के बिना अश्रु ग्रंथियाँ काम नहीं करती रही होंगी। परन्तु अब तो हृदय के भागीदार हुए बिना ही आँसू टपकाने की कला में हमने निपुणता पा ली है। मेरा पूरा विश्वास है कि किसी की मृत्यु का दुःख अनुभव करने के लिये उससे असाधारण रूप से सम्बद्ध होना आवश्यक है। हम सब ने जन्म दिन की पार्टी और दाह-संस्कार में भाग लिया है। जन्म दिवस पर हम सब अच्छा अनुभव करते हैं, परन्तु बिरले ही हैं जो किसी को दुःख प्रकट करने जाते समय या किसी के संस्कार में जाते समय सहज अनुभव करते होंगे। उनके मन में विचार आते हैं कि क्या कहा जाये, कैसे कहा जाय। क्या मुस्कराना सही होगा? मैं उससे हाथ मिलाऊं कि नहीं? आखिर यह सब वर्जनायें क्यों? केवल इसलिये कि हम केवल एक नाटक करने जा रहे हैं और हम चाहते हैं कि वह सही हो। मेरा मतलब यह है कि सब संवेदना इत्यादि का

धंधा पूरी तौर पर पाखण्ड है। जन्म दिवस पर कोई नाटक नहीं करना होता। प्रसन्नता की नकल करना सहज है। इसी कारण अंग्रेजी में कहावत है, ''तुम हँसो तो तुम्हारे साथ जग हँसेगा, रोओ तो अकेले रोना पड़ेगा।'' दुःख अनुभव करना सरल नहीं। हमें उससे आगे जाना होगा। हम आध्यात्मिक रूप से विकसित हों और तब अपने में परिवर्तन देखें।

प्रश्न : (अस्पष्ट)

उत्तर : पहली बात यह है कि यह विचार तर्कसंगत नहीं है कि विकास में समय लगना चाहिये। यह अपने प्रयास पर निर्भर करता है। लालाजी ने सात महीने में पूर्णता प्राप्त कर ली थी, तो वह तर्क लागू नहीं होता। दूसरा - जब मेरी मृत्यु होगी तो क्या होगा? - यह विचार और भी विनाशकारी है। यदि गुरु मुझे जीवन में सहायता कर सकता है तो वह मृत्यु के पश्चात् भी करेगा। मैं यहाँ हूँ या वहाँ हूँ, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। अगर मैं जीवन के दौरान उनसे जुड़ा था तो उनकी सहायता मुझे मृत्यु के पश्चात् भी प्राप्त होगी। अगर मुझे यह विश्वास है तो फिर दो अति महत्वपूर्ण कारणों से मेरी मृत्यु जितनी शीघ्र हो उतना अच्छा है। पहला कारण अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वह यह कि जीवन के हर क्षण में हमें दबावों, प्रलोभनों और पतन की सम्भावनाओं से होकर गुजरना पड़ता है। मैं जोखिम क्यों उठाऊँ? दूसरा यह कि जीवन के साथ दुःख जुड़ा हुआ है। अगर मुझे शरीर छोड़ने के पश्चात् भी उनकी सहायता मिल सकती है तो फिर दुःख उठाने में क्या लाभ?

तो विशेषकर एक अभ्यासी के लिये अधिक जीने की इच्छा करना मूर्खता है। वास्तव में, एक दूसरी अंग्रेजी की कहावत है, ''जिन्हें ईश्वर प्यार करता है उनकी मृत्यु कम उम्र में ही हो जाती है।'' केवल दो प्रकार के बुजुर्ग लोग होते हैं, एक बड़ा भाग उन लोगों का है जिन्हें अपने संस्कार भोगने के लिये समय चाहिये, उनके लिये वृद्धावस्था एक अभिशाप है। मानव अपनी मूर्खता के साथ भी यह जानता है कि वृद्धावस्था एक अभिशाप है। दूसरे वर्ग में वे लोग हैं जो कि हजारों वर्षों में एक या दो होते हैं, जो सन्त हैं और जिन्हें सेवा करने के लिये जीना है। उनका कोई भोग बाकी नहीं होता, सन्त केवल सेवा के लिए जीता है। तो आप चाहे जिस तरह से भी देखें, यह मूर्खता है। निश्चय ही हम यह प्रार्थना तो नहीं करेंगे कि लोग कम उम्र में ही मर जायें लेकिन जब ऐसा हो तो हमें उसका विरोध नहीं करना चाहिये।

मैंने कितने लोगों को कहते सुना है "ओह! काश वह कुछ वर्ष और जीवित रहता।" अब यह एक अजीब भावना है। कुछ ही वर्ष और क्यों? ज्यादा वर्ष और क्यों नहीं? तो हम यह चाहते हैं कि वह हमारे लिये जियें, अपने लिये नहीं। विशेषकर भारत में किसी की मृत्यु पर अक्सर ऐसा सुनने को मिलता है, "अब मैं क्या करूँगा या करूँगी?" जो व्यक्ति पीछे रह जाता है उसका हमेशा यही रोना होता है। मृत व्यक्ति के लिये कोई चिन्ता नहीं, वह विदा हुई आत्मा क्या कर रही है? वह अंधकार में तो नहीं भटक रही है? क्या उसे गुरुदेव का मार्ग दर्शन मिल रहा है? क्या उसे प्रकाश दिखाई दे रहा है? इन बातों की हमें कोई चिन्ता नहीं। हमें केवल अपनी चिन्ता है, "अब मैं क्या करूँगा?"

कल ही मैं एक अत्यन्त प्रचलित कहानी की चर्चा कर रहा था, जिसमें एक मनुष्य की पत्नी का देहान्त सबेरे हो जाता है। वह बहुत दुखी है और रात्रि में वह एक वेश्यागृह में पहुँच जाता है। उसका तर्क यह है कि अपनी पत्नी के बिना वह अत्यन्त अकेलापन महसूस करता है। उसे अपनी पत्नी के अकेलेपन के बारे में सोचने का समय नहीं था, जो कि शून्य में, अंधकार में, बिना संग-साथ के, फेंक दी गयी है, जहाँ न कोई उससे बोल सकता है, न उसे छू सकता है। वह क्या कर रही होगी? पति ने इस पर कुछ नहीं सोचा। कई लोग इस उपन्यास की बड़ी प्रशंसा करते हैं कि कैसे यह मानवीय व्यवहार का मनोवैज्ञानिक पक्ष दर्शाता है। मेरे लिये यह मानवीय स्वार्थपरता की शर्मनाक मिसाल है। तो जीवन और मृत्यु की यह समस्या है। गुरुदेव सदैव इसके विषय में अकेले में चर्चा किया करते थे, जब कभी हम अन्दर रसोई घर के पास उनके कमरे में होते थे।

एक बार मैंने उनसे पूछा, "मुझे गुरु की आवश्यकता क्यों है? उन्होंने मुझे सारे पारम्परिक उत्तर दिये। फिर मैंने उनसे, एक प्रश्न पूछा जो उन्हें बहुत पसन्द आया। मैंने पूछा, "क्या मेरे या आपके यहाँ न रहने पर भी, मुझे आपकी सहायता प्राप्त होती रहेगी?" वह बहुत, बहुत ज्यादा प्रसन्न हुए और बोले, "मेरे अनुभव में तुम पहले व्यक्ति हो जिसने यह प्रश्न पूछा है।" मैं चकित रह गया। अवश्य ही हमें इस बात की चिन्ता होनी चाहिये कि मृत्यु के पश्चात् हमारा क्या होगा? गुरुदेव बोले, "यही तो दुःखद स्थिति है कि आध्यात्मिक जीवन में भी लोग केवल इसी जीवन के बारे में और इस जीवन में ही गुरुदेव के विषय में सोचते हैं। कौन है जो इस जीवन के पश्चात् के जीवन या वह वहाँ क्या करेंगे इस विषय पर सोचते हैं?" दूसरी जो लज्जाजनक

बात मुझे लगी वह थी कि हम गुरुदेव की सहायता की क्षमता को इसी जन्म तक सीमित कर देते हैं - उसके आगे नहीं। तो हमारा उनमें विश्वास किस प्रकार का है? ऐसी कुछ बातें अत्यन्त विचलित करने वाली हैं। इसी कारण जब लोग मुझसे प्रेम व श्रद्धा की बात करते हैं तो मुझे गुस्सा आता है। बाबूजी इसे केवल एक छोटे से वाक्य में बताते थे, ''लोगों को किसी अवस्था का अनुभव कर लेने के बाद ही बोलना चाहिये, नहीं तो वह वास्तविक न होकर केवल सैद्धान्तिक व अनुमानगत होता है।''

एक प्रश्न है जो अक्सर अभ्यासियों द्वारा पूछा जाता है। क्या मुक्त आत्मायें इस धरती पर काम करती हैं? हाँ पर तभी जब उन्हें काम दिया जाता है, वैसे नहीं। इसी धरती पर क्यों? वह ब्रह्माण्ड में कहीं पर भी काम कर सकती है, यह निर्देश पर निर्भर है। जब वह काम नहीं करती, तब क्या करती हैं? आप जब काम नहीं करते तो क्या करते हैं? मेरे ख्याल से वह भी वही करती होंगी।

जिस किसी को भी निर्देश देने का अधिकार है उसी के निर्देशानुसार वे कार्य करती हैं। जब आप कहते हैं ''निर्देश मिलने पर सेना आगे बढ़ेगी,'' तो किसके निर्देश पर? सेना को मालूम है, और जिसे निर्देश देने हैं उसे मालूम है। हमें उससे कोई मतलब नहीं। (मुस्कराते हैं) मुझे दोष दिया जाता है कि जो कुछ मैं जानता हूँ वह सब का सब नहीं बताता। (हास्य) जो आपको सुनना है वही मैं बताता हूँ। यह शब्द कोष की भाँति है। आप को जिस शब्द की जरूरत है उसे देखते हैं। क्या आप शब्दकोष को एक उपन्यास की भाँति पढ़ सकते हैं? नहीं (हँसते हैं)। अच्छा उदाहरण है। बाबूजी कहते थे, हर एक चीज आवश्यकतानुसार दर्शायी जाती है।'' यह निरर्थक पाश्चात्य बुद्धिवाद नहीं, जहाँ ज्ञान सड़कों पर बिकता है। पूर्वी परम्परा में हमें ज्ञान पाने के लिये प्रयत्न करना पड़ता है, उसके योग्य बनना पड़ता है, ऐसा योग्य कि आपको वह ज्ञान सौंपा जा सके। यह इतना सरल नहीं है। है न?

अब, नये अभ्यासियों की कुछ बात हो रही थी। जब मैं १९६४ में गुरुदेव के पास गया तो मैंने ऐसा कुछ अनुभव नहीं किया कि मैं नया हूँ या पुराना हूँ। जब एक बच्चा जन्म लेता है - यहाँ पर कई स्त्रियाँ हैं - जब आपका बच्चा होता है तो क्या बच्चे को लगता है कि वह अपनी माँ के हाथों में नया है? क्या उसे लगता है कि उसे माँ से अभ्यस्त होना पड़ेगा या क्या माँ को लगता है कि ''यह नया बच्चा है, मुझे इसकी आदत डालनी है?'' मुझे तो ऐसा कभी नहीं लगा।

मुझे तो लगा कि मैं अपने गुरुदेव के पास अपने घर जा रहा हूँ। इस कारण मैं आरम्भ से ही उनके पास जाकर बैठ जाता, बातचीत करता, कोई फर्क नहीं। कुछ लोगों को गुरुदेव के निकट, थोड़ा और निकट, थोड़ा और निकट आने में कुछ वर्ष लग जाते हैं। यह तो उन प्रेमियों के जैसा होगा जो कहें, "तुम सड़क के उत्तर वाले छोर पर रहो और मैं दक्षिणी छोर पर, फिर कल हम एक मीटर आगे बढ़ेंगे, और अगले सप्ताह एक मीटर, और इसी प्रकार बढ़ते हुए अन्त में हम क्रिसमस के दिन तक इतने निकट पहुंच जायेंगे कि एक दूसरे को चूम सकें।" सनकी प्रेम और सनकी प्रेमी! आप सब प्रेम के विषय में मुझ से अधिक जानते हैं। जब आपको प्रेम होता है तो क्या करते हैं। आप पहले ही कसकर पकड़ लेते हैं। यह नहीं सोचते हैं, "ओह, यह नया व्यक्ति है मैं क्या करूँ? पहले मैं इससे जान-पहचान करूँ।

गुरुदेव के साथ भी यही लागू है। वस्तुतः गुरु और शिष्य के बीच में भी प्रेम का सम्बन्ध है उच्चतम स्तर का। तो कोई शर्मीलापन या संकोच आदि नहीं होना चाहिये। मेरे कहने का बुरा मत मानियेगा, पर इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अगर हम गुरुदेव के पास आने में संकोच तथा प्रतिबंध अनुभव करते हैं तो इसका अर्थ है कि वहाँ प्रेम नहीं है। तो कृपया (वह हंसते हैं) (हास्य) आप जानते हैं मैं क्या कहना चाहता हूँ, मेरी पूर्वी नम्रता मुझे इसे खुलकर कहने से रोकती है। (हास्य) परन्तु कहने के और भी तरीके हैं। जैसा कि आरम्भ में कहा गया था कि प्रेम की कोई भाषा नहीं होती। परन्तु यह अजीब चीज है कि हमें जानने में पचास साठ साल लग जाते हैं, क्योंकि जवानी में जब हमें प्रेम होता है तो हमें भाषा व क्रिया की इतनी आवश्यकता होती है। पर जब दो प्रेमी साथ रहते हैं और प्रेम बना रहता है तो क्या होता है। अपने जीवन के अन्त में उन्हें मालूम होता है कि शब्दों की कोई आवश्यकता नहीं या हाथ पकड़ने की या और किसी चीज की कोई आवश्यकता नहीं। परन्तु यह ज्ञान आजकल दुर्लभ है क्योंकि कम ही लोगों में इतने लम्बे समय तक प्रेम बना रहता है।

आजकल समाज परिवर्तनशील है। हर वर्ष हमें अपनी गाड़ी बदलनी पड़ती है, अपनी प्रेमिका बदलनी पड़ती है और अपने जूते हर तीन माह में बदलने पड़ते हैं। मेरे विचार में हम केवल एक चीज को पकने के लिए छोड़ते हैं, अपनी शराब, जो कि वास्तव में हमारे लिए कोई बहुत लाभकारी भी नहीं है। कहीं अच्छा होता अगर हम उसे फेंक कर अपने प्रेम को पकने देते। मुझे बताया गया है कि जो नयी शराब पकने के लिए रखी जाती है वह एकदम कड़वी होती है और कच्ची

स्पिरिट की तरह होती है। ऐसा ही होता है जब हम नया प्रेम चखने का प्रयत्न करते हैं। वह हमें स्पिरिट की तरह जला देता है और उसमें कुछ स्वाद नहीं होता। हमें धैर्य रखना चाहिये, प्रेम को सुरक्षित रख कर पकने देना चाहिये, और फिर पचास, साठ, सत्तर वर्ष की आयु में देखें। प्रेम को भी फल की भाँति, शराब की भाँति पकना चाहिये, परन्तु आजकल न तो हमारे पास सभय है और न ही धैर्य। तो हम क्या करें? हमें प्रेम रहित जीवन में जीना पड़ता है और उसकी पूर्ति हम वासना से करते हैं जो उसका अत्यन्त रद्दी विकल्प है। आप मानते हैं?

मेरे ख्याल से आदर्श की बात होगी कि हमें बिना बोले बैठना चाहिये। मेरे गुरुदेव बाबूजी कुछ घंटे बातें करके फिर कहते, "सब बातचीत बेकार है।" अब बात करना सरल है क्योंकि अब हमें रोचक विषयों पर बातचीत नहीं करनी है। हमें तो लाभदायक चीजों के बारे में बातचीत करनी है। यह ऐसा है जैसे एक मनुष्य बाजार खरीददारी के लिए जाता है और कहता है "मैं कुछ रोचक वस्त्र खरीदूँ"। हमें समझ में नहीं आता कि क्या खरीदूँ। जब आपको मालूम है कि आपको सुई या धागा या कंघी या तस्मा चाहिए तो जाकर खरीदना सरल है। इसी प्रकार जीवन में भी है, जब हम रुचिकर चीजें करना चाहते हैं तो हमें समझ में नहीं आता कि क्या करें। परन्तु अगर आप अपने मन को लाभकारी कार्य करने का आदी कर लें तो कोई समस्या ही नहीं। तो चलिये हम अपने मन को रुचिकर चीजों से दूर उपयोगी कार्य में, उपयोगी बातों में, उपयोगी चीजों में लगायें। यही प्रगति का पथ है।

समर्पण

१० सितम्बर १९८७, सायंकाल

मैं कुछ स्पष्ट करने की कोशिश करना चाहता हूँ। मेरे विचार में इस विषय पर अनेक वार्ताएं हो चुकी हैं, गुरुदेव को समर्पण करने की, उन्हें दिल में बसाने की, उन्हें अपने जीवन के संचालन की अनुमति देने की, और लोग इस सबसे कुछ डर गये हैं। मैं बिना कोई नाम लिये एक पत्र से कुछ बातें पढ़ना चाहता हूँ, जो कि शायद हम सब ने कभी न कभी अनुभव किया है।

यह उस अभ्यासी के अनुभव पर आधारित है जो कि उसे शायद कल या परसों हुआ। वह अनुभव करता है कि उसके अन्दर गुरुदेव के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। अब मैं पत्र से उद्धृत करता हूँ, "मेरे लिये भी वहाँ कोई जगह नहीं थी, केवल गुरुदेव को स्वीकार करना उनका अनुसरण करना सम्भव था। यह शान्तिपूर्ण व सुन्दर नहीं था और न ही दिल में कोई प्रसन्नता का भाव था। मैं एकदम अकेला था और बड़ी पीड़ा के साथ मुझे अनुभव हुआ कि मेरे साथ कुछ भी और कोई भी नहीं जा सकता। यह मेरे लिये एक सदमे की तरह था और मुझे समझ में नहीं आ रहा था कि मैं अपने जीवन की व्यवस्था किस प्रकार करूँ।" फिर वह अभ्यासी कहता है "मैं एक पारिवारिक जीवन जीना चाहता हूँ, मानव जीवन में भाग लेना चाहता हूँ।" इसी तरह की बातें। और फिर उसका भय प्रकट होता है, एक प्रश्न के रूप में "क्या एक के लिये दूसरे को मरना नहीं पड़ता? मैं सहज मार्ग का पालन गम्भीरता से करना चाहता हूँ। मैं आध्यात्मिकता का अभ्यास शौकिया नहीं करना चाहता। मैंने लालाजी, बाबूजी और आप को अपने हृदय में चित्रित देखा, एक मेज के इर्द-गिर्द बैठकर हँसते, खाते हुए। मैं क्रुद्ध हुआ क्योंकि मुझे लगा कि आप तीनों ने मेरे अन्दर सारी जगह ले ली है। आप आये, और मुझे जाना पड़ेगा। जो कुछ भी मैं हूँ, मेरी इच्छाएँ, मेरी भावनाएँ, आदि सब को जाना पड़ेगा।

अब यह बिल्कुल असली भय है जो इस अभ्यासी ने प्रकट किया है। मुझे विश्वास है कि किसी न किसी समय हम में से लगभग सभी ने इसे अनुभव किया है। मुझे नहीं पता कि समर्पण के विषय में हमें कितनी बातचीत करनी चाहिये, क्योंकि यह स्पष्ट है कि किसी ने भी

अब तक इसका अर्थ नहीं समझा या कुछ अधिक नहीं समझा। क्योंकि अगर कोई नया अभ्यासी समझ बैठे कि आध्यात्मिक समर्पण से तात्पर्य किसी प्रेतात्मा या दुष्टात्मा द्वारा ग्रस्त होना है तो यह दुर्भाग्यपूर्ण गलतफहमी है। तो इस विचार को किस प्रकार सही किया जाये?

मैं इस युवा अभ्यासी को राय दूँगा कि वह मेरे गुरुदेव, बाबूजी महाराज की ओर देखे। अगर हम स्वीकार करते हैं कि उन्होंने अपने गुरुदेव, लालाजी महाराज को पूर्ण रूप से समर्पण कर दिया था और फिर देखें कि उन्होंने कैसा अपना जीवन बिताया, यह स्मरण रखते हुए कि वह केवल बाइस वर्ष या उससे भी कम आयु के थे जब वे लालाजी के पास गये, पाश्चात्य मापदण्ड से केवल एक लड़के – क्योंकि यहाँ बाइस वर्ष खेलने की अवस्था है, और भारतीय मापदण्ड से भी बहुत वयस्क नहीं। फिर भी वह उस अवस्था में गये और लालाजी को देखने के बाद उन्होंने कुछ और नहीं देखा, जैसा कि उन्होंने अपनी आत्मकथा में लिखा है। अब इसने उनके जीवन को कैसे प्रभावित किया? क्या उन्होंने अपना घर छोड़ दिया? क्या उन्होंने अपनी पत्नी को छोड़ दिया? क्या उनके बच्चे नहीं हुए? क्या उन्होंने नौकरी नहीं की? उन्होंने क्या नहीं किया जो हम सब यहाँ कर रहे हैं? मेरे विचार में भिन्नता केवल यह है कि उन्होंने वह सब किया जो एक मनुष्य करता, पर सही किया। अब अगर गुरुदेव को आत्म समर्पण करने के परिणामस्वरूप हम न केवल सब कुछ कर सकते हैं, बल्कि सही करते हैं, तो समर्पण में आपत्ति क्या है? अगर यह युवक मेरे कहने का बुरा न माने तो अन्तर केवल इस अनुभव की सम्भावना में है कि "यह मैं नहीं कर रहा, मेरे गुरुदेव इसे कर रहे हैं;" इसका अर्थ है कि मेरा अहं बीच में आ जाता है, मैं समझता हूँ कि वह अभ्यासी मेरे निष्कर्ष से सहमत होगा। दूसरा कोई निष्कर्ष तो हो ही नहीं सकता, अन्य कोई अन्तर नहीं है। इसके विपरीत, अन्तर यही है कि हम सब कुछ पहले से बेहतर करते हैं, सार्थक रूप से करते हैं, जैसे आदर्श तक पहुँच रहे हों, और अगर हम धैर्य से प्रतीक्षा करें तो एक आनन्द की अनुभूति होती है जो केवल इस भावना से आती है कि मैं जो कुछ कर रहा हूँ उसका मैं उत्तरदायी नहीं, वह इसे कर रहा है, और फिर सब कुछ आनन्दमय हो जाता है।

समर्पण का सही अर्थ समझना चाहिये। वह हमें कार्य क्षेत्र से अलग नहीं करता;हम मानव के रूप में ही रहते हैं। हम तब भी शिक्षा ग्रहण करते हैं, काम करते हैं, शादी करते हैं, बच्चे पैदा करते हैं, क्योंकि यह सन्यास का मार्ग नहीं है। इसके विपरीत लालाजी ने जोर

देकर कहा है कि आध्यात्मिक प्रगति के लिये गृहस्थ जीवन आवश्यक है, क्योंकि गृहस्थ जीवन में ही हम प्रेम और त्याग सीख सकते हैं। बाबू जी तथा लालाजी दोनों ने इस शिक्षा का उदाहरण प्रस्तुत किया है। दोनों ने शादी की, उनके बच्चे हुए और दोनों ने जीविकोपार्जन के लिये कार्य किया। एक आध्यात्मिक गुरु बने और उनके शिष्य अगले आध्यात्मिक गुरु बने। केवल आध्यात्मिक गुरु ही नहीं परन्तु उससे कहीं अधिक, जिसे हम "विशिष्ट व्यक्तित्व"कहते हैं। अगर समर्पण का अर्थ इस योग्य बनना है, या इस योग्य बनने की सम्भावना है, अगर समर्पण का अर्थ कुछ आदर्श रूप से करना है, और अन्त में अगर समर्पण का अर्थ अपने आध्यात्मिक जीवन के लक्ष्य तक पहुँचना है, तो हम किस चीज से डरते हैं? मैं दुबारा यही कह सकता हूँ कि हमारा व्यक्तिगत अहं हमसे यह प्रश्न पूछता है"क्या यह तुम कर रहे हो या तुम्हारा गुरु कर रहा है।"

अब एक निम्न स्तर पर समझने में इसमें अन्तर है। एक उच्च स्तर पर समझने पर, मैं वहीं पर हूँ परन्तु गाड़ी की स्टीयरिंग मैंने गुरुदेव के हाथ में दे दी है। मैं अभी भी गाड़ी में जा रहा हूँ परन्तु गाड़ी चलाने के तनाव से मुक्त हूँ, क्योंकि गाड़ी वह चला रहे हैं और मैं आराम से बैठा प्रकृति का आनन्द ले रहा हूँ।मुझ से कोई दुर्घटना हो सकती है परन्तु उनके चलाने में यह असम्भव है। तो समस्या यह है: क्या मैं गाड़ी में जाना चाहता हूँ या गाड़ी को स्वयं चलाना चाहता हूँ? भारत में तो हम गाड़ी में बैठना अधिक पसन्द करेंगे, शायद इसलिये कि सड़कें खराब हैं, भीड़-भाड़ बहुत अधिक होती है, अनुशासन इतना कम है कि आपके गाड़ी चलाने के हर क्षण में मृत्यु का खतरा रहता है। अब मैं यह उदाहरण बेकार में नहीं दे रहा हूँ परन्तु यह इशारा करने के लिये कह रहा हूँ कि जब हमारा जीवन खतरे में होता है तो हम अपने आप को किसी दूसरे के हवाले करके प्रसन्न होते हैं। "मैं गाड़ी नहीं चलाना चाहता, कृपया आप चलायें"। अब यह आध्यात्मिकता का उचित और ईमानदार रवैया नहीं है कि जब मेरा जीवन खतरे में है और मेरी रक्षा होनी ही चाहिये तब तो मैं गुरुदेव को समर्पण करने को तैयार हूँ और कहूँ" मेरा जीवन अपने हाथ में ले लो।" और जब सब कुछ ठीक चल रहा हो तब मैं कहूँ," अब छोड़ दो मैं अपनी गाड़ी खुद चलाऊँगा।" यह केवल अहं है। यह मानव में आम बात है, और बहुत मूर्खतापूर्ण तथा बचकानी बात है। मैं आलोचना न करते हुए केवल यह दर्शाने का प्रयत्न कर रहा हूँ कि अगर अहं कहे, "मैं

सही करूँ या गलत करूँ, यह मेरा काम है, तुम चुप रहो," तो आप क्या कह सकते हैं।

तो समर्पण का प्रश्न एक समस्या है, और कुछ तो इस हद तक सोचते हैं कि अगर उन्होंने गुरुदेव को समर्पण कर दिया तो किसी विचित्र तरीके से उनका अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा। जब कभी आपके मन में ऐसी शंका उत्पन्न हो तो बाबू जी के जीवन पर निगाह डालिये। कुछ लोगों को तो ऐसा भी लगा कि यह उनके पारिवारिक जीवन में खलल डाल सकता है, जैसे कि किसी विचित्र ढंग से गुरुदेव वह भी हथिया लेते हैं। एक इशारे के रूप में मैं आप को बता सकता हूँ कि मेरे गुरुदेव की इसके लिये भी आलोचना हुई है कि उनके छः बच्चे थे। लोगों ने कहा, "एक सन्त के छः बच्चे कैसे हो सकते हैं?" तो मैंने उस आदमी से पूछा "एक सन्त के कितने बच्चे होने चाहिये?" तो उसने कहा "नहीं, नहीं, एक या दो ठीक हैं, पर छः क्यों?" आप समझ सकते हैं कि वह वास्तव में क्या पूछना चाहता था - - - - - परन्तु सहज मार्ग एक पारिवारिक मार्ग है। उस से महत्वपूर्ण यह एक स्वभाविक मार्ग है, और अगर आपके भाग्य में एक सौ छब्बीस बच्चे लिखे हैं तो वह भी मिलेंगे। प्राकृतिक या स्वाभाविक मार्ग का अर्थ है कि प्रकृति को अपना कार्य करने दीजिये। प्राकृतिक प्रक्रिया में कोई बाधा नहीं डालना चाहिये। तो अगर उनके छः बच्चे थे तो जैसा कि वह कहते हैं यही बदा था।

अब हमारे चिन्तन में यह एक दूसरा विचित्र द्वन्द्व है। एक ओर तो हम समर्पण करना नहीं चाहते क्योंकि हम अपने जीवन के संचालक खुद बने रहना चाहते हैं और अपनी इच्छानुसार जीवन का आनन्द उठाना चाहते हैं। और जब लालाजी, बाबूजी के जीवन का प्रभार ले लेते हैं और बाबूजी को फिर भी छः बच्चे होते हैं तो हम आलोचना करते हैं कि "वह सन्त कैसे हो सकते हैं?" दूसरी आलोचना उनके हुक्के की थी, "एक सन्त हुक्का कैसे पी सकते हैं।" क्यों नहीं? एक व्यक्ति इस पर बहुत आलोचना कर रहे थे तो मैंने उनसे प्रश्न पूछा, "आपको कैसे मालूम कि ईश्वर हुक्का नहीं पीता? क्या आपने कभी ईश्वर को हुक्का पीते या न पीते देखा है?" वह बहुत क्रुद्ध हुआ, "आप ऐसी बकवास कैसे कर सकते हैं?" मैंने कहा, "ईश्वर ने तम्बाकू क्यों बनाया है? इस का कोई न कोई कारण तो होगा।" अब हम उन कमियों को या जो हमारे विचार में कमियाँ हैं उनको पकड़ना चाहते हैं क्योंकि हम समझते हैं कि वे गलत हैं। अब जो व्यक्ति अपनी निम्न वृत्तियों पर काबू नहीं पा सकता वह सोचता है कि उसने गुरुदेव में

उन वृत्तियों को देख लिया है क्योंकि उनके अधिक बच्चे हैं। जो सिगरेट पीना बन्द नहीं कर सकता वह गुरुदेव पर हुक्का पीने का दोष लगाता है ताकि वह सिगरेट पीना जारी रख सके। एक और व्यक्ति ने किसी और चीज के लिये बाबूजी की आलोचना की, शायद जूते पहनने के लिये, "सन्त को जूते पहनने की क्या आवश्यकता?" तो यह सब बहुत बचकाना है। मानव रूप में आप कैसे हैं उससे सन्त होने का कोई सम्बन्ध नहीं। मेरा मतलब मानव की स्वाभाविक क्रियाओं से है: खाना, पीना, सोना, काम करना, यह सब स्वाभाविक क्रियाएँ हैं। आध्यात्मिकता कहती है, "तुम यह सब चीजें आदर्श रूप में कर सकते हो। दूसरी चीज, न केवल तुम इन्हें आदर्श रूप में कर सकते हो, यह तुम्हारे ऊपर किसी प्रकार की छाप भी नहीं छोड़ेंगी जो कि संस्कार बन जायें। तीसरा, अगर तुम अनुमति दो तो मैं तुम्हारे हृदय में स्थान लूँगा, परन्तु केवल चालक की गद्दी पर। मैं तुम्हारी गाड़ी नहीं लूँगा, वह तुम्हारी रहेगी, मैं केवल तुम्हारे लिये उसे चलाऊँगा ताकि तुम सुरक्षित रूप से अपने लक्ष्य तक पहुँच सको।

अब अगर मुझे ऐसा प्रस्ताव दिया जाता तो मैं फौरन उसे मान लेता। इससे अधिक कोई व्यक्ति क्या माँग सकता है? यहाँ ऐसा गुरु है जो कहता है, "अपना जीवन जियो, पर सर्वोत्तम सम्भव तरीके से। तुम्हारे प्रत्येक कर्म को मैं आदर्श रूप प्रदान करूँगा। तुम जो कुछ भी खतरनाक काम करोगे उसकी जिम्मेदारी मैं अपने ऊपर लेता हूँ। मैं तुम्हें तुम्हारी गाड़ी में बैठाकर सुरक्षित घर पहुँचा दूँगा।" अगर इन सब के बावजूद हम कहें, "नहीं, नहीं, मैं अपने आप सब करना पसन्द करूँगा, "तो यह केवल मानवीय अहंकार व अभिमान है। तो यह एकदम स्पष्ट है कि हमारा अहंकार और अभिमान ही हमें समर्पण से रोकता है। और जब भी हम समर्पण के विचार का विरोध करते हैं और यह सब बहाने बनाते हैं कि "मेरा जीवन मेरा अपना है, मैं उसे छोड़ नहीं सकता, मुझे गृहस्थ जीवन चाहिये, मुझे माफ करियेगा, मैं फिर कहता हूँ कि ये बचकाने बहाने हैं जो हमारे बचकाने अहंकार द्वारा प्रेरित होते हैं। तो हम क्या करें? वह सब भय अलग हटा कर कहें," मुझे परेशान मत करो, मैं अपने गुरुदेव को जानता हूँ। वह ऐसे नहीं हैं जो मित्र बनकर आये और डाकू-सरदार की भाँति घर का मालिक बन बैठे। वह उन आधुनिक गुण्डों की भाँति नहीं हैं जो कि गाड़ी में सैर करना चाहें, इसलिये कि हथिया लें। वह उस प्रेमी की भाँति नहीं हैं जो प्रेम करने आता है परन्तु बलात्कार कर बैठता है। वे पूर्ण रूप से भद्र पुरुष हैं। वह जो कहते हैं वही करते हैं। वह

केवल अनुमति चाहते हैं ताकि आपको ऐसा बना सकें कि आप अपना जीवन उतने ही सार्थक, सरल, सम्मानमय, सच्चे और नैतिक ढंग से जी सकें जितना होना चाहिये, इसलिये कि वे आपको अपने जैसा बना सकें। तो कृपया उन शंकाओं और भय को अलग हटा दें। मैं पहले से ही उनका हूँ, खलल न डालें।" कोशिश करके देखिये।

बाबूजी ने यह उदाहरण दिया है कि जब भी तुम चीर-फाड़ के लिये डाक्टर के पास जाते हो, तो तुम उसे समर्पण करते हो, है न? जब तुम टी जी वी (तेज रफ्तार की गाड़ी) में बैठते हो तो तुम उसके चालक को समर्पण करते हो, हवाई जहाज में बैठते हो तो पाइलेट या उस हवाई कम्पनी को समर्पण करते हो। हम कब समर्पण नहीं कर रहे? क्या आप कह सकते हैं, "नहीं, नहीं, जहाज मैं चलाऊँगा: मैं इस चालक पर निर्भर नहीं करता?" वह कहेंगे, "कृपया कोई दूसरी हवाई कम्पनी खोज लीजिए, लुफ्थान्सा में जाइये! शायद वह आपको चलाने दें।" यह एक सत्य है।

तो यह कठिन है। हमें उत्तर अपने भीतर ही खोजना है। भीतर खोजने के लिये भी आपके भीतर कोई तो होना चाहिये जिससे आप पूछ सकें, है न? जो वहाँ नहीं है उससे आप कैसे पूछ सकते हैं? ईसाइयत कहती है, "खटखटाओ और वह खुल जायेगा।" अब अगर अन्दर कोई है ही नहीं तो दरवाजा कौन खोलेगा? "माँगो और तुम्हें मिलेगा!" अब अगर कोई देने वाला ही नहीं तो देगा कौन? यह सब इस परिकल्पना पर आधारित है कि कोई हमारे अन्दर है जो हमारे लिये यह सब कर सकता है। इसका अर्थ है कि वह पहले से ही वहाँ मौजूद है, है न? हम उसे अभी लाकर अपने अन्दर कब्जा करने नहीं दे रहे हैं। वह पहले से ही वहाँ उपस्थित है। हम केवल उसकी उपस्थिति को पहचान रहे हैं, उसका आदर कर रहे हैं। और हम कहते हैं, "हे भगवान!, मैं सोचता था कि मैं पूरा जीवन उससे दूर भाग रहा था, परन्तु वह तो सदैव वहीं था।"

तो आध्यात्मिक समर्पण में हम उसे अभी अपने अन्दर आने की अनुमति नहीं दे रहे हैं। ऐसा भूत अथवा प्रेत द्वारा ग्रस्त होने पर होता है। यहाँ ईश्वर का तुम्हारी खुशी, तुम्हारी इच्छानुसार व अनुमति से आने का प्रश्न ही नहीं उठता। वह वहाँ मौजूद है, मुझे केवल इस तथ्य को पहचानना है और उसे वहीं रहने देना है।

तो समर्पण कुछ नई चीज नहीं है; यह ऐसा है मानों आपको पता चले कि आपका पति सदैव उसी घर में था। अक्सर गाँवों में ऐसा होता है, पड़ोस का लड़का ही आपका पति बन जाता है और

तब आप दोनों एक दूसरे का आलिंगन कर के बरबाद हो गये समय का अफसोस करते हैं। "हम एकदम पड़ोस में थे और मैं दूसरे गाँव में खोज रहा था तुम दूसरे गाँव में खोज रही थी और अब हम पति-पत्नी हैं। हमने कितने साल व्यर्थ गवाँ दिये।" ऐसा ही हमारे साथ होता है जब हम उसे यहाँ पाते हैं, और सही रवैया यह होना चाहिये: "हे प्रभु, आप यहाँ हैं और मैं आपको सारे संसार में खोज रहा था। मैंने इतनी कठिन व महँगी तीर्थयात्राएँ कीं, मैंने आपके ऊपर लिखी गई पुस्तकों से भरे पुस्तकालय पढ़ डाले और आप यहाँ हैं। आपने मुझे पहले क्यों नहीं बताया कि आप यहाँ हैं?" और वह वृद्ध उत्तर देते हैं, "मैं यहाँ था, मैंने तुमसे कितनी बार कहा पर तुमने मेरी बात सुनी ही नहीं।" "हाँ पर आप मुझसे कैसे बोले?" "मैं वह धीमी सी आवाज था जो तुम्हें बताता था कि क्या सही है, क्या करना चाहिये, पर तुमने उसे हमेशा अनसुना कर दिया। अगर तुमने उसे सुना होता तो मैं और शक्तिवान् हो जाता, और तुम इस बखेड़े में न पड़े होते जो तुमने अपने लिये पैदा कर लिया है। परन्तु अभी भी ज्यादा देर नहीं हुई है, मुझे अब अपने लिये इसे करने दो।" उस स्थिति में अगर हम इतने मूर्ख हों कि कहें , "नहीं, नहीं, मैं क्या करता हूँ उससे कोई फर्क नहीं पड़ता, तो वह केवल यही कह सकते हैं, "ठीक है, जो चाहे करो; तुम एक और जीवन व्यर्थ नष्ट कर रहे हो। अपना विनाश कर लो! याद रखो, तुम अपने साथ कुछ भी करो उसका मेरे ऊपर कोई असर नहीं पड़ेगा। यह भी याद रखो जब कभी तुम्हारा पुनर्जन्म होगा, मैं तब भी तुम्हारे अन्दर होऊँगा। तुम मुझसे भाग नहीं सकते, बच नहीं सकते और मुझे अपने दिल से बाहर नहीं निकाल सकते। मेरे बिना तुम्हारा कोई अस्तित्व नहीं है। जब तुम्हारा अस्तित्व ही मेरे कारण है तो तुम मुझे समर्पण क्या कर रहे हो?" अगर हम इस प्रश्न का उत्तर दे सकें, तो हमें पता चल जायेगा कि समर्पण करना कितना सरल है, समर्पण करना कितना आवश्यक है।

अब हम आन्तरिक स्व तथा बाह्य स्व का संतुलन कैसे बनायें? यही समस्या है। क्योंकि इस समय अहं का नियंत्रण है। वह संतुलन की अनुमति भी नहीं देना चाहता। वह कहता है, "मैं मालिक हूँ, कुर्सी पर मेरा अधिकार है और मैं उसे छोड़ूँगा नहीं, भले ही मैं खुदकुशी क्यों न कर लूँ।" अब आप क्या कर सकते हैं? जो समस्या हमें भयभीत करती है आप जानते हैं; हम ईश्वर की अनन्तता को जानते हैं, या यों कहें कि अहं जानता है कि उसका एक सीमित अस्तित्व है --- वह अवश्य जानता है --- और उस सीमित अस्तित्व के क्षेत्र में

वह अपनी पकड़ छोड़ना नहीं चाहता। जो दूसरी चीज है, आत्मा की आवाज़, आन्तरिक आवाज़ आप उसे जो कहना चाहें, आत्मा या ईश्वर, वह अनन्त काल तक प्रतीक्षा कर सकती है। यह उसी प्रकार है जैसे एक शक्तिशाली मनुष्य निर्बल मनुष्य को आघात पहुँचाना नहीं चाहता और इस कारण दुःखी होता है। निर्बल मनुष्य ढीठ होकर आघात करता है और कहता है, "अगर मुझे जेल जाना होगा तो जाऊँगा, क्या फर्क पड़ता है?" बुद्धिमान कोई गलती नहीं करता और मूर्ख सारी गलतियाँ करता है। तो अगर आप एक प्रकार से देखें तो शाश्वत होना, चिरंजीवी होना, चिर प्रतीक्षा करना, कभी-कभी यह हमारे हित के विरुद्ध कार्य करता है।

मान लीजिये ईश्वर हमारे अन्दर से लड़ाई कर के हमारे अहंकार को कहे, "निकल जाओ।" "परन्तु ईश्वर एक प्रेमी है। वह प्रेम द्वारा स्वीकृति चाहता है, न कि शक्ति द्वारा। इसका अर्थ है कि जब तुम प्रेम के साथ जाते हो, तो समर्पण प्रेम का ही अंग है। अब वह क्या चीज है जो प्रेमी को प्रेमास्पद के समक्ष समर्पण से रोकती है? पुनः, यह अहं ही है। यह अस्थायी शक्तिशाली वस्तु अपनी पकड़ छोड़ना नहीं चाहती। वह शाश्वत चीज कहती है, "मैं प्रतीक्षा कर सकती हूँ।" तो यह दो विभिन्न प्रवृत्तियों की लड़ाई है: एक शक्तिशाली, और आवश्यकता पड़ने पर धैर्य से पूर्ण अनन्त प्रतीक्षा करने को तैयार; दूसरी अस्थायी, अभिमान से भरी, जोरदार या कहिये तानाशाही प्रवृत्ति जो कहती है कि, "चाहे मैं एक दिन के लिये ही राज्य करूँ, पर राज्य मैं करूँगी।" तो उसे हटा फेंकना पड़ेगा।

अब इसे कैसे अपदस्थ करें? अपना काम करना ही होगा, और इसे साफ तौर पर समझना होगा। हम में स्वयं यह फैसला करने की क्षमता होनी चाहिये कि जो कुछ भी मैं अपने अहं से प्रेरित होकर कर रहा हूँ वह मुझे नष्ट कर रहा है, वह विनाशकारी है। इसी कारण हम में बुद्धि है। अगर आप उसका प्रयोग न करें तो बुद्धि है किसलिये? जानवरों को इस समर्पण आदि की समस्या नहीं है, वह अपना निर्धारित जीवन जीते हैं। यह समस्या केवल हमारी है। यह बच्चों की भाँति है, अगर आप उन्हें अधिक लाड़-दुलार दें तो वे और भी उत्पाती हो जाते हैं। उन्हें अनुशासित करना पड़ता है। उन्हें आप अनुशासित कर सकते हैं क्योंकि वहाँ आप हैं और बच्चा आपसे अलग बाहर है। यहाँ दोनों आपके अन्दर हैं। यहाँ मुझे अपने बचकाने भाग को अनुशासित करना है, ताकि मेरा वयस्क भाग अपना सही कार्य कर सके।

आपको मालूम है कि मनोविज्ञान में यह कार्य संपादन का विश्लेषण (Transactional Analysis) होता है, जो इसे करने का बहुत भोंड़ा तरीका है। पिता, पुत्र और बच्चे की आकृतियाँ। कभी एक दिखाई देता है, तो कभी दूसरा। किंतु यहाँ हमें इन सबको एकत्रित करके एक संगठित रूप में लाना है, उन्हें अलग करना या मिटाना नहीं है। पिता ही पुत्र है, पुत्र ही पिता है और दोनों मित्र हैं। पिता और पुत्र मित्र क्यों नहीं हो सकते? आप समझ लीजिये कि यह तीनों मेरे अन्दर संघर्षरत व्यक्तित्व नहीं हैं। यह तीनों प्रतिस्पर्धा करते हुये अस्तित्व हैं जिनमें से प्रत्येक शासन करना चाहता है। मनोविज्ञान उन्हें सन्तुलन में लाना चाहता है, आध्यात्मिकता उन्हें संगठित कर के एक करती है और कहती है, "तुम ही पिता हो, तुम ही पुत्र हो और तुम ही पवित्र आत्मा हो। तुम ही सब कुछ हो।" नहीं तो तुम तीन हो जो कि हर समय अपने प्रभुत्व के लिये संघर्षरत हैं, है न?

अब मान लीजिये दो व्यक्ति मित्र हैं, आप और मैं, बीस वर्षों से मित्र हैं। जब हम मित्र हैं तो मैं आपको मूर्ख, अति मूर्ख, नासमझ मूर्ख, कुछ भी कह सकता हूँ और आप उसे स्वीकार कर लेंगे। एक दिन आप चिढ़े रहते हैं, मैं आपको केवल नासमझ कहता हूँ, और हमारी मित्रता टूट जाती है। आपको पता है कि अहं को ठेस लगाने के लिये किसी बड़ी चीज की आवश्यकता नहीं होती, छोटी सी चीज भी उसे उत्तेजित कर सकती है। प्रश्न केवल यह है कि वह अपने विषय में क्या सोचती है। तो जब आप अच्छे मूड में हों तो बड़े अपमान का भी कुछ असर नहीं होगा। और एक छोटी सी चीज भी जिसका वास्तव में कोई अर्थ नहीं, दोस्ती को तोड़ सकती है, जब आप उसको स्वीकार करने के लिये सही मूड में न हों। प्रेमियों, पति-पत्नी, गुरु-शिष्य के बीच में भी ऐसा ही होता है। आप बहुत प्रेम करते हैं और कुछ ऐसा कह दें, "मूर्ख मत बनो।" तो वह कहेगा "उसने मुझे मूर्ख कैसे कहा?" किसी और समय में आप उसे जूते से भी मार दें तो वह कहेगा, "अरे चलो फ्राँसुआ हम मित्र हैं। तुम्हें मालूम है तुम कुछ भी कर सकते हो।" यह दर्शाता है कि अहं में कोई तर्क नहीं होता, उसमें मूल्यांकन का कोई तराजू नहीं होता, वह जैसा चाहे वैसा व्यवहार करता है, यानी कि बचकाना व्यवहार। इसी कारण मैं यह बचकाना शब्द का बारबार प्रयोग करता हूँ। उसके पीछे कोई विवेक नहीं होता। जैसे कभी बच्चे को खिलौना देने पर वह आपको चुम्बन देगा, और कभी उसे आपके मुँह पर फेंक कर चला जायेगा।

भारत में हम इसे वानर-मन कहते हैं, क्योंकि वह अननुमेय है।

अब गैबी से क्षमा का एक शब्द। उसने कहा था यह मनोविज्ञान या मनोचिकित्सा का स्थान नहीं है, परन्तु हम उसे नज़रअन्दाज नहीं कर सकते। इस कारण नहीं कि मनोविज्ञान बहुत बढ़िया या बुरा है। मेरे विचार में यह मानवीय मनस् के बारे में एक अत्यधिक छिछला विज्ञान है। मान लीजिये हम सागर की बात कर रहे हैं और एक सागर-वैज्ञानिक या उससे भी बढ़िया एक व्यक्ति जो सागर के ज्वार-भाटे व लहरों का जानकार है, आता है और उनके विषय में बात करता है। और आप कहते हैं, "नहीं, नहीं, मैं तो सागर की बात कर रहा था, ज्वार-भाटे या लहरों की बात मत करो।" ज्वार-भाटा और लहरें सागर का अंग है, सागर की छिछली परत। तो क्या आध्यात्मिकता अपने अभ्यासियों के साथ मनोवैज्ञानिक ढंग से बरतती है? नहीं, क्योंकि मनोविज्ञान कल का, परसों का विज्ञान है। और हम चाहे जितना भी जुंग, फ्रायड या एडलर जैसे मनोवैज्ञानिकों की उपलब्धियों की चर्चा करना चाहें, यह एक बहुत छिछला ढंग है, जब कि आध्यात्मिक विज्ञान उतना ही पुराना है जितना जीवन। जब से मानव ने जीना शुरू किया उसे अपने ध्येय का कुछ अंदाज था, शायद केन्द्र आदि जैसे महान विचारों का नहीं, परन्तु उसके मन ने इतना तो कहा, "मैं वह नहीं हूँ जो मुझे होना चाहिये या जो मुझे बनना है।" यही आध्यात्मिकता का आरम्भ था।

उदाहरण के लिये, यह तो ऐसा कहने के तुल्य होगा कि रसायन शास्त्र, आहार विज्ञान पर हुकूमत करता है, आप कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन, विटामिन या लवणों की बात करते हैं। अब रसायन शास्त्र हमारे आहार का निर्देशन नहीं करता, परन्तु जो कुछ हम खाते हैं वह एक तरह से रसायन शास्त्र के क्षेत्र में आता है। और वह भौतिकी के क्षेत्र में भी आता है क्योंकि वह ठोस, तरल या गैस होते हैं जो भौतिकी के अन्तर्गत हैं। क्योंकि वह सफेद, भूरे, नीले आदि रंगों के भी हैं, सो आप चाहें तो यह भी कह सकते हैं कि वे कलाकारों के क्षेत्र में आते हैं। एक कलाकार टमाटर और गाजर का चित्र भी बना सकता है। "ओह, यह तो एक जिह्वाकर्षक कलाकृति है।" क्यों नहीं? अगर आप एक इमारत की कलाकृति बना कर उसका आनन्द ले सकते हैं तो टमाटर या केले की कलाकृति का क्यों नहीं! विषय से कला नहीं बनती, कला विषय को महान बनाती है। आध्यात्मिकता को चाहिये कि मनोविज्ञान को महान बनाये, न कि इसके विपरीत। मेरे विचार में मनोविज्ञान का कुछ भी महत्वपूर्ण नहीं, हालाँकि वह लाभप्रद है। परन्तु अगर आप अपनी आध्यात्मिक खोज में मनोविज्ञान द्वारा मार्गदर्शन लेंगे,

तो हम केवल सागर की लहरों से ही बरत रहे हैं और सागर में डुबकी नहीं लगा रहे हैं।

दूसरी बात है, धर्म लोगों को विभाजित करता है। बाबूजी ने कहा है, "धर्म विभाजित करता है, आध्यात्मिकता एक करती है।" आप विज्ञान की ओर देखें तो विज्ञान भी विभाजित करता है। क्या विभाजित करता है? मुझे, क्योंकि मैं ही उनकी रुचि का विषय हूँ, चाहे वह हृदय-विशेषज्ञ हो या स्नायु-विशेषज्ञ हो या पेट का विशेषज्ञ, और अगर मैं स्त्री हूँ तो स्त्री रोग विशेषज्ञ। कितने ही विशेषज्ञ? वह सब मुझे काटने का प्रयत्न कर रहे हैं --- माँस के छोटे-छोटे हिस्सों व टुकड़ों में इसके बजाय कि मुझे एक सम्पूर्ण रूप में देखें, कि तुम क्या हो? यह एक मोटरकार की भाँति है जो चल रही हो। उसकी मुख्य चीज है उसका इंजन। अब गाड़ी चाहे सोने से मढ़ी हो, चाहे उसके पहिये सर्वोत्तम हों, जो कि अन्डोरा से फ्राँस के मुकाबले में आधी कीमत पर खरीदे गये हों, चाहे उसका चक्का आबनूस लकड़ी का बना हो और चक्के के पीछे स्वयं रंगीला शाहजादा बैठा हो और उसके साथ मैरलीन माँनरो ही क्यों न बैठी हो, बिना इंजन के वह गाड़ी चलेगी नहीं। उपनिषदों में इसका उदाहरण एक बहुत सुन्दर कथानक में है। पाँचों इन्द्रियों ने आपस में लड़ना शुरू किया और प्रत्येक ने कहा, "मेरे बिना तुम कुछ भी नहीं कर सकती।" आँखों ने कहा "अगर मैं न देखूँ तो हाथ क्या कर सकते हैं?" हाथों ने कहा, "अगर मैं खाने को पकड़ कर मुँह में न डालूँ तो तुम्हारे देखने का क्या लाभ।" टाँगों ने कहा, "अगर मैं तुम्हें न ले जाऊँ तो तुम्हारे देखने व पकड़ने का क्या लाभ।" वह सब झगड़ रहे थे और आत्मा या स्व ने चुपचाप अपने को अलग हटा लिया। तब सब होश में आये कि "उसके बिना हम कुछ भी नहीं कर सकते।"

तो आप देखते हैं कि आध्यात्मिकता एकीकरण की ओर ले जाती है और विज्ञान, विभाजन या विच्छेदन व विश्लेषण की ओर। एक एकीकरण करता है, दूसरा विश्लेषण, और जितना ही आप विश्लेषण की ओर जाओ आपको बहुत सी चीजों का पता लगता है, जैसे एलर्जी। मुझे अनेक बार यह पूछने की लालसा होती है कि अतीत में यह सब एलर्जी वगैरह कहाँ थीं। मेरे दादा के समय में यह नाम अनजाना था। एलर्जी का कोई नाम, कोई अस्तित्व नहीं था। लोग मजे में जीते थे, कोई एड्स नहीं था, दिल का दौरा बहुत कम पड़ता था। तो हम रोगों को पैदा कर रहे हैं, फिर उनसे निबटने के लिये वैज्ञानिकों को पैदा करते हैं और रसायनज्ञ, भौतिज्ञ तथा प्रयोगशालाएँ उनकी सहायता करती

हैं। रोग पहले आता है और डाक्टर उसके पश्चात्। अब रोग क्यों आया? मेरे अन्दर का असंतुलन यह लाता है– मेरे रहने की परिस्थितियों में असंतुलन, मेरे जीवन के गलत तरीकों में असंतुलन। अब मेरे अनुसार होमियोपैथी एक अधिक मान्य व अर्थपूर्ण विज्ञान है। वह समस्या की जड़ तक जाता है। इसलिये हमें सदैव एकीकरण के पथ को अपनाना चाहिये। अब मनोविज्ञान में एकीकरण का मार्ग क्या है? बच्चा, वयस्क और पिता, सब का एकीकरण होना चाहिये; अगर आप उन्हें अलग-अलग मान कर उनका वर्गीकरण करना चाहेंगे ... "अब बालक, अब वयस्क, अब पिता ..." तो यह इसी प्रकार होगा जैसे संगीत रचने के लिए हम बेतरतीब भिन्न ध्वनियों को पियानो पर निकालें।

तो आध्यात्मिकता कहती है, "यह सब भूल जाओ। तुम ही पिता हो परन्तु कभी तुम वयस्क की भाँति व्यवहार करते हो तो कभी बच्चे की भाँति।" कभी-कभी बालक पिता से अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण व्यवहार करता है। आपको मालूम है किसी परिवार में अगर पिता पियक्कड़ है और कोई पैसा घर नहीं लाता तो भी बच्चे बड़े होने पर बहुत समझदार होते हैं, क्यों? क्योंकि जीवन का दबाव उन्हें यह समझ दे देता है कि उनमें वह कमियाँ न हों जो उनके पिता में हैं। कभी-कभी जब यह दूसरी चरम सीमा तक चला जाता है तो वे भी पिता के साथ बैठकर पीने लगते हैं। अवगुण में भी एक संतुलन की आवश्यकता है। केवल गुणों में ही संतुलन की आवश्यकता नहीं। संतुलन को फेंका नहीं जा सकता। अब यहाँ व्यावहारिक विश्लेषण का कोई उदाहरण लेने के बजाय, करना केवल यह है कि हम स्वयं को एक उदाहरण के रूप में लें। मुझ में ही एक आन्तरिक स्व या उच्चतर स्व है, और दूसरी ओर एक मानवीय या बाह्य स्व है। यह दोनों अनिवार्यत: एक दूसरे के विपरीत होते हैं। जो इसे चाहिये वह मुझे नहीं चाहिये, और जो मुझे चाहिये यह कहता है कि वह ठीक नहीं। एकीकरण करो। अब एकीकरण क्या है, केवल दोनों को एक में मिलाना। एक करना। अब कौन किसके समक्ष समर्पण कर रहा है? क्या ईश्वर मुझे समर्पण कर रहा है या मैं ईश्वर को समर्पण कर रहा हूँ? क्या कोई प्रमाणित कर सकता है कि ईश्वर मेरे प्रति समर्पण नहीं कर रहा है? वह मेरे अन्दर बैठ कर किस चीज़ की प्रतीक्षा कर रहा है? मैं कभी-कभी सोचता हूँ कि यह कहना मूर्खता होगी कि हम ईश्वर को समर्पण कर रहे हैं। उस ने तो सृष्टि के समय से ही हमारे प्रति समर्पण कर दिया है। वह सदैव हमारे साथ है, हमारे साथ दु:ख भोगता है, आनन्द मनाता है, हमारे साथ बार-बार मरता है, बार-बार पैदा होता है। और हम अपनी

मूर्ख अज्ञानता में, अहंकार में, स्वार्थवादी घमंड में यह सोचते हैं कि हम उसे समर्पण कर रहे हैं। वह निरन्तर मेरा साथी है। वह मेरे साथ बीमारी में, दुःख में, मृत्यु में क्यों है? क्या वह वास्तविक समर्पणकर्त्ता नहीं? अतः हमें समर्पण को दूसरे दृष्टिकोण से देखना चाहिये। उसका समर्पण स्वीकार करते हुए आगे बढ़ना चाहिए।

अब समर्पण के साथ क्या समस्या है? हम कुछ भी समर्पण नहीं कर रहे हैं, है न? अंग्रेजी में एक कहावत है कि "समय पर जो काम आये वही सचमुच मित्र है।" हम सब जानते हैं कि एक मनुष्य पी कर धुत हो जाता है, उसका एक बहुत अच्छा वफादार मित्र है जो उसे उठा कर, सहारा देकर घर ले जाता है, कपड़े बदल कर उसे बिस्तर पर सुलाता है, और वह केवल उस मित्र द्वारा दुतकारा जाता है। उस पियक्कड़ को मालूम है कि उस मित्र के बिना वह रह नहीं सकता, परन्तु उसका मुँह उसे यह स्वीकार नहीं करने देता और वह उसे मारता-पीटता है, गालियाँ देता है और घर से बाहर निकाल देता है। परन्तु वह मित्र इतना वफादार है कि सब कुछ सहने को तैयार है। फिर भी मानव मित्रों की सीमा है और हो सकता है कि एक दिन वह उसे छोड़ कर चला जाये और कहे, "मूर्ख, तुम नरक में जाओ। तुम पी कर मरना चाहते हो न, जाओ मरो -- ऐसा ही करो।" मेरे अन्दर स्थित ईश्वर ऐसा नहीं है। बेशक, अगर मैं पियक्कड़ होता, और एरवोल मेरा मित्र, जो पंद्रह वर्षों तक धैर्यपूर्वक सब कुछ सहने के बाद मुझे छोड़ जाता, तो मैं रोता। वह एक मनुष्य था जो पूरा जीवन मेरे साथ रहा, हर शाम मुझे नाली से निकाल, मेरे कपड़े बदल मुझे बिस्तर पर सुलाता, मैंने उसका अपमान किया और वह मुझे छोड़ गया। अब मैं क्यों रोता हूँ? क्योंकि वह मुझे छोड़ गया है। अगर वह मुझे छोड़ कर न जाता तो मैं अभी भी उसे पीटता, उसका अपमान करता, है न? यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि ईश्वर सदैव हमारे साथ है और हम सोचते हैं कि वह मूर्ख है, उसे कोई परवाह नहीं और हम उसका अपमान कर सकते हैं, पीट सकते हैं, जूता मार सकते हैं और हम प्रत्येक जीवन में यही करते हैं।

अब प्रकृति में हमारी भलाई व बचाव के लिये हमारे जीवन में एक अति उत्तम वस्तु ही है। कभी-कभी हमारे जीवन में ऐसी भीषण परिस्थिति आती है जो एकदम अंधकारमय, पापमय होती है जहाँ हम ईश्वर की उपस्थिति का अनुभव नहीं कर पाते और हम नैराश्य में पुकार उठते हैं, "हे ईश्वर ! तुम कहाँ हो?" ऐसा नहीं कि वह हमें छोड़ कर चला जाता है, परन्तु हम स्थूलता से अपने आप को ऐसा

घेर लेते हैं जैसे किसी महल की कालकोठरी में बन्दी। वहाँ न तो हवा है न रोशनी, केवल अन्धकार ही अन्धकार। हम भी उसी भाँति आध्यात्मिक अंधकार में फँस जाते हैं। अगर 'वह' मेरे साथ कमरे में है भी, तो मैं उसकी उपस्थिति अनुभव नहीं कर सकता। ऐसी निराशामय परिस्थिति में जब हम जीवन से निराश हो जाते हैं और उस समय अगर हमारे हृदय से दर्दभरी सच्ची पुकार निकलती है, "हे प्रभु ! तुम कहाँ हो?" तो वह बोलता है "मेरे पुत्र, मैं तुमसे कभी भी दूर नहीं था।" और तुम कहते हो कि "मुझे अपने आप को तुम्हारा पुत्र कहते हुए शर्म आती है।" वह कहता है "लज्जित मत हो। किस पुत्र ने अपने पिता के साथ ऐसा -ऐसा नहीं किया? क्या तुममें से एक भी ऐसा है जिसने पाप नहीं किया?" आपको यीसू की वह प्रसिद्ध कहानी तो पता है जब एक पापी स्त्री को लोग पत्थर से मार रहे थे। यीसू ने आकर कहा, "बन्द करो ! जिसने पाप न किया हो वह पहला पत्थर मारे।" तो 'वह' कहता है, "तुम क्यों रो रहे हो, चिल्ला रहे हो और अपनी छाती पीट रहे हो? किसने यह नहीं किया, क्या तुम सोचते हो कि तुम एकमात्र ऐसे हो?" ईसाई परम्परा की कहानी 'खर्चीले बेटे की वापसी' इसका उदाहरण है। खर्चीला बेटा सब बरबाद कर के घर वापस आता है और उसका स्वागत एक सम्मानित अतिथि की भाँति होता है। तो अगर हम वापस प्रभु के पास आना चाहें तो वह हमारे साथ, घर में रहने वाले अपने अच्छे बेटों से भी बढ़िया व्यवहार करता है।

अब यह सब पाप की चर्चा क्यों? ऐसा क्या आश्चर्यजनक पाप तुमने कर दिया है? क्योंकि जब हम सुकर्मों द्वारा किसी प्रकार अपने अहं को बढ़ावा नहीं दे सकते तो हम दुष्कर्मों द्वारा अपने अहं की पुष्टि करते हैं। किसी न किसी प्रकार अहं को महत्वपूर्ण बनना है, चाहे सन्त बन कर या पापी बन कर। जैसे कुछ लोग अपना नाम अखबार में देखना चाहते हैं, और किसी प्रकार नहीं तो बाल-हत्यारा बन कर या पियक्कड़ बन कर जो पकड़ा गया हो। यह सब अहं की भावना का खेल है, वह अच्छे या बुरे में फर्क नहीं करती, प्रकाश या अंधकार में, या गुण व दोष में फर्क नहीं करती। उसे प्रबल बनना है और जब हम उसे शक्तिशाली बनने देते हैं तो वह एक प्रकार से प्रधान हो जाती है। इसी कारण शक्ति का पागलपन दिखाई देता है, "मैं शक्तिशाली बनूँगा, अगर राजा बन कर नहीं तो डिक्टेटर बन कर," और फिर वह सर्वनाश कर लेता है।

तो ईश्वर हमें क्षमा करने के लिये और यह कहने के लिये क्यों तत्पर है कि 'आओ तुमने ऐसा आश्चर्यजनक कुछ भी नहीं किया है?'' क्योंकि वह नहीं चाहता कि हम अहंकारी बनें, चाहे वह अपने पाप के लिये ही क्यों न हो। वह कहता है, "अहं, अहं ही है चाहे वह सही हो या गलत।" जैसे सहज मार्ग में संस्कार, संस्कार ही है चाहे वह अच्छा संस्कार हो या बुरा संस्कार। उसमें कुछ अन्तर नहीं। तो ईश्वर की नजरों में, जो कि मेरा आन्तरिक स्व ही है, अहं, अहं ही है चाहे वह अहं की प्रवृत्ति की सही आवश्यकता से उपजा हो या गलत आवश्यकता से, क्योंकि अहं मुझे स्वयं से अलग करता है। 'वह' कहता है, "मेरे पुत्र, मैं तुम्हारे बिना रह सकता हूँ, पर तुम मेरे बिना नहीं रह सकते। इस कारण वापस लौट आओ मैं तुम्हें क्षमा करने को तैयार हूँ। तुम घर में उस पुत्र की भाँति हो जो कि भाग जाता है, परन्तु पिता से भाग कर कहाँ जाओगे? एक पत्नी अपने पति से भाग कर किसी और से विवाह कर सकती है परन्तु एक बेटा तलाक नहीं ले सकता। क्या एक पिता अपने बेटे को तलाक दे सकता है? आज तक ऐसा नहीं सुना गया। तो तुम सदैव मेरे पुत्र हो, चाहे तुम पापी हो या पुण्यात्मा, तुम फिर भी मेरे पुत्र हो। तुम अच्छे हो या बुरे, तुम फिर भी मेरे पुत्र हो, मैंने तुम्हें बनाया है, उसका आक्षेप तो मुझे लेना ही पड़ेगा, इस कारण मैं तुम्हारे पापों से तुम्हें मुक्त करता हूँ, घर आओ।"

तो वास्तव में मेरा आन्तरिक स्व मुझे केवल यह बता रहा है कि तुम पुण्यात्मा हो अथवा पापी, अहं वही है; वह मैं नहीं हूँ, वह मुझसे भिन्न कुछ और है। तो अपने सुकर्मों का श्रेय भी मत लो क्योंकि पुनः वह अहं का ही खेल है। पाप की ओर भी मत झुको, क्योंकि तुम जो उस ओर चले गये हो, वह भी अहं का ही खेल है। दोनों का त्याग करो! यही अंतिम सत्य है कि समर्पण में हम कहते हैं, "मुझे नहीं पता कि सही क्या है और गलत क्या है, मैं सही करूँ पर अहंमय हूँ या गलत चलूँ तब भी अहंमय हूँ, मैं अब भी अहंमय ही हूँ। मेरा अहं मुझे तुमसे अलग होने का आभास देता है। मैं अपने कर्म का अधिकार त्यागता हूँ, अब तुम ही करो।"

अब अन्तिम और महत्वपूर्ण बात : यह स्वयं अहं ही है जो अपना समर्पण कर रहा है। इसमें कोई जबरदस्ती नहीं है। जैसे एक बन्दी किसी की हत्या कर के स्वयं पुलिस स्टेशन जाकर अपने आप को उनके हवाले कर देता है और कहता है, "मैंने अपराध किया है और मैं इसे बताने आया हूँ, मुझे जेल में बन्द कर दो।" वह अपना

समर्पण करता है। अगर वह स्वयं समर्पण करता है तो कानून की दृष्टि में उसे कुछ लाभ है। अगर वह पकड़े जाने की प्रतीक्षा करता है तो उसके अलग परिणाम हैं। यहाँ भी अहं ही है जो बोलता है और कहता है, "प्रभु, मैं जो भी करता हूँ, अच्छा या बुरा, पुण्य या पाप, सही या गलत, वह सब मुझे एक गुब्बारे की भाँति फुलाता जाता है। उसका परिणाम मैं भुगत रहा हूँ, क्योंकि जितना मैं फूलता जाता हूँ उतना ही तुम कम दिखाई पड़ते हो। जितना मैं महत्वपूर्ण होता जाता हूँ, उतना ही तुम्हारा महत्व कम हो जाता है। यहाँ तक कि मैं इतना अभिमानी, अहंकारी और बड़ा बन जाता हूँ कि तुम्हारे लिये कोई स्थान नहीं बचता। मुझे क्षमा कर दो। बार-बार यही होता है। तुम मेरे साथ सदा से हो, आरम्भ से अंत तक, बुराई और भलाई में, पाप में, दुःख में, भ्रष्ट जीवन में, सन्तत्वपूर्ण जीवन में, हर स्थान पर तुम मेरे साथ रहे हो। मुझे अब यह एहसास हो गया है कि यह मैं नहीं, तुम कर रहे थे। तो मैं इस गलतफहमी में क्यों रहूँ कि मैं कर्त्ता हूँ? कर्त्ता तुम हो, तुम जो करवाना चाहो उसके लिये मेरा उपयोग करो।" अब मैं यह क्यों कहता हूँ, इसलिये नहीं कि अहं नष्ट हो गया है, बरबाद हो गया है, फेंक दिया है। वह अब भी मौजूद है, परन्तु दिव्य हो गया है। क्योंकि जब तुम अपने को दिव्यता को सौंप देते हो तो तुम दिव्य हो जाते हो। तो मानवीय, अभिमानी, अहंकारी, संकुचित, दूषित अहं के स्थान पर अब हमारे पास एक नम्र, दिव्य अहं होता है जो ईश्वर की भाँति कार्य करता है।

दिव्यता के कार्य के बारे में गीता में एक अति सुन्दर उपमा दी गयी है। ईश्वर अपने लिये कहता है, "मैं माला के उस धागे की भाँति हूँ जो मोतियों को बाँधे रखता है।" एक-एक मोती चाहे लाखों रुपये का हो, परन्तु अगर धागा टूट जाये तो मोती बिखर जायेंगे। क्योंकि माला में धागा दिखायी नहीं देता पर वह सबके पीछे है, उसी प्रकार 'वह' भी ब्रह्माण्ड को बाँधे रहता है। उसको काट दो तो सारा ब्रह्माण्ड बिखर जायेगा। उसका अस्तित्व नहीं रह जायेगा। तुम्हें अपनी माला पिरोने के लिये फिर जौहरी के पास भागना पड़ता है। धागा दिखाई नहीं देता और वह नगण्य मूल्य का है, उसका होना आवश्यक भी नहीं पर वह मोतियों को बाँधे रखता है। दिव्य अस्तित्व भी वैसा ही है। वह जो सुन्दर है, भव्य है, उत्तम है, अति उत्तम है, उस सब के बीच में इस धागे का जाना आवश्यक है ताकि सब जुड़ा रहे।

दिव्य अस्तित्व हमें उदात्त बनाता है, यदि हम उसे स्वीकार करें। यदि हम उसे अपने हृदय को भेद कर अन्य हृदयों से जोड़ने दें जो

कि सर्वव्यापी प्रेम को देखने का एक और नजरिया है। आप के पास हृदयों की एक माला है; और हृदयों की इस माला का क्या होता है, जिसमें हर हृदय एक दिव्य मोती की भाँति चमकता है। दिव्य हृदय आप उसे कुछ भी कह सकते हैं, वह दिव्यता का जेवर बन जाता है। व्यक्तिगत हृदय भ्रष्ट हैं, काले हैं, पत्थर हैं, ठण्डे हैं, कड़ुवे हैं, किंतु दिव्यता के उस धागे को भेदने दीजिये और आप आश्चर्यजनक रूप से एक सुन्दर मोती में परिवर्तित हो जाते हैं। तो समर्पण से आपको क्या प्राप्त होता है? सब कुछ। आपके समर्पण न करने से ईश्वर को क्या हानि है? कुछ नहीं! जब आप सोचते हैं कि आप ने समर्पण कर दिया परन्तु समर्पण 'वह' आपको करता है, तो उसे क्या प्राप्त होता है? कुछ ऐसा जिसका प्रयोग वह अपने उद्देश्य के लिये कर सकता है। कुल मिलाकर उसे एक और औजार प्राप्त होता है। जैसे मेरे पास, औजारों से भरी पेटी है, अगर एक औजार भोथर हो जाता है तो मैं इसे फेंक कर कोई दूसरा औजार ले लेता हूँ। इसमें मेरी कोई हानि नहीं, औजार की हानि है। तो यह स्मरण रखिये कि समर्पण उसने अपनी सृष्टि को किया है, सृष्टि के प्रत्येक टुकड़े को किया है, और यह सत्य मेरे गुरुदेव ने बार-बार दोहराया है। बाबूजी महाराज ने कहा है, "जब कोई व्यक्ति ईश्वर के प्रति समर्पण करता है तो वह सृष्टि की प्रत्येक चीज के प्रति समर्पण करता है।" और कुछ हो ही नहीं सकता। यह चिड़ियाघर के रखवाले की भाँति है, उसका कोई प्रिय शेर, प्रिय बाघ, प्रिय साँप नहीं हो सकता। उसे सब की देखभाल करनी होती है, सबको खाना देना होता है, उनके स्वास्थ्य को देखना होता है, उनकी सफाई का ख्याल रखना पड़ता है। साँप के घर को, बाघ के पिंजड़े को, सब कुछ साफ रखना होता है। है न? ईश्वर भी उस रखवाले की भाँति है जिसने हम सब का सृजन किया है, और वह हमारे विकास की प्रतीक्षा कर रहा है, जिस विकास का चरम बिन्दु वह स्वयं है।

एक आखिरी वाक्य ! समर्पण कभी संकल्प की क्रिया द्वारा नहीं हो सकता क्योंकि संकल्प अहं का एक रूप है। समर्पण अन्तर्बोध के एक क्षण का परिणाम है जब मैं उसकी उपस्थिति को पहचान कर कहता हूँ, "हे भगवान ! वह तो शाश्वत है, मैं क्षणिक हूँ, मैं क्षणभंगुर हूँ और मैं अपने आप को 'उसका' दिशानिर्देशन करने वाला गुरु समझता था। वह ऐसी शाश्वत सत्ता है जो मृत्यु के पश्चात मुझे जीवन प्रदान करता है, और जीवन के पश्चात मृत्यु। मैं तो उसके हाथों में कठपुतली हूँ।"इस वास्तविकता व सत्य की पहचान के पश्चात ही समर्पण का

वह भव्य क्षण आता है। समर्पण में संकल्प कभी सक्रिय नहीं हो सकता। अब मैं आपसे एक प्रश्न पूछूँगा। जब बाबूजी ने लिखा, "समर्पण संकल्प की प्रक्रिया से आरम्भ होता है" तो उनके इस वाक्य में और जो मैं कह रहा हूँ उसमें कुछ विरोध है?

इसमें कुछ भी विरोध नहीं। संकल्प अन्तर्बोध का ही उपकरण है। मैंने कहा है कि यह अहं स्वयं का समर्पण करता है। मेरा अर्थ है कि बिना अन्तर्बोध के संकल्प इसमें सक्रिय हो ही नहीं सकता। आपके पास बुद्धि है। मेरी बुद्धि मुझसे कहती है, "नशा मेरे हित में नहीं, मैं बरबाद हो रहा हूँ।" परन्तु मेरा संकल्प काम नहीं करता। पर जब बुद्धि अपनी सही दिशा में कार्य करती है तो मैं उसे हृदय से स्वीकार कर लेता हूँ, फिर यह चमत्कार होता है। हम छपी हुई पुस्तकें देखते हैं और एक दिन हम वह पढ़ते हैं जो हमने बीस वर्ष तक नहीं पढ़ा; यह अन्तर्बोध की क्रिया है, बुद्धि की नहीं। तो जब अन्तर्बोध होता है तो संकल्प सही दिशा में कार्य करता है और अपना समर्पण कर देता है। यह ऐसा कहने जैसा ही है कि अहं स्वयं का समर्पण कर देता है, जैसा कि मैंने अपने भाषण में पहले कहा था। कोई विरोध नहीं। हम शायद यह कह सकते हैं कि यह संकल्प की अन्तिम क्रिया है जब वह अपना समर्पण कर देती है। किंतु याद रखियेगा कि संकल्प भी नष्ट नहीं होता, क्योंकि जब तक अहं है, संकल्प भी है। वह दिव्य हो जाता है, अब वह उसके निर्देश पर कार्य करता है, और इसका अर्थ है कि अब मानवीय संकल्प के स्थान पर दिव्य संकल्प कार्य करता है।

प्रश्न और उत्तर - १

११ सितम्बर, १९८७

प्रश्न - सफाई के विषय में, क्या धुआँ पीठ से बाहर निकालना चाहिये या रीढ़ की हड्डी से?

उत्तर - कोई धुआँ नहीं होता। हमें यह कल्पना करने को कहा जाता है कि स्थूलता धुएँ की भाँति हमारे सारी पीठ से बाहर जा रही है। नहीं तो हम उसमें एक छेद कर बाहर निकलने के लिये एक नली डाल देते (हास्य)।

प्रश्न - जन साधारण के सम्मुख अत्यधिक ध्यान करने को, जैसे सार्वजनिक वाहनों में, क्या हम भाग निकलना समझ सकते हैं।

उत्तर - उसे पीछे हटना या भागना क्यों माना जाये? अगर आप ऐसा सोचते हैं, तो जब आप सोते हैं तो वह भी संसार से भागना है, है न? इसमें कुछ गलत नहीं, क्योंकि जो समय व्यर्थ जा रहा है हम उसका उपयोग करते हैं।

प्रश्न - अगर हम बहुत सारी सामूहिक पूजाओं में भाग लें तो क्या इसकी आवश्यकता से अधिक खुराक हो सकती है?

उत्तर - अधिक खुराक ले पाना सम्भव नहीं, क्योंकि प्राणाहुति वापस आ जायेगी। जिस प्रकार एक बालटी को नल के नीचे रखते हैं और बालटी के भर जाने पर अगर नल खुला रहे तो पानी बहता जायेगा। बालटी में पानी का अधिक भराव नहीं हो सकता। उसी प्रकार हम भी अधिक प्राप्त नहीं कर सकते। इसकी सम्भावना नहीं है, परन्तु लाभ कुछ नहीं है।

प्रश्न - क्या हम सहज मार्ग की साधना करते हुए युद्ध सम्बन्धी कलायें जैसे कराटे का अभ्यास कर सकते हैं?

उत्तर - कराटे का उद्देश्य क्या है? बाबूजी कहा करते थे कि हम इन युद्ध सम्बन्धी कलाओं को जितना कम जानें उतना ही अच्छा है, क्योंकि उन्हें प्रयोग करने का आकर्षण सदैव रहता है। और अगर आपको नहीं आता तो आप झंझट में नहीं पड़ते। अगर आप कराटे विशेषज्ञ हैं तो आप यह सोच कर कि मुझे कराटे आता है, मैं अपनी रक्षा कर सकता हूँ, ऐसे स्थान पर जाते हैं जहाँ आपको नहीं जाना चाहिये।

यह एक सामान्य भ्रम है। क्या आपने वह सिनेमा "एन्टर द ड्रैगन" देखा है? जिसमें ब्रूस ली है। चलचित्र में उसकी बहन एक कराटे विशेषज्ञ होती है, परन्तु चार और कराटे विशेषज्ञ उस पर धावा बोलते हैं और वह आत्महत्या कर लेती है। तो बेहतर यह है कि हम इन युद्ध सम्बन्धी कलाओं में रस न लें।

प्रश्न - क्या आप सोचते हैं कि लोबसांग रम्पा ने अपनी पुस्तकों द्वारा पाश्चात्य जगत में आध्यात्मिक विकास किया है?

उत्तर - मेरे विचार में केवल पुस्तकें हमें कोई आध्यात्मिक लाभ नहीं दे सकतीं, चाहे उन्हें किसी ने भी लिखा हो। हमें कुछ करना है।

प्रश्न - मेरी समस्या यह है कि मैं सदा भयभीत रहता हूँ। मैं प्रत्येक चीज से डरता हूँ और न जाने किससे। उसका परिणाम है कि मैं व्यक्तियों, से परिस्थितियों से, सही स्तर का न होने से डरता हूँ। परिणामतः मैं कुछ भी करने का साहस नहीं कर पाता, लोगों के पास जाने का साहस नहीं कर पाता। मैं अपने आप को व्यक्त नहीं कर पाता। मेरी प्रतिक्रियाएँ बचकानी होती हैं, जैसे कुछ लोगों से बचना, कुछ लोगों से दूर भागना, उन्हें न मिलने का बहाना ढूँढ़ना। दूसरों के प्रति जो प्रेम मैं अनुभव करता हूँ वह दर्शाना भी मेरे लिये सम्भव नहीं है, इसके विपरीत उनके प्रति और विशेष रूप से स्वयं अपने प्रति आक्रामकता के दौरे अनुभव करता हूँ। यह डर क्यों? सम्पर्क करने में यह असमर्थता क्यों? मैं क्या करूँ कि डर समाप्त हो जाये, विशेष रूप से आक्रामकता व घबराहट न रहे।

उत्तर - अधिक सफाई।

प्रश्न - प्रेम और कट्टरपन में क्या अन्तर है?

उत्तर - (मुस्कराते हैं) (हास्य) मुझे नहीं पता। मैंने कभी नहीं सोचा था कि इनके विषय में कोई सन्देह होगा। (मुस्कराते हैं) मेरे पास इसका उत्तर नहीं है। प्रेम कट्टरपना कैसे हो सकता है? मैं समझता हूँ कि कट्टरपन किसी चीज के प्रति घृणा के कारण होता है न कि प्रेम के कारण। तो इस तरह वह प्रेम के बिलकुल विपरीत है।

प्रश्न - कुछ दिन पहले ज्योतिष-शास्त्र के ऊपर भाषण में आपने कहा था कि गुरुदेव जन्मकुण्डली के उन अंशों को बदल सकते हैं जो आपकी आध्यात्मिक प्रगति में बाधा डालते हैं। फिर भी हमने बाबूजी की पुस्तकों में पढ़ा है कि सब आध्यात्मिक स्थिति तक नहीं पहुँच पाये। क्या अन्तिम आध्यात्मिक सफलता भी प्रकृति द्वारा निर्दिष्ट होती है अथवा वह पूर्ण रूप से केवल गुरुदेव की कृपा है?

उत्तर - मैंने कहा था कि गुरु उन अंशों को बदल सकते हैं, न कि वह बदलेंगे ही। सभी वह आध्यात्मिक स्थिति प्राप्त नहीं करते क्योंकि वे करना नहीं चाहते, इस कारण नहीं कि कुछ उसके विपरीत है अथवा पद्धति में कुछ ऐसा है जो कहता है कि यह सम्भव नहीं। जब हम कहते हैं कि सहज मार्ग पद्धति सब के लिये है, इसका अर्थ है कि सभी प्राप्त कर सकते हैं। नहीं तो गुरुदेव दो व्यक्ति जर्मनी से, दो फ्राँस से, दो इटली से चुन कर कहते, "तुम आ जाओ, मेरे लिये वही पर्याप्त है।" हमारी प्रगति हमारे सिवा और कोई नहीं रोक सकता। क्या अन्तिम आध्यात्मिक सफलता भी प्रकृति द्वारा निर्दिष्ट होती है? इसमें निर्देश का कोई प्रश्न नहीं। अन्तिम आध्यात्मिक सफलता हमारे विकास का लक्ष्य है। वह तो हमें पाना है, इसमें निर्देश की क्या आवश्यकता है? यह तो खुली पुस्तक है।

प्रश्न - क्या मछली खाना हानिप्रद है?

उत्तर - मुझे नहीं पता कि यह हानिप्रद है या नहीं, परन्तु हमारी प्रगति के लिये यह अच्छा नहीं है। आधुनिक स्वास्थ्य विशेषज्ञ बताते हैं कि यह एक पुराना भ्रम है, पशु-प्रोटीन में ऐसा कुछ विशेष नहीं। सोयाबीन जैसी चीजों में पर्याप्त प्रोटीन है, बल्कि गोश्त से अधिक। तो हमें गोश्त या मछली खाने की क्या जरूरत है? अगर आप स्वाद के लिये खाना चाहते हैं, तो स्वाद का अर्थ है संस्कार, और संस्कार का अर्थ है प्रगति को धीमा करना। इसलिये न खाना बेहतर है। हाँ, अगर बीमारी के कारण डाक्टर कहे "खाओ", तो एक औषधि की भाँति खाओ।

प्रश्न - नियमित अभ्यास के बावजूद मुझे ऐसा लगता है मैं एक ही जगह पर टिका हूँ। मैं प्राणाहुति को अनुभव नहीं करता।

उत्तर - अधिक सफाई। प्राणाहुति को अनुभव करना आवश्यक नहीं। कोई भी प्राणाहुति को अनुभव नहीं करता, हम उसके प्रभाव को अनुभव करते हैं।

प्रश्न - इसका अर्थ अपने आप सफाई अथवा प्रशिक्षक द्वारा सफाई?

उत्तर - निश्चय ही, अपने आप। हर जगह अभ्यासी सफाई के लिये प्रशिक्षक पर निर्भर रहते हैं, रोज की अपनी नियमित सफाई बहुत कम अभ्यासी करते हैं।

प्रश्न - परिवार के मध्य में हमारा व्यवहार किस प्रकार का होना चाहिये जब कि परिवार में अलगाव हो, बड़ी समस्यायें हों? कभी-कभी हम गन्दगी से प्रभावित हो जाते हैं। उस समय शांति बनाये रखने के लिये,

अपने चारों ओर सौम्यता विकिरित करने में समर्थ होने के लिये क्या करें?

उत्तर - अपने आप पर संयम रख कर। आपको उद्विग्न नहीं होना चाहिये। अगर आप सतत स्मरण में हैं तो आप पर इसका प्रभाव नहीं पड़ेगा।

प्रश्न - अपनी सफाई भली प्रकार कैसे करें? क्या हम सोने के पूर्व सफाई करें या उससे थोड़ा पूर्व सायंकाल में करें?

उत्तर - अगर हम इसे करना आरम्भ करेंगे तो अच्छी तरह कर लेंगे। मुझे नहीं मालूम कि सफाई करने में और अच्छी सफाई करने में क्या अन्तर है। अगर मैं स्नान करने जाऊँ तो क्या बिना ठीक से स्नान किये आ सकता हूँ? वही बात सफाई के लिये है। करो, तो वह ठीक से होगी। उसके विषय में निर्देश बिलकुल स्पष्ट है, पूरे दिन के काम के बाद करो। केवल कुछ मौकों पर जब ऐसा सम्भव न हो तब रात्रि में सोते समय करें। न सम्भव से तात्पर्य **वास्तव में** न सम्भव हो। अधिकांश 'न सम्भव' काल्पनिक होते हैं।

प्रश्न - भावनाओं के विषय में। मेरे हाल के अनुभव में उनका आवेग इतना आकस्मिक व उग्र होता है कि उनके समक्ष मैं किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता हूँ। क्या आप भावनाओं के आवेगों की प्रकृति के बारे में बता सकते हैं?

उत्तर - नहीं, मैं नहीं जानता। यह बहुत बड़ा प्रश्न है। हम केवल यह कह सकते हैं कि भावनाओं का आवेग अवास्तविक है। बाबूजी कहते हैं कि ''अनुभूतियाँ सत्य हैं और भावनाओं के आवेग हमारी रचना है''।

प्रश्न - हमारे स्वप्न क्या हैं, निद्रा में आये स्वप्न?

उत्तर - वे स्वप्न हैं।

प्रश्न - क्या वे हृदय से आते हैं? क्या वे हमारे संस्कार हैं या हमारे जाग्रत संस्कारों की छाया? क्या वह अंतिम सत्य की पुकार है? क्या हमें उनका अर्थ जानने की कोशिश करना चाहिये या उनकी ओर कोई ध्यान नहीं देना चाहिये। हमारी निद्रित अवस्था का आध्यात्मिकता में क्या हिस्सा है? मेरा तात्पर्य है कि आध्यात्मिकता का हमारी निद्रित अवस्था से क्या सम्बन्ध है?

उत्तर - यह एक उलझा हुआ प्रश्न है। निद्रा आवश्यक है, हमें सोना जरूरी है। निद्रा व आध्यात्मिकता के सम्बन्ध का क्या प्रश्न है? हमें स्वप्नों के विषय में चिन्ता नहीं करनी चाहिये। अगर वे अर्थपूर्ण लगते

हैं तो उन्हें अपनी डायरी में लिखकर भूल जाइये। जैसे हम और सब अनुभवों के साथ करते हैं, उसी प्रकार स्वप्नों के साथ भी वही करना चाहिये।

प्रश्न - अच्छे या छिछले ध्यान की क्या कसौटी है, जो बौद्धिक निष्कर्ष या गुमराह करने वाली अनुभूति जैसी कोई चीज न हो?

उत्तर - अच्छे या छिछले ध्यान जैसी कोई चीज नहीं होती है। केवल ध्यान होता है। अगर वह ठीक से किया जाय तो असरदार होता है। ध्यान को प्रभावोत्पादक होना चाहिये। या तो हम ध्यान करते हैं या नहीं करते हैं।

प्रश्न - ईसा मसीह मरे लोगों को जीवित कर के प्रकृति के विरुद्ध क्यों गये?

उत्तर - आपको उनसे पूछना पड़ेगा! मैं इसका उत्तर कैसे दे सकता हूँ? मुझे नहीं मालूम उन्होंने ऐसा क्यों किया। शायद बाइबल में कहीं लिखा हो, मैं नहीं जानता।

प्रश्न - सहज मार्ग के दस नियमों में एक कहता है, "सब मनुष्यों को अपना भाई समझो"। चारी ने ऐसा क्यों कहा कि भाईचारा पाखण्ड है।

उत्तर - क्योंकि आप उसका पालन नहीं कर पा रहे हैं। मैंने यह नहीं कहा कि भाईचारा पाखण्ड है, जिस प्रकार उसका पालन किया जाता है वह एक पाखण्ड है। हम अभी उसे प्राप्त नहीं कर पाये और अगर उसे पाने के पहले कहें कि आप ने उसे पा लिया है तो वह झूठ है। यूरोप में भी जब अभ्यासी इस कैम्पस से बाहर जाते हैं तब उन्हें देखिये। सुनिये कि एक दूसरे के बारे में वे क्या कहते हैं, दूसरों के बारे में उनकी गपशप और विद्वेषपूर्ण बातचीत सुनिये। हाँ, हाँ, यह सब है। ऐसा बहुत कुछ है, मैं बहुत कुछ ये बातें सुनता हूँ; तो भाईचारा कहाँ है? यह एक आदर्श है जो हम स्थापित करना चाहते हैं, परन्तु यह कहना कि हमने उसे पा लिया है सत्य से परे होगा। "सब पुरुष व स्त्रियों से भाई-बहनों सा व्यवहार करो।" क्या हम ऐसा कर रहे हैं? यह हर व्यक्ति की जिम्मेदारी है। मेरे विचार में कम ही ऐसा कर रहे हैं। शायद कभी-कभी हम ऐसा कर पाते हैं पर अधिकतर नहीं। वह कौन था जिसने खाने वाले हॉल में अनुशासनहीनता के विषय में उस दिन शिकायत की थी? तो लोगों को हम अपने समूह के बारे में ऐसी शिकायत का अवसर क्यों दें?

तो आप देखते हैं कि यूरोप में अभी भी मूलभूत अनुशासन की कमी है। यह आश्चर्यमय है, क्योंकि यहाँ हम अनुशासित माने जाते हैं। वास्तव में कल ही कोई कह रहा था कि यहाँ खाने के हॉल में कोई क्यू नहीं है। क्यू केवल समूहों में है। प्रतिदिन मैंने मारी लुइस् को यह कहते सुना है कि ''पूरी मेज अपने समूह के लिये सुरक्षित मत कीजिये, खाली जगहों पर बैठिये।'' तो यहाँ आने पर भी हमारा अपना समूह होता है। तब क्या आप यह दावा करेंगे कि भाईचारे के भीतर भाईचारा है? मुझे डर है कि हम अभी उससे बहुत दूर हैं। मैं आशा करता हूँ कि हम उसके लिये प्रयत्न करेंगे।

प्रश्न - क्या सिटिंग के दौरान पूरी तरह 'खो जाने' की हालत को गुरुदेव के साथ एक होने का लक्षण माना जा सकता है? उनके साथ आन्तरिक एकता की अवस्था का वर्णन किस प्रकार किया जा सकता है?

उत्तर - 'खोने' की हालत, आपके अपने ही आंतरिक स्थिति में विलीन होने की हालत है, उसका गुरुदेव के साथ एकाकार होने से कोई सम्बन्ध नहीं। गुरुदेव के साथ एकाकार होने का वर्णन कैसे करें? यह प्रत्येक को अपने आप खोजना है। यह प्रश्न पूछने का अर्थ है कि अभी हम उस अवस्था तक नहीं पहुँचे।

प्रश्न - गुरुदेव, मेरे विचार में मैं सदा आपके समीप हूँ, इस कारण मेरे प्रश्न का मेरी आस्था से कोई सम्बन्ध नहीं। मैं जानना चाहूँगा, क्या मैं मृत्यु के पश्चात् अपने शरीर को कैथलिक चर्च को दूँ, केवल इसलिये कि लोग क्या कहेंगे, खास तौर पर मेरे परिवार वाले या सम्बन्धी।

उत्तर - इसका निर्णय परिवार को करने दो।

प्रश्न - हम अक्टूबर में स्विट्ज़रलैण्ड में आपसे मिलना चाहेंगे। चूँकि हम लोग अध्यापक हैं, हमारी छुट्टियाँ सेमिनार के साथ मेल नहीं खातीं। परन्तु उस समय के लिये हमें डॉक्टरी सर्टिफ़िकेट मिलने की सम्भावना है। आप इसे कैसा समझते हैं? (हास्य)

उत्तर - (वे मुस्कराते हैं) निर्भर करता है। (हास्य) नैतिक समस्याओं का समाधान हमें व्यक्तिगत रूप से करना होगा। प्रत्येक को अपनी नैतिक समस्या स्वयं हल करना है। मुझ से यह प्रश्न पूछना उचित नहीं! (वे मुस्कराते हैं) (हास्य) मैं सम्भवतः एक बात कह सकता हूँ। झूठ बोलना आवश्यक नहीं, क्योंकि सत्य सदैव कार्य करता है। उन्हें पहले इसका प्रयत्न करना चाहिये। वह सोचते हैं कि झूठ बोल कर प्रमाण पत्र लेना सरल है। सो सत्य का प्रयत्न तो करें।

प्रश्न - डायरी के सम्बन्ध में। क्या हमसे डायरी लिखने व रखने की अपेक्षा की जाती है?

उत्तर - हाँ, लिखने की अपेक्षा की जाती है। कृपया ऐसा करिये। इसमें कोई प्रश्न नहीं था, यह केवल उसका कथन था।

प्रश्न - शायद प्रश्न दूसरी तरह से करना चाहिये था कि ''डायरी कैसे लिखें?''

उत्तर - जैसी भी आपकी इच्छा हो।

प्रश्न - जो व्यक्ति ध्यान करता है, प्रार्थना करता है, क्या वह चारी के अतिरिक्त किसी और से प्रार्थना कर सकता है? क्या हम आवश्यक रूप से सहज मार्ग के प्रतिनिधि से जुड़े हैं?

उत्तर - नहीं, नहीं; आपसे किसी ने चारी से प्रार्थना करने को नहीं कहा। हम सब ईश्वर से प्रार्थना करते हैं।

प्रश्न - ईश्वर से क्यों, गुरु से क्यों नहीं?

उत्तर - बाबूजी ने कहा है, ''असली गुरु ईश्वर है''। यह आस्था का प्रश्न है। एक बार बाबूजी से यही प्रश्न किया गया और उन्होंने कहा था, ''अगर तुम घर में हो और तुम्हें भूख लगी है तो तुम अपनी पत्नी से खाना माँगोगे, बैठकर ईश्वर से प्रार्थना नहीं करोगे''। तो हमें समय के अनुसार प्रत्येक को व्यक्तिगत रूप से, उस समय निर्णय करना होगा।

प्रश्न - यह बोनास्क्रे का संस्कार है।

उत्तर - नहीं, नहीं, यह अच्छा शब्द है, क्योंकि सहज मार्ग में सब कुछ सही समय पर, करना होता है। ध्यान सही समय पर, सफाई सही समय पर, प्रार्थना सही समय पर। तो 'उस समय' – "a ce moment la" (फ्रेंच वाक्यांश) – एक अच्छा शब्द है।

प्रश्न - ध्यान ठीक से करने का क्या तात्पर्य है?

उत्तर - अधिकतर लोग ध्यान करते ही नहीं। मैंने आपसे बताया, या तो ध्यान है या नहीं है। जब आप ध्यान करते हैं, अगर आप वास्तव में ध्यान कर रहे हैं तो वह सही ध्यान है। मेरे विचार में यह सब पर लागू होता है, साधारण कार्य पर भी, या तो वह होता है या नहीं होता। हम यह नहीं कह सकते कि वह ठीक से नहीं हुआ। ठीक से न होना, न होने जैसा है। यह एक कृत्रिम भेद है कि कोई काम दस प्रतिशत अच्छा हुआ है, कोई बीस प्रतिशत अच्छा हुआ है, ऐसा नहीं होता। केवल दो वर्ग हैं – हुआ या नहीं हुआ। मैं इसके विषय में ऐसा ही सोचता हूँ। क्या आप कह सकते हैं कि आप अपनी पत्नी

को आधा प्यार करते हैं। या तो आप पत्नी से प्यार करते हैं या नहीं करते। तो ध्यान ध्यान है। अगर उसे किया है तो ठीक किया है, अगर उसे नहीं किया तो बिलकुल नहीं किया। उदाहरणार्थ कल किसी ने अपने भाषण में कहा था कि जब कोई समस्या होती है तो वह सतत स्मरण करते हैं। अब आप सतत स्मरण कभी-कभी कैसे कर सकते हैं? सतत स्मरण का अर्थ है लगातार। यह कहना कि मैं प्रतिदिन पाँच मिनट सतत स्मरण करता हूँ, गलत होगा। ऐसी बात करना गलत है। इसका अर्थ केवल यह है कि मैं कभी-कभी स्मरण करता हूँ बाकी समय नहीं।

ध्यान की भी यही बात है। ध्यान का अर्थ है किसी एक चीज के विषय में निरन्तर सोचना -- हृदय में दिव्य प्रकाश के विषय में। अगर आप बैठ कर हृदय में दिव्य प्रकाश के विषय में लगातार सोच सकते हैं तो यह सही ध्यान है। अब मान लीजिये कोई बैठ कर बुद्ध के ऊपर ध्यान कर रहा है। वह भी ध्यान है परन्तु सहज मार्ग का ध्यान नहीं। दूसरा आदमी, जो पिज़ा वह खाने वाला है, उस पर ध्यान करता है। अगर वह लगातार पिज़ा के बारे में ही सोचता है तो यह भी ध्यान है, परन्तु सहज मार्ग का ध्यान नहीं। इस अर्थ में सही ध्यान का मतलब है सहज मार्ग पद्धति के सिद्धान्तों के अनुसार ध्यान।

(टेप टूटा है)

जब कोई व्यक्ति किसी की अच्छी सेवा करता है तो उसका उस व्यक्ति पर अधिकार बनता है, जैकी इसका उदाहरण है। मुझे सार्वजनिक रूप से उसकी प्रशंसा नहीं करनी चाहिये, परन्तु उसने मेरी ऐसी सेवा की है जैसी कभी किसी ने पहले नहीं की। सब से अधिक। मेरा मतलब, ऐसा कुछ नहीं है जो वह मेरे लिये नहीं करता और वह भी मेरे बिना कहे। यह स्वतः ही उसे मेरे ऊपर कुछ अधिकार देता है। तो जब हम गुरु की सेवा इस तरह करते हैं, हमें भी उन पर अधिकार होता है। इसी कारण मैंने कहा है कि गुरु से प्रेम व भक्ति की तुलना में सेवा द्वारा अधिक सरलता से प्राप्त किया जा सकता है। किसे मालूम है कि भक्ति क्या है? प्रेम क्या है? मैंने बार-बार कहा है कि प्रेम उतना सरल नहीं जितना हम सोचते हैं। यह ऐसी वस्तु है जो हमें प्राप्त करना होता है। तो यह पहली नजर में प्रेम होने की बात मूर्खता है, बकवास है। यह पेट्रोल व अग्नि की भाँति नहीं है कि एकदम आग पकड़ लेगी। यह सेवा द्वारा अधिक सरल है। मेरे गुरुदेव अपने गुरुदेव के साथ प्रेम कर पाये और उन्होंने कभी किसी और की ओर नहीं देखा, ऐसा उन्होंने लिखा है। परन्तु मुझमें वह क्षमता नहीं, इस कारण

मैंने सेवा का तरीका अपनाया। दोनों में अन्तर क्या है? सेवा, प्रेम से सरल है, प्रेम अति कठिन है। सेवा अति सरल। अपने दिल से किसी की सेवा करिये, आपको स्वतः ही उसका प्रेम व कृतज्ञता प्राप्त हो जायेगी, और जो उसे आपको देना है वह उसे देना पड़ेगा। उसे तो हमें देना ही है, परन्तु महत्वपूर्ण यह है कि हम इस विचार से सेवा न करें। यदि हम इस भावना से सेवा करते हैं तो हम नौकर बन जाते हैं और हमें वही मिलता है जो नौकरों को मिलता है। तो मुझे अपने मालिक की आज्ञा का पालन करना है। (हास्य)

प्रश्न और उत्तर - २

११ सितम्बर १९८७, सायंकाल

गुरुदेव - क्या आप सब प्रसन्न हैं कि अगले वर्ष यह तीन माह का होगा या यह बहुत अधिक है?

अभ्यासी - हाँ, हाँ। (हास्य)

अन्य अभ्यासी - हम तीन माह नहीं रुक सकते। हम केवल दो सप्ताह रुक सकते हैं।

गुरुदेव - कहाँ?

अभ्यासी - अगले वर्ष।

गुरुदेव - आप?

अभ्यासी - हाँ।

एक अन्य अभ्यासी - नहीं, हमें केवल दो सप्ताह रुकने की अनुमति है।

गुरुदेव - नहीं, नहीं, मैं तीन महीनें यहाँ रहूँ या न रहूँ। (हास्य) यह बहुत लम्बा लगता है, है न?

अभ्यासी - नहीं।

अन्य अभ्यासी - कुछ लोग कहते हैं यह बहुत कम है।

गुरुदेव - बहुत कम ? (हास्य)

अभ्यासी - ...(सुनाई नहीं दिया)... आपसे केवल दो सप्ताह के लिए मिलेंगे ...(सुनाई नहीं दिया)

गुरुदेव - जो अधिक समय तक रुकना चाहते हैं वह प्रबन्धकों को निवेदन पत्र दे सकते हैं।

अभ्यासी - पर हमें देखना पड़ेगा कि यह सम्भव है कि नहीं।

गुरुदेव - वे निवेदन कर सकते हैं। आप देखिये यदि सम्भव है तो उसके अनुसार करिये।

अभ्यासी - (सुनाई नहीं दिया)

गुरुदेव - क्या यह समय बहुत अधिक है?

अभ्यासी - (सुनाई नहीं दिया)

गुरुदेव - यह एक प्रयोग के रूप में है। आप मेरे साथ दो सप्ताह तो रह चुके हैं, हो सकता है कि इस अवधि के अन्त तक आप मुझसे ऊब गये हों।

अभ्यासी - हो सकता है।

गुरुदेव - यह काफी हद तक मुमकिन है। मैं ऊब सकता था। क्या पता। पूरे समय तक तीन महीनों की क्या बात कही जाय।

अभ्यासी - हाँ, परन्तु अगर आपके पास वही लोग न हों तो?

गुरुदेव - देखिये, यह स्कूल नहीं है जहाँ हम भाषण तैयार करते हैं और फिर उन्हें एक कक्षा के बाद दूसरी कक्षा में पढ़ देते हैं। है न?

अभ्यासी - परन्तु आपको हर बार भाषण तो नहीं देना पड़ता। मेरा मतलब भाषण अच्छे हैं (सुनाई नहीं दिया) मौन भी अच्छा है।

अन्य अभ्यासी - (सुनाई नहीं दिया)

गुरुदेव - वह क्या है?

अभ्यासी - (अनुवादक गुरुदेव के लिए फ्रेंच में प्रश्न फिर से धीरे-धीरे दोहराता है) विक्टोरिया ने गुरुदेव से पूछा कि इस सेमिनार के विषय में उनकी क्या भावनाएँ हैं। क्या वे इस पर कोई टिप्पणी दे सकते हैं या यह सम्भव नहीं है?

गुरुदेव - यह सम्भव नहीं। (फ्रेंच में उत्तर दिया) (हास्य)

अभ्यासो - (सुनाई नहीं दिया)

गुरुदेव - वह क्या कह रही है?

अभ्यासी - वह कहती है कि आप की आँखें बहुत कुछ कह देती हैं।

गुरुदेव - किसकी?

अभ्यासी - आपकी।

गुरुदेव - ओह, फिर उन्हें आँखों को पढ़ना चाहिये, प्रश्न नहीं पूछने चाहिये।

सेमिनार के परिणाम के विषय में मैं अगले वर्ष ही सोचूँगा। तब तक परिणाम आप सब में दिखायी देने चाहिये। अभी केवल काम समाप्त हुआ है, परिणाम अभी देखने हैं।

अभ्यासी - आप इतना टाल क्यों रहे हैं? आप हमें बताना क्यों नहीं चाहते?

गुरुदेव - नहीं, नहीं, टालने की बात नहीं है। उदाहरणार्थ, हमारी बैठक पिछले वर्ष हुई थी और इस वर्ष इतनी प्रगति देखकर मुझे प्रसन्नता है। मैं अभी कैसे कह सकता हूँ? है न? इसमें कोई टालने की बात

नहीं है। हमें परिणाम अवश्य देखने चाहिये। क्योंकि सफलता या असफलता उसके परिणाम पर निर्भर करती है, इस पर नहीं कि हम यहाँ क्या अनुभव करते हैं। बेशक आप सब के साथ रह कर मुझे खुशी होती, परन्तु मैं यहाँ आपके साथ खुश होने के लिये नहीं आता। मैं कुछ करने आता हूँ और यह देखने कि इसका क्या परिणाम होता है। जैसे परीक्षा में आप अपना पर्चा लिखते हैं, आप सोचते हैं कि आपने अच्छा किया है, पर आप को उसके परिणाम के लिये प्रतीक्षा करनी पड़ती है। मुझे विश्वास है कि परिणाम तो अवश्य होंगे। वह मेरे गुरुदेव की कृपा है। तो मैं अभी से प्रसन्न हूँ, क्योंकि उसमें कोई सन्देह नहीं।

(हास्य)

गुरुदेव - क्या हुआ?

अभ्यासी - मैंने 'Deja heureux' के स्थान पर 'Dejas heureux' बोल दिया।

गुरुदेव - इसका मतलब?

अभ्यासी - मैंने 'deja' के अन्त में 's' लगा दिया जो कि नहीं लगाना चाहिये था।

गुरुदेव - आप को गलतियाँ करते हुए देख कर अच्छा लगा। (हास्य)

अभ्यासी - क्या आपकी प्रातः की सैर अभी भी ६-३० बजे ही होती है?

गुरुदेव - हाँ, हाँ, हमारे पास बहुत समय है; अगर वर्षा न हो तो। मेरे विचार में वर्षा नहीं होगी। क्या आप को सैर लाभप्रद मालूम होती है?

अभ्यासी - हाँ।

गुरुदेव - किस प्रकार से?

अभ्यासी - यह अच्छा व्यायाम है।

गुरुदेव - बेशक, अच्छा व्यायाम है....।

अभ्यासी - आपके लिये भी यह अच्छा व्यायाम है।

गुरुदेव - हाँ, परन्तु आप मेरे लिये तो सैर नहीं करते हैं।

अभ्यासी - वह कह रही है कि उसके लिये यह सबसे उत्तम शिक्षा थी।

गुरुदेव - हाँ, हम सैर के समय खूब बातें करते हैं। मद्रास में भी हम सैर करते हुए खूब बातें करते हैं। वहाँ बात करना सरल भी है क्योंकि

मुझे ऊपर नीचे नहीं चढ़ना-उतरना पड़ता। मेरा मतलब साथ-साथ बोलना और चलना। इस प्रकार अनौपचारिक रूप से बात करना सरल है।

अभ्यासी - वह कहता है कि व्यक्तिगत रूप से यह सैर मुझमें थकान पैदा करती है।

गुरुदेव - क्यों ?

अभ्यासी - बहुत तेज होती है। (हास्य)

गुरुदेव - (वे हँसते हैं) बात तेज होती है या सैर। सैर बहुत तेज है?

अभ्यासी - सैर।

गुरुदेव - कल हम धीमें चलेंगे। जवान लड़का है, उसे तो मुझसे तेज चलना चाहिये। (हास्य) है न?

अभ्यासी - वह कहता है कि जो लोग पीछे रह जाते हैं, आपके वापस घूमने पर उन्हें आगे होना चाहिये। (हास्य)

गुरुदेव - हाँ होना तो चाहिये, परन्तु .... क्या कूरमेट में टहलना संभव है?

अभ्यासी - हाँ एक रोमन लोगों का रास्ता है; मेरा मतलब प्रकृति में.... अनेक हैं रास्ते। वह भी ऊपर-नीचे जाते हैं।

गुरुदेव - हाँ?

अभ्यासी - (सुनाई नहीं दिया)

गुरुदेव - क्या?

अभ्यासी - (सुनाई नहीं दिया)

गुरुदेव - ओह, वह अपनी अन्तर्दृष्टि (विज़न) में देख सकते थे।

अभ्यासी - (सुनाई नहीं दिया)

गुरुदेव - नहीं, नहीं।

अभ्यासी - मैंने ठीक से नहीं सुना।

गुरुदेव - बाबूजी से किसी ने पूछा था, "जब किसी को समस्या होती है तो आपको कैसे मालूम पड़ता है?" उनकी दृष्टि में सागर के समान फैलाव था जिसमें बुलबुले उठते थे, और उनमें लोगों के चेहरे दिखायी देते और वह उन्हें प्राणाहुति देते। वह कहती है कि "क्या यह आप पर भी लागू होता है?" मैंने कहा "नहीं"। इसका क्या सम्बन्ध है?

अभ्यासी - आपके उत्तर पर विश्वास करें या नहीं?

गुरुदेव - यह आप पर निर्भर करता है। अगर मैं "हाँ" कहूँ तो आप विश्वास न करें, और अगर मैं "नहीं" कहूँ तो विश्वास कीजिये। आप

अविश्वास कर सकते हैं। अगर मैं "नहीं" कहूँ तो आप अविश्वास क्यों करें? (मुस्कराते हैं) हाँ! अगला सवाल?

अभ्यासी - पर आपकी आँखें तो कुछ और कह रही हैं।

गुरुदेव - ओह! (हास्य) हम फिर नाडिया महान् पर आ जाते हैं।

अभ्यासी - नाडिया?

गुरुदेव - उसने कहा था "आँखें"। तो मैंने कहा था, "फिर आप प्रश्न क्यों पूछती हैं? प्रश्न पूछना आवश्यक नहीं"। हाँ। मेरे विचार में मुझे काला चश्मा पहनना चाहिये। (हास्य)

अभ्यासी - सैर के सम्बन्ध में। पहली चीज, मैं सोचता हूँ कि यह केवल शारीरिक लाभ से कुछ अधिक है। दूसरी बात, आपके जूते बहुत (सुनाई नहीं दिया)

गुरुदेव - आपके जूते ...?

अभ्यासी - आपके जूते अति करतबशील हैं।

गुरुदेव - इसका अर्थ?

अभ्यासी - इसका अर्थ है, आपके जूते आपको तेज चलाते हैं।

गुरुदेव - हाँ। मैंने अपने बचपन में एक कहानी पढ़ी थी – सौ लीग वाले जूते, जिसमें एक मनुष्य के पास जूते थे जिसको पहन कर वह एक कदम में सौ लीग चल सकता है। सौ लीग का मतलब करीब ५० किलोमीटर। मेरे जूते भी वैसे हैं। उसने यह कहानी पढ़ी है? अवश्य पढ़ी होगी।

अभ्यासी - बिल्ली जिसके पास वह जूते थे।

गुरुदेव - 'पुस इन द बूट्स' (बिल्ली जूतों में) वह अलग कहानी है।

अभ्यासी - क्या ऐसा है?

गुरुदेव - हाँ-हाँ, यह है सौ लीग ...

अभ्यासी - बिल्ली इतनी तेज नहीं जाती।

अन्य अभ्यासी - वह कह रही है यह एक जर्मन कहानी है।

गुरुदेव - ग्रिम की परियों की कथाएँ, ग्रिम भाई।

हमें सब कुछ ऐसे करना चाहिये जिसका दोहरा लाभ हो। हमारे काम से भी हमें आध्यात्मिक लाभ मिलना चाहिये। खाने से भी आध्यात्मिक लाभ मिलना चाहिये। परन्तु हम जीवन को भौतिक व आध्यात्मिक में विभाजित कर उसे खानों में बाँट देते हैं। यह हमारी गलती है। उदाहरणार्थ खाने के पूर्व हमें एक क्षण के लिये उसे मालिक को भेंट करके खाना चाहिये। फिर जब आप सतत स्मरण में खायेंगे तो यह

हमारे लिये अच्छा होगा। अगर हम अपने मन और हृदय का सही प्रयोग करें तो हर एक चीज में आध्यात्मिक लाभ है। यही अन्तर बातचीत में है। आप राजनैतिक वार्ता सुनते हैं और कुछ आध्यात्मिक लाभ अनुभव नहीं करते। परन्तु यहाँ दोनों हैं। क्योंकि – मुझे नहीं मालूम कि आपको यह बताना चाहिये या नहीं। (मुस्कराते हैं)

अभ्यासी - हाँ, हाँ। आपने आरम्भ कर दिया है।

गुरुदेव - यह दो स्तर पर कार्य करता है। शब्दों का अपना प्रभाव होता है। और उसके पीछे सदैव कुछ होता है जिसका आध्यात्मिक प्रभाव होता है। इसी कारण चाहे वार्ता में वही दोहराया गया हो, आप उसे इतने चाव से सुनते हैं। कुल मिलाकर हम सहज मार्ग में केवल तीन विषयों पर ही बात करते हैं: ध्यान, सफाई, सतत् स्मरण, प्रार्थना-- और बात करने को है ही क्या। परन्तु हर बार जब हम सुनते हैं, वह रुचिकर व नया जान पड़ता है, क्योंकि वह भिन्न तरीके से भी काम करता है। अब यह सभी कर सकते हैं। जब आप बात करें, गुरुदेव का स्मरण करें और बात करें। फिर आपको स्वयं आश्चर्य होगा कि आप क्या कह रहे हैं। कभी-कभी आप ऐसी बातें बोल जाते हैं, जिनके विषय में आपको स्वयं नहीं पता होता। बोलने वाला स्वयं अपनी वार्ता का आनन्द लेता है, उससे सीखता है, यही इसकी खूबी है। इसी कारण मैंने बार-बार कहा है कि जब भी मैं कुछ बोलता हूँ, तो मुझे फिर से टेप सुनना पड़ता है, क्योंकि मुझे नहीं पता कि मैंने क्या कहा।

एक और महत्वपूर्ण बात जो मैं सतत् स्मरण के बारे में कहना चाहता हूँ और मुझे याद आई। हमारी सारी समस्याएँ इस कारण हैं कि हम अपने विषय में बहुत अधिक सोचते हैं। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य भी है कि जब हम अपने विषय में सोचना बन्द कर देते हैं तो हमारी समस्या कहीं पीछे पृष्ठभूमि में चली जाती है। अब डाक्टर लोग हमसे कहते हैं कि अपनी बीमारी व पीड़ा के बारे में मत सोचो, उसे भूल जाओ। अगर तुम्हें दिल का दौरा पड़ा हो तो अपने दिल के बारे में मत सोचो। अब अपने दिल के बारे में कैसे न सोचूँ? जब मुझे दिल की परेशानी हो रही है तो मैं दिल के बारे में ही सोचूँगा। यहाँ पर सतत स्मरण का अत्यधिक लाभ होगा। क्योंकि जब हम गुरुदेव को स्मरण करते हैं तो हम स्वयं को भूल जाते हैं। हमें अपने आप को भूलने के लिये प्रयत्न नहीं करना पड़ता, हम उनको स्मरण करते हैं और सारी समस्या का समाधान हो जाता है। हम सब ने यह बाबूजी के साथ सैकड़ों बार देखा है। वह पीड़ा में होते थे परन्तु उन्हें उसकी

कोई चेतना नहीं होती थी। उनके शरीर में पीड़ा होती थी। अचानक उन्हें कोई याद करा देता था, ''आपका पेट दर्द कैसा है?'' और वह कहते थे, ''अब तुमने मुझे याद कराया है तो मुझे दर्द लग रहा है।'' अब उनका तरीका यही था, वह लालाजी की याद में रहते थे। तो उन्हें कोई समस्या नहीं थी, इस अर्थ में कि समस्या का उन पर कोई प्रभाव नहीं होता था। अब हम चाहते हैं कि हमें कोई समस्या ही न हो। यह सम्भव नहीं। हमारे अतीत के संस्कार हैं जिनमें से कुछ हमें भोगने ही हैं। हालाँकि ६० या ६८ प्रतिशत सफाई द्वारा दूर हो जाते हैं। परन्तु यह सतत स्मरण का तरीका सिखाकर वह हमारे लिये भोग से छुटकारा पाना भी सम्भव कर देते हैं। फिर वह स्थिति आती है कि हम बिना पीड़ा का अनुभव किये पीड़ा से गुजर जाते हैं, बिना आनन्द का अनुभव किये आनन्द भोग लेते हैं, क्योंकि हमें इन चीजों की चेतना नहीं रहती।

तो यही सतत स्मरण का रहस्य है। वह स्वयं को भुला देता है। जब हम स्वयं को भूल जाते हैं तो हम अपनी समस्याओं को, अपने दर्द को, अपने दुःख को भूल जाते हैं। और साथ ही साथ उनको स्मरण करने से उनके प्रति प्रेम बढ़ता है। प्रेम स्थापित हो जाने पर समर्पण सम्भव हो पाता है। और जब समर्पण स्थापित हो जाता है फिर और कुछ करने को नहीं बचता। तो आप देखते हैं कि सतत स्मरण हमारी दोहरी मदद करता है। अब जब हम स्वयं को स्मरण करते हैं, तो हम हर पीड़ा का अनुभव करते हैं। सिरदर्द, पेटदर्द, सब कुछ बढ़ा हुआ लगता है। हम अपने से घृणा करने लगते हैं और साथ ही उनसे भी। क्योंकि जितना हम स्वयं को याद करेंगे, उतना ही दुःखी होंगे; अपने दुःख के लिये हम स्वयं से घृणा करेंगे और गुरुदेव से घृणा करेंगे क्योंकि हम सोचते हैं कि वह हमें दुःख दे रहे हैं। तो अपने आप को याद करने में दोहरा नुकसान – आप क्या कहेंगे, दो नकारात्मक लाभ। अपने प्रति घृणा और गुरु के प्रति घृणा क्योंकि अपने सारे दुःखों के लिये दोषी हम उन्हें ठहराते हैं। उनको स्मरण करने में दोहरा लाभ है – हमारा दुःख दूर करता है और समर्पण सम्भव करता है। तो यह महान् तरीका गुरुदेव का बनाया हुआ है। परन्तु जैसा कि मैंने सबेरे कहा था वह सतत होना चाहिये न कि प्रतिदिन पाँच मिनट का सतत स्मरण। बाबूजी ने कहा है कि अगर कोई एक सप्ताह के लिये सतत स्मरण कर ले तो वह रुक नहीं पायेगा। तो हमें आवश्यकता है कुल एक सप्ताह के अभ्यास की। मैं इसके विषय में यही कहना चाहता था।

आप सब जा कर सामान बाँधना चाहते हैं? मैं बाँध चुका हूँ। (हास्य) आप सामान नहीं बाँधना चाहते?

अभ्यासी - हमने कर लिया है।

गुरुदेव - आप सब ने कर लिया है।

अभ्यासी - क्या हमें जाना होगा?

गुरुदेव - (वे हँसते हैं)

अभ्यासी - आप कहते जाइये।

गुरुदेव - नहीं। सतत स्मरण समाप्त हो गया है; और कुछ कहने को नहीं है।

हाँ ?

अभ्यासी - क्या सतत स्मरण स्वतः ही आ जाता है या हमें इसके लिये कुछ करना पड़ता है?

गुरुदेव - आप बिना याद किये तो स्मरण कर नहीं सकते। (हास्य) यह एक चेतन प्रयास है। इसी कारण जब आप कुछ भूल जाते हैं तो कहते हैं "स्मरण करने का प्रयास करें।" है न? हाँ। इसी कारण मैंने कहा, या बाबूजी ने जो कहा कि सतत स्मरण की प्रक्रिया के लिये हमें एक सप्ताह का अभ्यास चाहिये। यह दिल से होना चाहिये, न कि केवल दिमाग से।

अभ्यासी - जब कोई सतत स्मरण करता है तो वह आभार भी अनुभव करता है। क्या यह एक ही चीज है?

गुरुदेव - हाँ, हाँ। आभार केवल परिणाम है.... आभार क्या है? हममें से अधिकतर नहीं जानते कि आभार क्या है। मान लीजिये मैं आपके सौ रुपये आपको वापस करता हूँ, और आप कहते हैं "मैं आभारी हूँ"– यह आभार नहीं है। यह मानसिक सम्मान है। आपको पता है जब आप कहते हैं "धन्यवाद" तो वह एक मानसिक चीज़ है। आभार में हृदय को बोलना चाहिये। और वह कैसे बोलता है? सामान्यतः आँसुओं से। हो सकता है आपकी आँखें केवल नम हो जायें – आप को तीन-तीन रूमाल लेकर अधिक रोने की आवश्यकता नहीं। अधिकतर ऐसा होता है जब हम अनुभव करते हैं कि हम जिस योग्य हैं उससे हमें अधिक मिला है। क्योंकि जब मुझे अपनी योग्यता के अनुकूल मिला है तो फिर मैं आभारी क्यों होऊँ? इसलिये हमें यह विचित्र चीज देखने को मिलती है कि जब भी हम एकत्रित होते हैं, वहाँ सदैव कुछ लोग होते हैं जो रो रहे होते हैं, उन्हें नहीं मालूम कि वह ऐसा क्यों कर रहे हैं। लोग सोचते हैं, "वे दुखी हैं क्योंकि वे घर जा रहे हैं,

वे परपिग्नैन या पैरिस जा रहे हैं''... ऐसा नहीं है। रोने वाले को भी नहीं मालूम वह क्यों रो रहा है। यही असली आभार है। केवल गुरुदेव जानते हैं।

मैंने बाबूजी के समय में देखा कि कभी-कभी लोग रोना शुरू कर देते और बाबूजी कहते, ''उन्हें छोड़ दीजिये।'' क्योंकि हममें हमेशा ऐसे स्वयंसेवी लोग भी होते हैं जो फौरन दौड़कर उनके पास जाते हैं। ऐसे में हम वास्तव में हृदय के बहाव को रोक देते हैं, ऐसा नहीं करना चाहिये। हमें चाहिये कि नम्रता से उनकी अनदेखी कर दें और ऐसा जतायें कि हमने उन्हें देखा ही नहीं। दुर्भाग्यवश आधुनिक समाज में रोना एक शर्म की भावना से जुड़ा है, जो कि मूर्खतापूर्ण है। बाबूजी कहा करते थे, ''जो रोता है शर्महीन व्यक्ति है।'' सामान्य अर्थ में नहीं, परन्तु इस अर्थ में कि उसमें कोई शर्म की भावना ही नहीं है। तो हमें अपना आभार जिस रूप में सम्भव है उस रूप में व्यक्त करने में शर्म क्यों? इसी कारण अभ्यासी की आँखों में पहले आँसू बाबूजी को अच्छे लगते थे। हमें कितनी चीजों का प्रथम अनुभव चाहिये होता है। जैसे कि अपना वेतन मिलने के बाद प्रथम उपहार, पहली कमीज जो आप खरीदते हैं – इसी तरह की चीजें। किंतु वे चाहते थे अभ्यासी की आँखों में पहले अश्रु। क्योंकि वह दर्शाता है कि हृदय कोमल हो रहा है। और हृदय वह पहचान रहा है जो कि मूर्ख बुद्धि नहीं पहचान सकती कि मैं वह पा रहा हूँ जो कि मुझे कभी नहीं मिलना चाहिये क्योंकि मैं उसके योग्य नहीं।

इसी कारण हृदय ही है जो आभारी होता है, मस्तिष्क नहीं। अब हमें जो फायदे गुरुदेव से मिलते हैं उनका मूल्यांकन हम बुद्धि द्वारा करने लगते हैं तो सब गड़बड़ हो जाता है। आपको सदैव ऐसे अभ्यासी मिल जायेंगे जो बाबूजी के पास एक सप्ताह या दस दिन के लिये आते और फिर कहते, ''ओह, मैं यहाँ आया और मुझे कोई फायदा नहीं हुआ, मेरी पारिवारिक समस्यायें वैसी ही हैं, मेरी पत्नी अभी भी मुझे परेशान करती है, मेरा सिरदर्द अभी भी वैसा ही है।'' उन्हें यह भी नहीं पता कि वे बाबूजी के पास क्यों आये थे। इन बातों को सोच कर वे अपने हृदय को व्यक्त भी नहीं करने देते। तो जब आप बुद्धि को कार्य करने देते हैं, तब हृदय नहीं बोल पाता। इसी कारण आध्यात्मिक विज्ञान में हम सदैव कहते हैं, ''अपने सिर को भूल जाइये।'' क्योंकि वह केवल चीजों का मूल्यांकन कर सकता है, उसे और कुछ नहीं पता। तो बुद्धि पर निर्भर होने का क्या लाभ? परन्तु जो लोग

यहाँ आकर सब कुछ भूल जाते हैं, अपना घर, परिवार, सब कुछ सच्चे अर्थ में भूल जाते हैं, उनमें हृदय बोलता है।

तो आप देखते हैं कि सहज मार्ग सरल नहीं है, परन्तु कठिन भी नहीं है। क्योंकि सतत स्मरण से जब आप अपने आप को भूल जाते हैं, तो यह आपको बाकी सब कुछ भी भुलवा देता है, आपको अपने परिवार को भूलने के लिये कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता, आपका घर, आपका काम, सब कुछ साथ ही भूल जाता है। जब आप टूलूज़ से जाते हैं तो आप केवल टूलूज़ ही नहीं, सब कुछ पीछे छोड़ जाते हैं। उड़ने की क्रिया में – जब आप ऊपर उड़ते हैं तो धरती नीचे छूट जाती है। इसी प्रकार प्रेम की जाग्रति के क्षण में जब हम हृदय को उड़ने देते हैं तो बाकी सब कुछ छूट जाता है। सिर, पेट, पूरे शरीर का अस्तित्व हमारे लिये समाप्त हो जाता है।

इसी कारण हृदय को प्राथमिकता देनी पड़ती है। हमें केवल हृदय पर ही निर्भर रहना चाहिये। इसी कारण बाबूजी ने कहा है, "जब शंका हो तो हृदय से पूछो," दिमाग से नहीं। अन्ततः, केवल हृदय ही गुरुदेव को परख सकता है, यह परख सकता है कि हमें उनसे क्या मिल रहा है, अपने विकास को परख सकता है। केवल हृदय यह कर सकता है, दिमाग नहीं। दिमाग केवल भौतिक चीजों द्वारा परख करता है, "क्या अपने कार्य में मेरी उन्नति हुई है, क्या मेरा सिरदर्द समाप्त हुआ है, क्या मेरे कारण मेरा बेटा पहले से बेहतर है?" वह उस आध्यात्मिक विकास को नहीं परख पाता जो हमें पाना है। और फिर वह निराश होता है, क्योंकि यह परिस्थितियाँ बदलती नहीं। वह इसलिये नहीं बदलतीं कि उनका परिवर्तन आवश्यक नहीं।

यह मूर्खता होगी, जैसे एक व्यक्ति हर तीन माह बाद घर बदलता है, खुशी की तलाश में – जैसे कि खुशी घर में है। खुशी यहाँ है (हृदय की ओर इशारा करते हैं), है न? तो हमें आध्यात्मिक प्रयास द्वारा इसका विकास करना है। इसी कारण हम हृदय पर ध्यान करते हैं, अपने प्रश्नों के लिये हम हृदय की राय लेते हैं, गुरुदेव को हम हृदय में रखते हैं, हृदय में उनसे प्रेम करते हैं, इस हृदय को उन्हें सौंप देते हैं और देखते हैं कि सब काम समाप्त हो गया। और यह कैसे सम्भव है? केवल अपना हृदय उन्हें सौंपने से। है न? अगर आप कहें, "यह मेरा हृदय है," तो वे इसमें कैसे आ सके हैं। आपको मालूम है, जब हमारे घर अतिथि आते हैं जो हमारे बहुत करीब होते हैं, तो हम कहते हैं, इसे अपना ही घर समझिये। परन्तु जब हम गुरुदेव को आमंत्रित करते हैं तो हम यह नहीं कहते, "यह आपका हृदय है।" हम फिर भी कहते हैं, "कृपया मेरे दिल में आइये।" वह नहीं आना चाहते, क्योंकि उनके पास अपना हृदय है। वह क्यों आपके हृदय में

आयें? आप अन्तर समझ गये? केवल जब हम कहते हैं, "यह हृदय आपका है, इसके साथ जो मर्जी करें, चाहे इसे फुटबाल बनाकर खेलें, मुझे क्या; चाहे टुकड़ों में काट कर मछलियों को खिला दें।" तब वे आते हैं। क्योंकि वह उनका है, उनको उसकी देखभाल करना है। वह कोई पुलिसवाले या चौकीदार नहीं हैं कि आकर आपके हृदय की देखभाल करें। परन्तु अगर वह उनका है, उनका बन गया है, तो उन्हें उसकी देखभाल करना पड़ता है।

तो हम कितना ही ध्यान का अभ्यास क्यों न करें, कितनी ही ईमानदारी से करें, गम्भीरता से करें, निष्ठापूर्वक करें, जब तक हम अपना हृदय नहीं देते आध्यात्मिक लाभ से वंचित रहेंगे। तो जब तक हम गुरुदेव से प्रेम की बात करते हैं और 'मेरा हृदय' और 'तुम्हारा हृदय' कहते हैं, वह प्रेम नहीं है। वहाँ भी हमें यही कहना है, "यह आपका हृदय है जो आपको प्रेम करता है, मेरा उससे कोई सम्बन्ध नहीं।" अभी हम अपने हृदय से प्रेम करते हैं, इसी कारण हम हृदय-रोग व दिल के दौरे से डरते हैं, है न? इसी कारण हम प्रेम करने से भी डरते हैं, "नहीं, नहीं, मैं नहीं चाहता कि मुझे फिर कोई झटका लगे, फिर कोई चोट लगे, मैं काफी दुःख भोग चुका हूँ।" तो जितना ही मैं अपने हृदय को अपने पास रखता हूँ, उतना ही कम प्रेम कर पाता हूँ। अगर मैं उसे एक बार सदैव के लिये दे दूँ, तो झंझट ही समाप्त। मैं इसे स्वीकार करता हूँ।

हमारे पास केवल दस मिनट और हैं, उसके पश्चात् हमें अवश्य...

अभ्यासी - यह कहते हैं कि मेरी भारत यात्रा के बाद हर बार जब मुझे सिटिंग मिलती है तो मेरे सिर में कुछ सुन्न सा हो जाता है, अगर मैं हृदय में डूबने का प्रयत्न करूँ तो यह कम हो जाता है पर यह फिर भी रहता है। जब भी मैं काफी सतर्क नहीं रहता तो सुन्नता सिर में वापस चली जाती है और ....

गुरुदेव - सिर में क्या चला जाता है?

अभ्यासी - मेरा मतलब, उसे यह भावना ....

गुरुदेव - सुन्न होना?

अभ्यासी - हाँ।

गुरुदेव - इसका ध्यान से कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि जब वह ध्यान में होता है तो वह इस सुन्नता को अनुभव नहीं करता, नहीं न?

अभ्यासी - वह कम हो जाती है पर रहती है।

गुरुदेव - तो ध्यान से कम होती है। अगर वह बेहतर ध्यान करे तो चली जायेगी। मैं आशा करता हूँ। कोशिश करके देखें।

स्वतंत्रता और प्रेम

१२ सितंबर १९८७ प्रातः

भौतिक जगत में हम इस विचार के अभ्यस्त हैं कि दबाव से शक्ति बढ़ती है, है न? गैस को दबाओ तो उसकी शक्ति अधिक हो जाती है। दबी हुई गैस, दबी हुई वायु, एक कमानी, इन्हें दबाओ तो वह वापस उछलते हैं। पदार्थ जब घनत्व में दबाया जाता है, तो वह वापस लौट आता है। कितनी ही चीजें ऐसी हैं। परन्तु मानव में और विशेष रूप से मानव के आध्यात्मिक जीवन में, यह स्वतंत्रता है जो शक्ति का विकास करती है। तो हमें स्वतंत्रता की आवश्यकता है। बाबूजी कहते थे, ''मुझे बाँधो मत।'' जब आपको पूजा की चाह होती और आप कहते, ''बाबूजी मुझे दस मिनट की पूजा दे दीजिये'' वह कहते, ''तुम मुझे स्वतंत्र छोड़ दो, तब तुम्हें पता चलेगा कि मैं तुम्हारे लिये क्या कर सकता हूँ।'' अब इस प्रेम के विषय में भी अगर आप सब कुछ थोड़े क्षणों में, थोड़े शब्दों में दबा कर संक्षिप्त करना चाहते हैं और माँग करते हैं, तो आप उसका आकर्षण, उसकी भव्यता खो बैठते हैं। अतः वहाँ भी स्वतंत्रता आवश्यक है। तो भौतिक संसार में दबाव और आध्यात्मिक संसार में, जो कि प्रेम का संसार है, स्वतंत्रता।

धन्यवाद।

व्यक्तिगत प्रेम

१२ सितम्बर १९८७ सायंकाल

प्रेम एक व्यक्तिगत मामला है। इसका सम्बन्ध केवल प्रेमी और प्रेमास्पद से होता है। कई बार बातचीत के दौरान लोग कहते हैं "हम अपना दिल दे बैठे हैं।" इसका मतलब कोई सामूहिक बलिदान नहीं है, कि हम सब एक भव्य (मुस्कुराते हैं) में अपने हृदय दे दें .... जैसे कि सेना एक साथ अपने हथियार समर्पण करती है। (वे हँसते हैं) यह प्रत्येक के लिये व्यक्तिगत रूप में होना पड़ेगा। नहीं तो यह आलू की भांति होगा। सब एक साथ उबाले जाते हैं और सारे आलू पक जाते हैं। परन्तु मानव आलू नहीं है। (हास्य) कोई जो गुरुदेव की उपस्थिति में आता है, उसी क्षण पक जाता है। कोई गुरुदेव के सामने आते ही फौरन पक जाता है और किसी किसी के लिये जीवन भर का संग भी असर नहीं करता। तो प्रत्येक को इसके लिये कार्य करना है, कोई सामूहिक प्रयास नहीं। सामूहिक ध्यान परन्तु व्यक्तिगत प्रेम।

बहुधा हम इसे भूल जाते हैं, जैसे कि एक ही प्रयास में हम सभी गुरुदेव से प्रेम कर पायेंगे, सब उनके भक्त बन जायेंगे, सभी का समर्पण हो जायेगा और सब उनमें समा जायेंगे। आपको पता है हम ऐसा क्यों सोचते हैं? क्योंकि हम अपने व्यक्तिगत हृदय को जोखिम में नहीं डालना चाहते। "क्या तुमने अपना दिल दे दिया, क्या तुमने दिया? चलो, अब मैं भी अपना दिल दे सकता हूँ।" वहाँ भी हम सुरक्षा खोजते हैं। परन्तु प्रेम में कोई सुरक्षा नहीं हो सकती। इसीलिये इसमें इतना प्रतिफल है। यह काफी हद तक जुए की तरह है। आप तो जानते हैं कि कैसिनो* में बड़े-बड़े जुआरी एक या दो रुपया नहीं लगाते। वह अपना सब कुछ दाँव पर लगा देते हैं। मैंने जुआ नहीं खेला परन्तु उसके विषय में पढ़ा है, 'कैसिनो रॉयल' जेम्स बाण्ड। (हास्य)

तो यहाँ आप नहीं .... देखिये, इसके दो कारण हैं: आप अपना दिल थोड़ा थोड़ा कर के नहीं दे सकते, या तो आप इसे देते हैं या नहीं देते। तो जब भी कोई कहता है, "ओह, मे उसे पूरे दिल से प्यार करता हूँ", तो यह सब झूठ है। "पूरे दिल से" क्यों कहें, इसे

★ जुआ खेलने की जगह

कहने की आवश्यकता नहीं आप या तो प्यार कर सकते हैं या नहीं कर सकते। अब हम गुरुदेव को पहले पाँच प्रतिशत दिल देने का प्रयत्न करते हैं, फिर और पांच प्रतिशत फिर तीसरा पाँच प्रतिशत। परन्तु दिल के हम टुकड़े नहीं कर सकते। हम प्रेम को केवल बौद्धिक स्तर पर ला रहे हैं, और केवल अपनी बुद्धि या दिमाग द्वारा प्रेम कर रहे हैं, अपने हृदय द्वारा नहीं। जैसा कि बाबूजी ने कहा, "अगर आप ने समर्पण कर दिया और आप यह कह सकते हैं कि 'मैंने समर्पण कर दिया' तो वह समर्पण नहीं है।" वह "मैं" कौन है जो कहता है "मैंने समर्पण कर दिया है?" इसी प्रकार अगर आप कहते हैं "मैं अपने पूरे हृदय से उससे प्रेम करता हूँ" तो वह अभी भी आपका हृदय है, फिर प्रेम कहाँ है? इसलिये जब हम गुरुदेव के विषय में और उनके प्रति अपने प्रेम की बात करते हैं, तो प्रेम की असली हालत में आप में यह भी नहीं होना चाहिये कि आप उन्हें प्रेम करते हैं। यही अन्तिम अवस्था है। हमें उसी की प्राप्ति के लिये कार्य करना चाहिये। यह नहीं कि हृदय के साथ पिंग पौंग खेलें।

तो, शुभ रात्रि।

II

मारसेय, विलेनेव-ले-रोइ और पेरिस, फ्रांस

सितम्बर १४-१८, १९८७

अपने साथ सत्य बोलना

१४ सितम्बर १६८७, प्रातः

मैं खाने की बात से आरम्भ करूँगा। हमने कल क्या खाया था, एक घंटे बाद क्या खाने वाले हैं या कल क्या खाने वाले हैं, सदा ही रुचि का विषय रहता है। यूरोप में पाक विद्या अति विकसित है। मैंने पाक विद्या पर इतनी पुस्तकें देखी हैं, चीन की पाक विधियाँ, अरब की पाक विधियाँ, भारत की पाक विधियाँ, अत्यन्त कीमती तसवीरों वाली सुन्दर पुस्तकें। कभी-कभी तो मैं सोचता हूँ कि जहाँ हम जाते हैं क्या वहाँ उन्हें वास्तव में मेज पर देखूँगा। सदैव भारी निराशा होती है। (हास्य) (वे हंसते हैं) यह मैंने इसलिये कहा क्योंकि जो लोग हमारी खातिर करते हैं हमारी अपेक्षित वस्तु देने के लिये उनकी इच्छा या क्षमता में कमी नहीं है, परन्तु वास्तविकता कभी भी उसके भौतिक प्रदर्शन की बराबरी नहीं कर पाती। यह शायद मेरे गुरुदेव की सब से महत्वपूर्ण शिक्षा थी जो मैंने अपने आध्यात्मिक जीवन के आरम्भ में ही कुछ कठिनाई के साथ सीखी। प्रथम निराशा मेरे गुरुदेव स्वयं थे। आप में से कुछ ने शायद "मेरे गुरुदेव" पुस्तक पढ़ी होगी और आप उनसे मिलने पर मेरी प्रथम निराशा को समझ गये होंगे। निराशा अत्यधिक थी क्योंकि मैं कुछ और आशा लेकर गया था और जो मैंने देखा वह रत्ती भर भी उससे मेल नहीं खाता था। सौभाग्यवश मैंने उनकी आँखों में देखा और स्वयं को खो बैठा। अगर मैं उस समय न खोया होता तो सदा के लिए खो गया होता। तो उस समय उनकी आँखों में देखकर अपने को खोना आवश्यक था, ताकि मैं स्वयं को अधिक से अधिक पा सकूँ। और आशा करता हूँ कि एक दिन मैं स्वयं को उस रूप में पाऊँगा जैसा मैं हूँ, जो कि तब तक उन्होंने मुझे बनाया होगा।

असलियत के साथ यही समस्या है। अब बहन एन्जेला की वार्ता ...ी क्षण" पर और यूरोप की पाक विद्या पर आते हुए, वह क्या ... निराश करता है या हमें बोलने से भयभीत करता है? आप ... अनेक लोग हैं जो हमारा सत्कार करना चाहते हैं - ...रन्तु वह डरते हैं, शरमाते हैं, उनके घर में ...े दिल से हमें दे सकते हैं, परन्तु वह

दिखावा चाहते हैं। उन्हें सही मेज, सही प्लेट-प्याले, सही छुरी-काँटे की आवश्यकता है, जब कि खाना कम महत्वपूर्ण चीज है। अब अगर मेरी मेजबान मुझे सुन्दर प्लेट और बढ़िया छुरी-चम्मच ले जाने दें तब भी कुछ बात होती पर भोजन के विषय में न सोच कर मेज सजाने जैसी बेकार चीजों के बारे में सोचते हैं। और वह इतनी सुन्दर सजाई होती है कि हमें उसका भय रहता है कि कुछ गिर न जाय, या मेजपोश गन्दा न हो जाय। मुझे मालूम है कि मैंने कुछ ऐसी मेजों पर खाया है जहाँ आप एक चम्मच फर्श पर गिरा दें, तो यह एक भारी त्रासदी होगी, और अगर आप सुन्दर रेशमी मेजपोश पर सूप गिरा दें, तो वह निर्दोष की हत्या जैसा होगा।

एक बार मेरे साथ ऐसा ही हुआ। यह बहुत पहले की बात है १६४८ या १६४६ की , जब मैं लड़का था और योरोप आया। रात्रि भोजन पर जाने के लिए सूट पहनना पड़ा था और मुझे बाँह वाले कपड़ों की आदत नहीं थी। हर बार मैं अपना हाथ हिलाता तो बाँह साथ-साथ जाती और कुछ न कुछ गिरा देती। यह यूगोस्लाविया में हुआ था। वह बेचारी महिला जिसने मुझे खाने पर बुलाया था उसने अपनी परदादी का पिछली शताब्दी का मेजपोश खास कर मेरी खातिर बिछाया था। अब जब मैंने उस पर एक प्याला काफी गिरा दिया तो आप समझ सकते हैं कि कितनी दुःखद घटना थी। वह तुरन्त भाग कर बुरादा लेने गयी उस समय लकड़ी का बुरादा होता था, खाना भूलकर, मेहमान भूलकर, सब कुछ भूल कर। मेजपोश को बचाना था।

ऐसा ही कुछ होता है जब हम दिखावे के लिए कुछ करते हैं। अब मेहमान को भूलकर मेजपोश के बारे में सोचने से क्या लाभ? खाने के विषय में कुछ कहना असभ्यता होगी, क्योंकि आपका पूरा ध्यान मेज, प्लेट-प्याला, छुरी-कांटा, नैपकिन आदि और मेज पर उनके हिसाब से सही-सही जगह रखने पर है। ऐसे में खाने के बारे में सोचने का समय कहाँ? कम से कम उन दिनों वह कुछ पकाते तो थे। अब तो और भी बुरा है। सब कुछ डिब्बों व बोतलों में आता है। परन्तु दुर्भाग्यवश हम खाने के बारे में आजकल और भी कम सोचते हैं। इसी कारण जब आप साधारण लोगों के पास साधारण घरों में, गरीब लोगों के पास जाते हैं, तो आपको खाने का अधिक आनन्द आता है। उनके पास सोचने के लिए कोई मेज या मेजपोश या प्लेट-प्याले नहीं होते, इसलिये वे खाने के विषय में सोचते हैं। अगर उनके पास केवल एक गाजर, आधा टमाटर और दो आलू ही है तो वे उसे काट कर देगची में डाल कुछ न कुछ बनाते हैं और पूरे समय आने वाले

मेहमान की सोचते हैं। खाना अति स्वादिष्ट होता है। आप सब को, जो भी शाहजहाँपुर जा चुके हैं और गुरुदेव के साथ खाने के आमंत्रण के कृपापात्र बन चुके हैं, यह अनुभव होगा। उनके खाने के कमरे में केवल मिट्टी का फर्श था, उस समय खाने का कमरा था ही नहीं। वह बना दिया गया था, एक कमरे को खाने के लिए परिवर्तित किया गया था। मेरे गुरुदेव मानते थे कि जहाँ हमने खाना खाया वही खाने का कमरा है, इसका उलटा नहीं। इसी प्रकार, जहाँ हम सोयें वही सोने का कमरा है, न कि मुझे सोने के कमरे में सोना है।

घटनाक्रम में यह एक उलटफेर है कि आजकल हम कुछ चीजों को कुछ स्थानों पर करने को विवश हैं, जबकि आरम्भ में वह स्थान उसके लिये इस कारण निर्धारित हुआ क्योंकि हम वहाँ वह कार्य करते थे। अब यह समझने की महत्वपूर्ण बात है, न कि ठट्ठे की बात। स्थान व उससे सम्बन्धित क्रिया को ठीक से न समझने के कारण व उसे मूर्खता की हद तक ले जाने का ही परिणाम है कि हम प्रार्थना करने की क्षमता खो बैठे हैं। क्योंकि हम सोचते हैं कि प्रार्थना केवल मन्दिर, मस्जिद या गिरजाघर में ही की जा सकती है। इस कारण हम घर में, दफ्तर में या गुसलखाने में, कहीं भी प्रार्थना नहीं कर सकते। गुसलखाने में क्या खराबी है कि हमें वहाँ प्रार्थना नहीं करनी चाहिए? क्या ईश्वर वहाँ नहीं है?

तो आप देखते हैं कि स्थान को कार्य से जोड़कर कि खाना रसोईघर में ही बनना चाहिए, मेहमानों का बैठक में ही स्वागत करना चाहिये - इस रीति ने जीवन को टुकड़ों में बाँट दिया है और हमने उसे अपने दिमाग में बैठा लिया है, कि जब तक हमारे पास मेहमान के लिये छुरी-काँटे से सजी मेज और अच्छा खाना नहीं तैयार होगा, हम उसे आमंत्रित ही नहीं करेंगे। इस कारण हमारे निमंत्रण बहुत बनावटी हो गये हैं। किसी को जब खाने की जरूरत होती है, हम उसे तब नहीं खिलाते, हम उसे तब बुलाते हैं जब हम उसे आमंत्रित करने के लिये तैयार होते हैं। मैं कभी सोचता हूँ कि पति-पत्नी के सम्बन्ध में भी यही बात आ गयी है, कि मैं प्रेम उस समय नहीं दूँगा या दूँगी जब उसको इसकी आवश्यकता है, परन्तु केवल तभी जब मैं प्रेम करने को तैयार हूँ। क्या आप नहीं सोचते कि यह एक पागलपन की स्थिति है।

अब मान लीजिये मेरे गुरुदेव कहते, "मैं तुम्हें तभी प्राणाहुति दूँगा जब मैं तैयार होऊँगा", या "मैं तुम्हें तभी मुक्ति दूँगा जब मैं ठीक समझूँगा," या उन्होंने कहा होता, "मैं केवल सन्तों से सम्बन्ध रखता

हूँ, पापियों से नहीं, क्योंकि मैं एक सन्त हूँ।'' मान लीजिये बाबूजी ने ऐसा कहा होता, तो हम कहाँ होते? आप ईसा मसीह के उस चमत्कार को जानते हैं जब उन्होंने दो रोटी और पाँच मछलियों से पूरी भीड़ को खिलाया। अब ईसा मसीह ने ऐसा कोई चमत्कार नहीं किया जो मैं या आप न कर सकें। उनमें साहस था, लोगों के प्रति प्रेम और सब से महत्वपूर्ण ईश्वर में विश्वास कि यह दो रोटी और पाँच मछली जो प्रभु ने उन्हें आज के दिन दी है उससे कोई भूखा नहीं जायेगा। यह बात नहीं थी कि उनके पेट भर गये। मेरा मतलब है कि यह सोचना कि आप दो रोटी और पाँच मछली से बहुतों को खिला सकते हैं मूर्खता है। परन्तु एक चमत्कारिक रूप में प्रत्येक टुकड़ा जो उन्होंने तोड़ कर दिया उससे उनकी भूख मिट गयी और पेट भर गया। तो दो चीजों का होना जरूरी है, लोगों के प्रति प्रेम, और ईश्वर के प्रति विश्वास, मेरे लिये, मेरे गुरु में विश्वास , कि उन पर निर्भर हो कर मैं तुम्हें कुछ भी दूँ वह तुम्हारी तत्कालीन आवश्यकता को पूरा करेगा, चाहे वह पत्थर का टुकड़ा ही क्यों न हो।

इसी के समान भगवान कृष्ण की एक कहानी है जहाँ वे अपनी प्रेयसी या ऐसे ही किसी के घर में हैं और वहाँ अनेक ऋषिगण अर्थात् महान आध्यात्मिक व्यक्ति आ जाते हैं। अब उन्होंने और उनकी प्रेयसी ने खाना समाप्त कर लिया है, सब बरतन साफ कर यथास्थान रखे जा चुके हैं। उनमें सब से बड़े ऋषि अपने क्रोध के कारण प्रसिद्ध थे। उनका नाम दुर्वासा था। वह आशीर्वाद के लिये नहीं वरन् अपने शाप के लिए विख्यात थे। अब यह बेचारी कन्या, कृष्ण की प्रेयसी दुःखी थी कि ''क्या करें? मेरे पास खाने को कुछ भी नहीं है, उन्हें देने को कुछ भी नहीं है।'' कृष्ण कहते हैं'', चिन्ता मत करो, जिस बर्तन में खाना पकाया था वह मुझे दिखाओ।'' सौभाग्यवश उस युग में कोई धोने की मशीन नहीं होती थी, नहीं तो सब कुछ बिल्कुल साफ हो जाता। जब कृष्ण ने बर्तन देखा तो उसमें उन्हें एक पका हुआ चावल का दाना मिला, अकेला एक दाना एक बर्तन में उन्होंने उसे लेकर खा लिया। फिर उन्होंने ऋषियों को बुलाकर पूछा, ''कुछ भोजन ग्रहण करेंगे?'' अब चमत्कार यह हुआ कि जब कृष्ण ने एक दाना चावल खाया तो सब के पेट भर गये। वे शर्मिन्दा हो गये। भगवान स्वयं उन्हें खाने के लिये बुला रहे हैं और वे खा नहीं सकते। उन्हें उनसे क्षमा माँगनी पड़ी, ''भगवन् क्षमा कीजिये आज भूख नहीं है।'' इस प्रकार उन्होंने अपनी प्रेयसी को बचाया।

यही गुरुदेव को प्रसाद चढ़ाने का भी रहस्य है। जब गुरुदेव उसमें से कुछ ग्रहण करते हैं तो उसका एक छोटा सा टुकड़ा भी हमें शारीरिक व आध्यात्मिक, प्रत्येक रूप से संतुष्ट कर देता है। यही प्रसाद का रहस्य है। इसी कारण प्रसाद मुट्ठी भर नहीं खाना चाहिये। गीता कहती है कि भक्ति से ग्रहण किया हुआ प्रसाद हमारे शरीर से सब रोग व दुःख को मिटा देता है। इस कारण नहीं कि वह अच्छा बना है या चीनी पाकशास्त्र के नुस्खे से बना है, परन्तु इसलिये कि उसे पूर्ण भक्त ने पूर्ण प्रेम व आस्था के साथ चढ़ाया है और उसे स्वीकार कर के प्रभु ने उसे धन्य कर दिया है। जब 'वे' कृपा करते हैं, उनकी आत्मा उसमें प्रसारित होती है, इसलिये वह प्रसाद बन जाता है, चाहे वह चाकलेट हो, बिस्कुट हो, कुछ भी हो।

इसी प्रकार जब हमें बोलना होता है तो क्या कठिनाई है? मुझे यह समझ में नहीं आता। कठिनाई यही है कि श्रोताओं के मन को किस प्रकार प्रभावित करें कि मैं अच्छा वक्ता हूँ, मैंने कुछ आश्चर्यजनक कहा है, ताकि अगली बार वह कहे, "आप अवश्य बोलें।" इस सब के बारे में सोचते हुए हमें बोलने के विषय पर विचार करने का समय ही नहीं मिलता। यह उसी प्रकार है जैसे पत्नी, रसोई में खाने के विषय में न सोच कर प्लेट-प्यालों और छुरी-काँटों के बारे में सोचती है और बेवकूफी में कल्पना करती है कि मेहमान स्टेनलेस स्टील और चीनी मिट्टी के बर्तनों से प्रभावित हो जायेंगे।

सब से रद्दी खाना मैंने सबसे सुन्दर मेजों पर ही खाया है। जिस व्यक्ति या गृहिणी ने आमंत्रित किया था, उसका दोष इसमें नहीं था। यह इस कारण था कि उनके हृदय भी काँच व स्टील की भाँति कड़े हो गये थे। और मजे की बात यह थी कि उनमें से कुछ मुझे बगदाद के खजूर, मोरेको के अंजीर जैसी चीजें देते। उसमें कोई स्वाद नहीं। एक बार मैंने अपने गुरुदेव से पूछा, "वह क्या है जो खाने को स्वाद प्रदान करता है?" क्योंकि जब हम उनके घर में खाते थे खाना अति साधारण होता। गेहूँ की रोटी, आग पर उसी समय सेंकी हुई, थोड़े नमक के साथ उबाली कोई दाल, सब्जियाँ नाम मात्र, शोरवे में एक छोटा आलू का टुकड़ा। यद्यपि आप वास्तव में जानते कि जो आप खा रहे हैं उसमें कोई खनिज, लवण, विटामिन नहीं, फिर भी वह दिव्य था। वह इतना दिव्य था कि हम सदैव उसकी कामना करते, उस भोजन को सदैव पाने के इच्छुक रहते थे। वही भोजन दिन प्रतिदिन सुबह शाम फिर भी हमें नहीं लगता कि हम वही चीज खा रहे हैं।

वह करीब-करीब बेस्वाद था परन्तु हम खाकर प्रसन्न होते थे। क्यों? क्योंकि वह एक दिव्य स्रोत से आया था।

आजकल हम देखते हैं कि पढ़ने के कमरे में बड़े सजावटी डेस्क व मेज होते हैं, रोशनी के उपकरण होते हैं। बहुत कीमती डेनमार्क का फर्नीचर, जर्मनी के चमड़े चढ़े हुए सोफे, फिनलैंड की कुर्सियाँ, सुनहरी घड़ियां और इसी प्रकार की अतीत की पीढ़ी की चीजें। परन्तु पढ़ाई कोई नहीं करता। पढ़ाई के लिए जगह कुछ ज्यादा अच्छी है। परन्तु जब आप एक छात्र थे और आपके पास एक टूटी कुर्सी थी, एक टूटी मेज थी जो जरा भी आरामदेह नहीं थी, बत्ती भी चली जाती थी और एक मोमबत्ती ही काफी होती थी कि हम पढ़ें। तब हमारी आवश्यकता क्या थी? रोशनी। हम लोगों से क्या चाहते हैं। आपके दो सौ डॉलर या पांच सौ डॉलर के सूट नहीं या महिलाओं के लिये लेनविन की आधुनिक कृतियाँ नहीं, परन्तु दिल। अब हम अपना दिल तो पीछे छोड़ आते हैं और अपने को मॉडलिंग करने वाली लड़कियों की भाँति प्रस्तुत करते हैं। और आप को मिलता क्या है? हर स्थिति में हम केवल दिल चाहते हैं।

पता नहीं उसे इसका ज्ञान है कि नहीं, अभी एन्जेला ने अति महत्वपूर्ण बात, बोलने और डायरी लिखने के विषय में कही है। मैंने हमेशा लिखने की अपेक्षा बोलना सरल पाया है। यहाँ शायद मुझे यह रहस्य नहीं खोलना चाहिये। ऐसा क्यों है? क्योंकि जब हम बोलते हैं तो सुनने वाला सुनता है, उसमें से कुछ सुनते भी नहीं, और बहुतेरे इस कान से सुन कर उस कान से निकाल देते हैं और चले जाते हैं। आप विश्वास के साथ कह सकते हैं कि आप बड़े से बड़ा रहस्य खोल दे सकते हैं और अधिकतर इसे सुनेंगे भी नहीं। परन्तु जब हम इसे लिख देते हैं तो कोई उसे बार बार पढ़ सकता है और हम इससे डरते हैं। हम दूसरों के पढ़ने से नहीं डरते, परन्तु कुछ वर्षों बाद अपने आप पढ़कर चौंकने से डरते हैं। "यह मैं तीन वर्ष पूर्व था।" अब मैं तीन वर्ष पूर्व क्या था इसमें चौंकने की क्या बात है, मेरी समझ में नहीं आता। मैं क्या था उस पर मुझे लज्ञा या चिन्ता क्यों, जब कि आज जो मैं हूँ उस पर मुझे कोई चिन्ता व भय नहीं? निश्चय ही यह जानना कि मैं क्या हूँ अधिक महत्वपूर्ण है, न कि मैं क्या था। यही भय हमारी वार्ताओं में प्रकट होता है, क्योंकि अगर हम दिमाग से बोलें तो हम दूसरों से उतनी ही आसानी से झूठ बोल सकते हैं जितनी अपने साथ बोलते हैं। उससे कुछ मिलता नहीं। लेकिन अगर आप दिल से बोलना चाहें तो दिल सच ही कहेगा। और वह हम

बताना नहीं चाहते। बाकी सब भूल जायें। हम स्वयं को भी सत्य नहीं बताना चाहते। "मैं यह हूँ," मैं स्वयं नहीं जानना चाहता।

यह सच बात है कि जब तक मैं सत्य को, उसकी भयानकता को, उसके धक्के को स्वयं स्वीकार करने को तैयार नहीं होता, तब तक मैं सत्य बोल ही नहीं सकता। यह उस स्त्री की तरह है जो इस भय से शीशा नहीं देखना चाहती कि पता नहीं वह क्या दिखायेगा। कुछ लोग तो अपनी कुण्ठा में शीशा तोड़ने की हद तक पहुँच जाते हैं। बेचारे शीशे का क्या कसूर? वह तो वही दिखाता है जो आप हैं। तो अगर आप इसे बदलना चाहें तो शीशे को न तोड़ कर अपनी सूरत को बदलिये। उस से भी बेहतर होगा शीशे को बचाये रखकर अपने दिल को बदलिये। तब आपको पता चलेगा कि आपके चेहरे पर कितनी सुन्दरता आती है, आपके बनाव-श्रृंगार के कारण नहीं बल्कि उस दिव्य उपस्थिति के कारण जो आपके भीतर से चमक रही है। यही रहस्य है।

तो जब तक हम अपने प्रति खुलते नहीं, अपने साथ सत्यवादी नहीं होते, हम नहीं बोल सकते। मैं राजनैतिक भाषण या अध्यापकों के भाषण के विषय में बात नहीं कर रहा हूँ जो वे स्कूल या कालेज में देते हैं। वह केवल रट लेते हैं और उन्हें पुनः उगल देते हैं। परन्तु अगर आप दिल से बोलना चाहते हैं, तो उसके लिये अत्यधिक साहस की आवश्यकता है। आवश्यकता है, यह कहने के साहस की, "मैं यह हूँ, और इसे कौन जानता है मुझे इसकी परवाह नहीं।" क्योंकि अपने लिये लज्जित किसे होना चाहिये? अपने आप को।

मान लीजिये एक स्त्री सुन्दर ढंग से तैयार होती है और सब कहते हैं कि वह सुन्दर लग रही है, केवल उसे छोड़कर जिससे वह सुनना चाहती है, तो उसका क्या लाभ? वह एक बनावटी मुस्कान के साथ पार्टी में घूमती है, परन्तु उसका हृदय रो रहा होता है। फिर वह अपने कमरे में जाकर उन वस्त्रों को उतार फेंकती है जिसे उसने अपने प्रेमी के लिये पहना था, जिसने उन्हें देखा भी नहीं। वह किसी और की सोच रहा था। और वह उस सुन्दर पोशाक को, जिसकी परिकल्पना के लिये शायद उसने तीन हजार रुपये या तीस हजार रुपये दिये थे, निराशा में फाड़ डालती है, फेंक देती है और बिस्तर पर गिर कर फूट पड़ती है। अब सर्वप्रथम, उसने वह पोशाक क्यों पहनी, खुशबू क्यों लगायी, सुन्दर क्यों बनी? इसलिये नहीं कि दर्पण उसकी सुन्दरता का प्रतिबिम्ब दिखाये या पार्टी में और लोग उसे सुन्दर कहें। उसके प्रेमी की प्रेम भरी एक नजर उसके लिये पर्याप्त होती पर वह उसे नहीं

मिली, और उसकी पूरी शाम नष्ट हो गयी। अगर उसने अपने शरीर के स्थान पर अपने हृदय को तैयार किया होता तो शायद उसके प्रेमी ने इसे पहचान लिया होता। तो, जो गलती उसने की, वही हम भी करते हैं। हम भी प्रेमास्पद के पास बनावटी श्रृंगार के साथ जाते हैं, बाल संवारे हुए, होठों व गालों में लाली लगाकर, तो क्या होता है? प्रेमी उसे बाँहों में लेना चाहता है, पर वह कहती है, "मेरे बाल मत छुओ, मेरे गाल मत छुओ, मेरे पास मत आओ, मेरे बाल बिगड़ जायेंगे, मेरे कपड़े खराब हो जायेंगे।" और वह कहता है, "मैं एक शीशे के खाने में बन्द फैशन की प्रतिमा का क्या करूँगा? मैं तो तुम्हारे हृदय के लिये आया था और मुझे एक पुतला मिला।"

अब चाहे आप अपने अतिथियों या अपने पति के लिये भोजन तैयार कर रही हों या अपने आप को अपने प्रेमास्पद के लिये तैयार कर रहे हों, और सब से महत्वपूर्ण, जब आप अपने को परमात्मा के लिये तैयार कर रहे हों, तो हृदय पर ही सारा ध्यान केन्द्रित होना चाहिये। बाकी सब महत्वहीन है। शरीर केवल हृदय का कवच है, जिस प्रकार फल बीज को ढक लेता है कि उसकी सुरक्षा हो सके पर उसे छिपाता नहीं। यह उस पैसे की भाँति नहीं होना चाहिये जिसे हम बैंक के तहखाने में बन्द कर देते हैं और वह किसी और के काम नहीं आ पाता। अब इनमें से किसी भी परिस्थिति में अगर आप दिल की ओर देखें और उसे तैयार करें, तो आपको मालूम होगा कि जीवन आनन्दमय हो जाता है, और फिर कोई समस्या नहीं रहती। आप चाहे जितने भी निर्धन हों, एक सफल मेजबान बन सकते हैं, क्योंकि जो आप से मिलने आता है अगर आप उसे दो दाने मूंगफली के भी दे दें, तो वह प्रसन्न हो जाता है। आप ईश्वर के पास अपने फटे-पुराने कपड़ों में, परन्तु दिल के साथ जाते हैं और वह आपको अपने प्रेमी के रूप में स्वीकार करता है। तो इस रहस्य की हमको पुनः खोज करनी है, और इसको पाना हमारे दिव्य गुरुदेव ने सरल और सम्भव बना दिया है। इसी कारण सहज मार्ग का ध्यान हृदय पर होता है। इसी कारण सहज मार्ग पद्धति में सफाई हृदय की करते हैं। इसी कारण हम दिव्य प्रकाश को हृदय में धारण करते हैं, और वहीं हृदय में परिवर्तन होता है। और जब यह तैयारी हो जाती है तब हम मालिक की दुलहन बन जाते हैं। हमें साटन की पोशाक, हीरों के हार या नीलम की अंगूठियों आदि की आवश्यकता नहीं होती, सब कुछ भूल जाता है। क्योंकि वे केवल भक्त का हृदय देखते हैं और कुछ नहीं।

तो हम चाहे लोगों के सम्मुख बोलने जा रहे हों, या गुरुदेव के लिये खाना पकाने, या केवल उनके पास प्रेम से जा रहे हों, सब दिल से करें। अपनी बुद्धि को घर पर छोड़ दें। इसे मत भूलिये। बुद्धि को पीछे छोड़कर दिल को ले जायें तो जीवन आनन्दमय, फलदायक और परिवर्तनमय हो जायेगा।

धन्यवाद

समर्पण के साथ स्वतन्त्रता

१५ सितंबर १९८७, प्रातः

मुझे नहीं मालूम कि ऐतिहासिक तौर पर कोई मार्था और मेरी थीं कि नहीं, पर हमारी हिन्दू गाथाओं में भी ऐसी कहानियाँ हैं। ईश्वर के दो पत्नियाँ थी : एक का भौतिकता की ओर झुकाव था और दूसरी का आध्यात्मिकता की ओर। उन्हें श्रीदेवी व भूमादेवी कहा जाता था। मेरे विचार में यह केवल प्रतीकात्मक है, एक सेवा की राह दिखाती है और दूसरी भक्ति की। मेरा विश्वास है कि हम एक के लिये दूसरे को नहीं छोड़ सकते। क्योंकि जब हम भक्त हैं तो हमें अवश्य सेवा करनी चाहिये, और यदि हम सेवा करें तो वह भक्ति के साथ होनी चाहिये। शायद यह सब कहानियाँ दो चरम सीमाओं की ओर ध्यान आकृष्ट करती हैं, और यह हमारी व्यक्तिगत बुद्धि पर छोड़ देती हैं कि हम इन दो प्रवृत्तियों का सामञ्जस्य कैसे करें, उन्हें कैसे एक दूसरे में मिला दें कि एक ही व्यक्ति में दोनों की क्षमता हो।

मेरे विचार में यह सब मेरे गुरुदेव का जीवन देखने पर दिखाई देता है। मेरे विचार में वह अपने गुरु के प्रति भक्ति की पराकाष्ठा पर थे, परन्तु उसने उन्हें मानवता की सेवा की ओर पूर्णतया अभिमुख होने से नहीं रोका। तो उनमें हम यह मिलन पाते हैं, पूर्ण भक्ति तथा सेवा के प्रति पूर्ण समर्पण का। जो अन्तर मैं पाता हूँ केवल इतना है कि मार्था व मेरी दोनों ही ईसा मसीह के प्रति समर्पित हैं, एक उनकी भक्त है और दूसरी उनकी सेवा करती है। किंतु जब हम इन दोनों प्रवृत्तियों को एक में मिलाने में सफल हो जाते हैं, तब भक्ति का रुख ऊँचाई की ओर होता है और सेवा का रुख नीचे की ओर जिनको उसकी आवश्यकता है। परतु यह वास्तव में अन्तर नहीं है क्योंकि चाहे वह मानवता की सेवा करता है पर असल में वह अपने गुरु की सेवा करता है।

जब यह मिलन होता है तो गुरु के प्रति भक्ति हमें उनके भक्तों की सेवा की ओर प्रेरित करती है। गुरु की सेवा करना तो ठीक है, परन्तु अगर गुरु चाहे कि आप उसके भक्तों की सेवा करें, तो हमारी भक्ति में यह क्षमता होनी चाहिये, क्योंकि यह कहना अति सरल है कि "मैं केवल गुरुदेव की सेवा करूँगा, और किसी की नहीं। ऐसा तो हर

एक कुत्ता करता है, पर हमें उससे कुछ अधिक बनना है। इसलिये जो गुरुदेव का भक्त है, उदाहरणार्थ मेरी, उसे मार्था बनने के लिये तैयार रहना चाहिये और गुरुदेव को छोड़कर, दूर जाकर, उनकी सेवा करते हुए जिनकी सेवा वह करवाना चाहते हैं, अपने गुरुदेव की सेवा करनी चाहिये। नहीं तो हम मेरी की भाँति गुरुदेव के चरणों में बैठे रहेंगे या मार्था की भाँति रसोई में बैठे होंगे। यहाँ हमें मानसिक रूप में गुरुदेव के पास रहना है चाहे शारीरिक रूप में उनसे बहुत दूर हों और फिर भी इन दोनों प्रवृत्तियों का मिलन कर लें। अर्थात् सतत स्मरण द्वारा हम सदैव उनके पास रहते हैं, और अपने गुरुदेव के निर्देशानुसार हम उनकी सेवा करते हैं जिनकी सेवा वह चाहते हैं। इस प्रकार हम गुरुदेव की सेवा करने में सफल हो जाते हैं चाहे दूरी व समय में हम उनसे बहुत अलग हों।

तो मार्था व मेरी के बारे में मेरी यही समझ है। मूल रूप में हमें दोनों का मेल करना है। अब मार्था व मेरी ही क्यों, मार्क व ल्यूक क्यों नहीं? क्योंकि इन कहानियों में हम देखते हैं कि हर जगह नारी सिद्धान्त ही प्रमुख है न कि नर सिद्धान्त। क्या किसी के पास इस विषय पर सुझाव है? मेरे विचार में नारी हृदय ही सेवा और भक्ति दोनों की क्षमता रखता है। इसी कारण इन सभी कहानियों में हम देखते हैं कि इन दोनों का निरूपण हमेशा स्त्रियों द्वारा हुआ है। यह हमें संकेत देता है कि पुरुषों को सफलता पानी है तो अपना अहंकार , अभिमान और अहम् को खोकर अपने अन्दर इन कोमल भावनाओं और उत्कृष्ट गुणों को जन्म देना होगा। मैं पहले भी कह चुका हूँ कि एक पुरुष के लिये उसका पुरुषत्व ही समस्या है क्योंकि यह उसे प्रभुत्व, प्रमुखता, अभिमान, अहंकार और विजेता होने की आकांक्षा की ओर ले जाता है। यह प्रवृत्ति आध्यात्मिक जीवन के लिये उपयुक्त नहीं है। नारी अपने प्रेम, या प्रेम की क्षमता वाले हृदय के कारण विनम्र होती है। पुरुष में अगर प्रेम की क्षमता हो भी, जिसका मुझे सन्देह है, पर मान लें कि प्रेम है - अगर वह जरा भी है तो वह अधिकार जमाने वाला, घमंडी, स्वार्थी और विजयोन्मुखी होता है। यही पुरुषों की प्रेम कहानियों में मिलता है, एक के बाद एक विजय न कि एक प्रेम के बाद प्रेम। किंतु नारी के लिये यह आज्ञाकारिता का विचार, उसके फलस्वरूप सेवा और प्रेम की क्षमता, यह मेल आध्यात्मिक जीवन की सक्षम नींव का निर्माण करता है।

मैं समझता हूँ कि इसी कारण हमारे सत्संग में इतनी महिलायें अभ्यासी हैं। हर जगह उनकी गिनती पुरुषों से अधिक है। फिर प्रश्न

उठता है कि अन्त में उनमें से इतनी कम ही क्यों सफल हो पाती हैं? अगर आप बुरा न मानें तो मैं कहूँगा, क्योंकि मूर्खतापूर्वक वह इस प्रेम व विनम्रता को अपने पुरुषों के लिये सीमित रखती है। मेरा पति, मेरे बच्चे। इस महान क्षमता को जिसके साथ उनका जन्म होता है उसे एक उच्च आध्यात्मिक जीवन की अभिलाषा और उत्कंठा में लगाने के बजाय, यहीं एक सांसारिक स्तर पर रखती है और इसी कारण सफल नहीं हो पाती। मैं यह नहीं कहूँगा कि वे असफल रहती हैं, परन्तु सफल नहीं हो पातीं। इसी कारण महिला सन्तों की संख्या इतनी कम है। इच्छा व लगन पैदा हो जाने पर किसी रहस्यात्मक ढंग से पुरुष फिर भी इस कमी पर विजय पाकर अपने हृदय में प्रेम पैदा कर के विनम्र हो जाता है। मेरे विचार में यहाँ प्रकृति ने कुछ चालाकी की है, क्योंकि इस तथ्य के कारण कि उसे परिवार के साथ कभी वास्तव में आसक्ति नहीं होती, जब बुलावा आता है तो वह सब कुछ छोड़ सकता है। उसकी कमियाँ ही गुण बन जाते हैं। परन्तु एक स्त्री के गुण ही उसकी कमियाँ प्रतीत होती हैं क्योंकि वह इस स्तर से उठ नहीं पाती।

तो यह मार्था-मेरी का प्रसंग हमें बहुत कुछ सिखा सकता है। हमें तत्वरूप में नारीमय बनना है, परन्तु पुरुषोचित क्षमतायें विकसित करनी हैं जो हमें यह कहने की क्षमता दें, "बहुत हो गया यह पारिवारिक जीवन, अब बुलावा आ गया है। मुझे इसका पालन करना है।" तो मूलतः यह पुरुष के स्त्रियोचित बनने का या किसी प्रकार पुरुषोचित शक्तियों जैसे साहस, वीरता, कठिनाइयों का सामना करने की क्षमता को खोये बिना नारी के गुणों, जैसे प्रेम करना, आत्मसमर्पण करने की क्षमता विकसित करने का प्रश्न है। और नारी को किसी प्रकार कुछ हद तक पुरुषोचित बनना सीखना है। उसे अपने प्रेम व समर्पण की क्षमता को बनाये रखना है, साथ ही जीवन को साहस और विश्वास के साथ मुकाबला करके आगे बढ़ना सीखना है। मेरे विचार में तब मानवता के दो आधे सन्तुलित हो जायेंगे। पुरुषों को नारियों से सन्तुलित कर के नहीं, परन्तु प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर वह सन्तुलन बना कर।

शायद रामकृष्ण परमहंस का यही रहस्य है। परम्परा कहती है कि वह कुछ वर्षों तक स्त्री बनकर पूरा समय स्त्रियों के साथ रहे, स्त्रियों की तरह कपड़े पहनना, खाना बनाना, नदी से पानी लाना - एक भारतीय स्त्री का जीवन। क्योंकि जब तक आप उसी की भाँति न रहें आपको कैसे पता चलेगा कि वे कैसे रहती हैं। इसी कारण ये सब शोध कार्य असफल रहते हैं, क्योंकि हम उसको बाहर से अध्ययन करते हैं। यह तो एक पिंजरे में बन्द शेर को देखकर अध्ययन करने के

तुल्य हैं। आप शेर के बारे में ऐसे क्या जान सकते हैं? अगर आप सचमुच कुछ जानना चाहते हैं तो आपको जंगल में जाकर शेर के साथ रहना पड़ेगा। इसी कारण कितने ही सन्तों ने जीवन के विभिन्न तरीकों को अपनाया और उस अस्तित्व के सार को जाना और अपनाया। कहा जाता है कि रामकृष्ण परमहंस में यह पुरुष व नारी तत्व पूर्ण रूप से सन्तुलित था। विश्वास के साथ साहस, स्वतंत्रता के साथ समर्पण, वह चीजें जो पाश्चात्य मन के लिये समझ पाना कठिन है। स्वतंत्रता के साथ समर्पण के भ्रम को कैसे समझाया जाये? पश्चिम का एक सामान्य व्यक्ति कहेगा "बेकार की बात मत करो, दोनों का मेल नहीं हो सकता।" यही बात साहस के साथ समर्पण की है। यह तो ऐसा कहने जैसा है कि एक शेर भेंड़ हो जाये। परन्तु ईसाई परम्परा भी भेंड़ के विषय में कहती है - ईश्वर की भेंड़। और मेरे गुरुदेव ने कहा है कि हमें ईश्वर के पालतू जानवर बनना है। उन्हें भेंड़ नहीं चाहिये थी, बल्कि वह शेर चाहते थे जिसमें भेड़ के आन्तरिक गुण हों। तो हम जो सोचते हैं, आध्यात्मिकता उससे कहीं अधिक है।

आध्यात्मिक जीवन के प्रति हमारी प्रवृत्ति और प्रयास इतना हलका और सरसरी तौर पर होता है कि वह हमें थोड़ी दूर तक ले जा सकता है, उसके आगे नहीं। उस बिन्दु तक तो हमारी प्रगति तीव्रता से होती है परन्तु उसके बाद कुछ ठहराव सा लगता है। हमारे गुरुदेव की कृपा है कि वे हमें आगे ढकेलते जाते हैं परन्तु अगर हम भी उस प्रगति में भाग ले सकें तो वह अधिक आनन्ददायी होगा।

इसी कारण हमारे सत्संग में यह समस्या आती है कि महिलायें आकर कहती हैं, "मेरा पति मेरे ध्यान करने के विरुद्ध है।" मैं सोचता हूँ कि करीब हर शादीशुदा महिला की यह समस्या होगी, और यही समस्या पुरुषों को अपनी पत्नियों से लगती है। ऐसा क्यों? बाबूजी ने इसे बहुत सरल ढंग से समझाया। उन्होंने कहा कि अगर पति ध्यान करता है, तो पत्नी को भय रहता है कि कहीं वह सन्त बनकर उसे छोड़ कर चला न जाये। और अगर पत्नी ध्यान करती है तो पति को यही भय रहता है : "इसकी रुचि मुझ में समाप्त हो जाएगी, भौतिक जीवन में समाप्त हो जायेगी और तब मैं क्या करूँगा?" सो दोनों को ही भय त्रस्त करता है। जब मैंने बाबूजी से पूछा, "इसका समाधान क्या है?" तो उन्होंने कहा "दोनों को इकट्ठे ध्यान के लिये आना चाहिये।" अगर वह एक दूसरे से प्रेम करते हैं तो किसी भी प्रकार ऐसा करना होगा। अगर पति ध्यान करता है तो पत्नी को यह स्वीकार करने के लिये तैयार होना चाहिये। यह कहने से क्या लाभ, "मैं

अपने पति से सब कुछ स्वीकार करूँगी पर ध्यान नहीं।" यह समझ में नहीं आता। इसी प्रकार, अगर पति अपनी पत्नी को प्यार करता है और उसका सब कुछ स्वीकार करने को तैयार है, तो ध्यान भी क्यों नहीं, कम से कम प्रयत्न तो करे ।

समस्या सदैव इसलिये खड़ी होती है क्योंकि हम प्रयत्न नहीं करते। विशेषकर पश्चिम में। अगर स्त्री अपने पति को ध्यान के लिये ले जाने का प्रयत्न करे तो उसे डर रहता है कि ज्यादा जोर लगाने पर वह कहीं उसे छोड़ कर किसी और के पास न चला जाये। अगर हम अपने आध्यात्मिक जीवन को गम्भीरता से लेते हैं और हमारा लक्ष्य आध्यात्मिकता के अतिरिक्त कुछ नहीं है, तो इस डर को जाना होगा। अगर ऐसा समय आ जाय जब हमें अकेले चलना पड़े, तो हमें अकेले ही चलना होगा;और कोई विकल्प नहीं है। तो आप अपने साथी को साथ लेकर चलें, नहीं तो अकेले चलने के लिये तैयार हों। इसका सामना करना या विचार करना सरल नहीं है। यह निर्णय इस बात पर निर्भर करता है कि जो हम करने जा रहे हैं उसमें हमारा लक्ष्य आध्यात्मिकता है या मानवीय सामञ्जस्य व मानवीय परितृप्ति। जो इस जीवन रूपी तालाब में प्रसन्न हैं, वह आध्यात्मिकता को त्याग देते हैं। और जिन्हें वह चाहिये होता है वे इस जीवन रूपी भँवर से बाहर निकल आते हैं और फिर उन्हें मालूम पड़ता है कि उसमें कुछ भी नहीं था।

जब हम यह निर्णय लेते हैं, तो उसमें हमारा साहस व विश्वास काम आता है, और प्रकृति यह देखती है कि हम घाटे में न रहें। घाटे की बात केवल हमारे मन में है। यह भय ही है जो हमारे अन्दर यह खोने या वह खोने का भय पैदा करता है। वास्तव में खोने का कुछ है ही नहीं। अगर हमारे भाग्य में पचास वर्ष और जीना लिखा हो, तब भी अन्त में तो वह हमसे छूटने वाला ही है। आज पाश्चात्य समाज में क्या गारंटी है कि आपके पति इन पचास वर्षों में आपके साथ रहेंगे? क्योंकि मैंने पचीस वर्ष के वैवाहिक जीवन के पश्चात् भी जोड़ों को तलाक लेते हुए देखा है। अब अगर शादी के एक-दो वर्ष के बाद तलाक लें तो फिर भी कुछ औचित्य हो सकता है। शायद कुछ गलती हो, परन्तु पचीस वर्ष के बाद? इसका कुछ अर्थ नहीं निकलता। इसका अर्थ केवल यही है कि जीवन अनिश्चित है। वर्षों की गिनती इस बात की कोई गारन्टी नहीं है कि आप सदा इकट्ठे रहेंगे।

हर हालत में अन्त में तो मृत्यु अपनी कैंची लेकर आती ही है। तब आप क्या करेंगे? किंतु यदि आप उस परम सत्ता के साथ सम्बन्ध जोड़ने का प्रयास करते हैं, तो वह प्रेम का सम्बन्ध है, साहस का सम्बन्ध है, विश्वास का सम्बन्ध है, वह एक शाश्वत सम्बन्ध है जो मृत्यु भी नहीं काट सकती। तो हमें चुनाव करना है: मार्था तथा मेरी का अपने अन्दर महान संयोजन करके एक नये व्यक्ति को जन्म देना है। अपने में पुरुष व नारी-तत्व का सन्तुलन करना है, ताकि अगर हम पुरुष हैं तो हमारे अन्दर नारी का वह प्रेम व सहृदयता हो और भक्ति व सेवा की क्षमता हो और अगर हम नारी हैं तो अपने अन्दर भक्ति व सेवा की क्षमता को कायम रखते हुए साहस व विश्वास की क्षमता का विकास करें। और दोनों ही मामलों में समय और दूरी अलग रहते हुए भी सदैव गुरुदेव के साथ रहने को तत्पर रहें। यही आध्यात्मिकता है।

मैं आशा करता हूँ कि गुरुदेव आपको आवश्यक निर्णय लेने का और हिम्मत व विश्वास के साथ उस लक्ष्य तक पहुँचने का साहस देंगे। यह कठिन लगता है, जैसे कि एक बालक हाथ में एक खिलौना लिये और सब खिलौनों की ओर देखते हुए खिलौनों की दुकान के बाहर जाता है, उसे यह ज्ञात नहीं है कि यह खिलौने उसके नहीं हैं। इसी प्रकार जीवन में हम भी यही सोचते हैं कि सब कुछ हमारा है --- हमारे घर, तालाब, बगीचे --- यह बिना समझे कि हम एक किरायेदार की भाँति हैं और एक दिन हमें यह सब छोड़ कर जाना पड़ेगा। तो आध्यात्मिकता केवल यह कहती है,"याद रखो कि तुम इस घर में ही नहीं, इस शरीर में भी एक किरायेदार ही हो। इसको छोड़ने के पहले अपना अगला ठिकाना तैयार कर लो, नहीं तो तुम बिना घर के व्यक्ति हो जाओगे, जिसके पास कहीं जाने को नहीं है!"जीवन की समाप्ति के पश्चात् का यह भयंकर सत्य है। इसलिये आध्यात्मिकता कहती है, "मेरे मित्र, पहले अपने आगामी घर की तलाश करो, और शीघ्र करो, क्योंकि हमारे पास कोई लिखा हुआ अनुबन्ध नहीं है, और कोई नहीं कह सकता कि तुम्हें यह घर कब खाली करना पड़े।" तो स्काउट की भाँति : "तैयार रहो।"

धन्यवाद।

गुरुदेव को देखना

१५ सितम्बर, १९८७, सायंकाल

बहुत लोग बाबूजी से यह प्रश्न पूछा करते थे, "कुछ लोग आपके पास बीमारी ठीक करवाने आते हैं या अन्य किसी पारिवारिक समस्या के समाधान के लिये आते हैं, और आप उन्हें स्वीकार करते हैं। क्या उनके लिये यह हितकर होगा? "बाबूजी कहते थे,"वह मेरे पास किस लिये आते हैं इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। एक बार आने के बाद यदि पर्याप्त समय तक रुकते हैं तो वे आध्यात्मिक राह पर भी आ जायेंगे, इसलिये यह अच्छा है।" आप देखें, ऐसे लोगों को लाने में कोई हानि नहीं है। आखिरकार एक पति जो पहाड़ पर नहीं जाना चाहता, उसे उसमें मजा नहीं आता, वह शायद समुद्र तट पर जाना पसन्द करता, हम उसे पहाड़ पर ले जाने में सफल हो जाते हैं। मेरे विचार में शायद ही कोई जोड़ा ऐसे स्थान पर जाता होगा जो दोनों को पसन्द है। हमेशा समझौता ही होता है। तो यहाँ भी समझौता क्यों नहीं? जैसा कि आइरिन ने स्वयं कहा वह अपने पति के साथ आई थी, बिना जाने कि वह क्यों जा रही है, परन्तु अब वह जानती है कि यह अच्छा है। इसलिये जब आप किसी अच्छी चीज में जाते हों, यह जाना आवश्यक नहीं कि आप क्यों जा रहे हैं। इसलिये जब आपको विश्वास हो कि यह उनके लिये अच्छा है तो अपने परिवार को – न केवल पति या पत्नी, परन्तु बेटा-बेटी को भी – प्यार से इस ओर ले आने के लिये मनाने में हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिये। आप उनका भला कर रहे हैं, तो हिचकिचाहट क्यों? आप देखते हैं कि अब बच्चे आ रहे हैं, और वे बारह, तेरह, चौदह वर्ष की आयु में ध्यान आरम्भ करना चाहते हैं। हमें मना कर के उनसे कहना पड़ता है, प्रतीक्षा करो। यह सब ऐसा है क्योंकि वे माता-पिता के साथ इस पद्धति में स्वाभाविक रूप से बढ़ रहे हैं, और ऐसा ही होना चाहिये। अतएव यह अच्छा कार्य करते रहें।

गुरुदेव को देखने में दो समस्यायें हैं, शायद तीन, मुझे नहीं मालूम। पहली है कि हमें एक मानव गुरु चाहिये, जो हमारे दोषों के प्रति सहानुभूति रखता हो, और लगभग हमारे जैसा हो, जिसमें सारी मानवीय कमियाँ व कमजोरियाँ हों,परन्तु उसमें हमें ऊपर ले जाने लायक सम्पूर्ण

शक्ति हो। तो मेरे विचार में यह पहली समस्या है कि हम चाहेंगे कि गुरु मानव हो, नहीं तो हमें उसका अनुसरण करने में कठिनाई होगी। तो हम उसे मानव के रूप में ही रखना चाहते हैं। शायद यही एक कारण है कि हम गुरुदेव की और उनकी शक्ति की बात करते हैं, उन्हें और उनके गुणों को विभाजित करते हैं। मेरे अनुसार यह दोनों एक ही है। मैं गुरु के विषय में उनकी शक्ति को अलग करके सोच ही नहीं सकता। यह तो ऐसा कहने जैसा है कि आम के गुण से रहित आम है या बिना नीबू के गुण के नीबू। कोई भी वस्तु अपने गुणों के कारण ही वैसी है। तो गुरु में वे बातें कैसे नहीं होंगी जो उसमें होनी चाहिये? जब हम कृत्रिम रूप से दोनों को विभाजित करते हैं, तो हमें सामान्य मनुष्य जैसा मनुष्य ही चाहिये, और उसकी शक्तियाँ अलग से चाहिये, ताकि हम उनकी शक्तियों से भयभीत हुए बिना उनसे प्रेम कर सकें, तथा बिना उनसे प्रेम किये उनकी शक्तियों का उपयोग कर सकें, दोनों चाहिये। तो यह अलगाव हम कृत्रिम रूप से करते हैं, और यह आम बात है। जैसे एक व्यक्ति लखपति से शादी उसके पैसे के कारण करना चाहेगा न कि उस व्यक्ति के कारण। अब वहाँ यह सम्भव है क्योंकि व्यक्ति और उसका पैसा एक नहीं है, या व्यक्ति और उसका घर एक नहीं, इन्हें अलग किया जा सकता है। किन्तु गुरु और उसका गुरुतत्व, इन्हें कैसे अलग किया जा सकता है? अब हममें से अधिकतर जब गुरुदेव के पास जाते हैं, तब हम चाहते हैं कि उनका गुरुतत्व हमारे लिये कार्य करे, और हम यह भी चाहते हैं कि वह एक सामान्य मानव ही रहें, ताकि हम दोनों का सम्मिश्रण स्वीकार कर सकें। इसमें भय सम्मिलित करके हम अपनी क्षमताओं पर भी रोक लगा देते हैं, और फिर उसके लिये अनेक तार्किक कारण खोज लेते हैं; जैसे एक लड़की ने कहा बाबूजी कितने छोटे व नाजुक थे, दूसरा कहता है बाबूजी के दाढ़ी थी। यह सब बहाने हैं जो हमारा मन खोज लेता है ताकि हम जैसे के तैसे बने रह सकें।

दूसरी समस्या है कि जब हम उनके गुरुतत्व या दिव्यता को पूर्ण रूप से मान लेते हैं तो भय आता है, "जब उनका भौतिक रूप गायब हो जायेगा तब मैं क्या करूँगा?" जैसा कि बाबूजी के जाने पर हुआ। यह दूसरा कारण है कि हम उन्हें सदा मानवीय रूप में ही चाहेंगे, बिना अमूर्त गुरु की सम्भावना के। क्योंकि एक साधारण मनुष्य को स्वीकार करना असम्भव है, चाहे वह गुरु हो या नहीं, परन्तु एक अमूर्त वस्तु को स्वीकार करना और प्रेम करना, जिसने थोड़े दिनों, महीनों या कुछ वर्षों के लिये आकार लिया हो, उन बालकों की स्थिति में अपने को

रखना है जिन्हें साबुन के बुलबुले बहुत पसन्द हैं, सुन्दर, खूब रंग बिरंगे, परन्तु पता नहीं किस क्षण वे फट जायें। यह दूसरा भय है जो हमें गुरु से दूर रखता है। हम उस चीज से प्रेम करने में डरते हैं जो शायद भविष्य में हमारे पास रहे, न रहे। यह दूसरी अड़चन है।

मुझे नहीं मालूम कि कोई तीसरी बात भी है कि नहीं। सम्भव है कि हो -- अगर हम भक्ति व प्रेम के साथ उन्हें पूर्ण रूप से स्वीकार करते हैं तो हमारे स्व के दिव्य होने की सम्भावना बढ़ जाती है, किन्तु हम स्वयं को खोना नहीं चाहते। हम मानव ही बने रहना चाहते हैं,"हाथ में आई एक चिड़िया पेड़ पर बैठी दो चिड़ियों से बेहतर है।" आप देखते हैं कि इस आखिरी समस्या से पार पाना सबसे कठिन है। हम उन्हें खो दें यह दुःखदायी होगा परन्तु उतना दुःखदायी नहीं जितना कि अपने आप को खोना .... और फिर मैं क्या बनने जा रहा हूँ? क्या मैं अपने मानवीय गुणों को रख पाऊँगा? यही सब चीजें हमें मृत्यु के बाद के जीवन से सम्बन्धित साहित्य में मिलती हैं। मेरे विचार में यह सब झूठ है। जैसे कि जब तुम मृत्यु-रेखा के पार जाओगे तो तुम्हें तुम्हारी महबूबा, मृत पत्नी या मृत माँ तुम्हारा स्वागत करने के लिये प्रतीक्षा करती हुई मिलेंगी। वास्तविक जीवन में मैं इसकी कल्पना भी नहीं कर सकता। परन्तु हम इस जीवन के बाद आगामी जीवन में जाने से इतने भयभीत रहते हैं कि हम इन कल्पनाओं का निर्माण करते हैं और उनका सम्भावित भविष्य में प्रक्षेपण कर देते हैं, फिर उसके विषय में ऐसे लिखते हैं जैसे वह असली हो। और क्योंकि मानवता का एक बड़ा हिस्सा इसी भय से ग्रस्त है ऐसी पुस्तकों की लाखों प्रतियाँ बिकती हैं।

अपने गुरुदेव के साथ रहने के पश्चात् मैं इस बात की कल्पना भी नहीं कर सकता कि इस जीवन के पश्चात् आत्मा का कोई पहचानने लायक व्यक्तित्व रह जाता है। यह जानना कि यह कौन है, या सीमा के उस पार कौन आ रहा है – यह जानना उसके लिये सम्भव नहीं। इस समय मैं उन अमुक्त आत्माओं की बात कर रहा हूँ, जिनका पुनर्जन्म होना है क्योंकि मृत्यु उनसे इस जीवन की याद छीन लेती है। फिर कौन बालक है, कौन पत्नी है और कौन माँ है? और अगर आत्मा मुक्त है तो वह दीप्तिमान जगत में जाती है और हमसे कोई सम्बन्ध नहीं रखती। अगर हम इस तथ्य को सही-सही समझ लें कि मेरी मृत्यु पर कोई और मानवीय आत्मा मेरा स्वागत करने नहीं आयेगी, तब मानवता को खोने, अपने गुरुदेव को प्रेम करने, उनको समर्पण करने

के भय से ऊपर उठने की सम्भावना हो सकती है। क्योंकि उनके लिये यह सीमा है ही नहीं, वह इस सीमा के पार, जीवनों के बीच की इस सीमा के ऊपर-नीचे जितनी बार चाहें जा सकते हैं। फिर यह विश्वास पैदा होता है कि जब मेरे इस जीवन का अन्त होगा, 'वह' वास्तविक प्रियतम, किसी भावनात्मक सीमा पर मेरी प्रतीक्षा नहीं करेगा परन्तु वह मेरे पास होगा, मुझे अपने साथ ले जाने के लिये। यही सबसे बड़ा भय और सबसे बड़ा वायदा, दोनों एक साथ हैं।

तो यह तीन अत्यन्त महत्वपूर्ण कारण हैं कि हम सर्वप्रथम गुरुदेव को स्वीकार करने में असफल रहते हैं। जब तक हम इन तीनों को नहीं कर पायेंगे, हमें इस जीवन से उस जीवन में जाने में आप्रवास व सीमाशुल्क के अधिकारियों का सामना करना पड़ेगा। क्योंकि आप्रवास पूछता है, "तुम कौन हो, तुम क्या हो?" "(Douanes) "टैक्स" संस्कारों के कारण, और फिर हम उसके बाद कहाँ जायेंगे? हममें से अधिकतर को वापस आना पड़ता है, "खेद है आप सीमा पार नहीं कर सकते; अगले जीवन में आयें" तो हमें उस पार ले जाने के लिये गुरुदेव की आवश्यकता है। क्योंकि जो भी पैदा हुआ है उसकी मृत्यु भी होगी, इसलिये बिना किसी अपवाद के सब को गुरुदेव की आवश्यकता है। तो अगर आप किसी से इतना प्रेम करते हैं तो क्या आपके विचार में उसे शीघ्रातिशीघ्र गुरुदेव के पास नहीं लाना चाहिये? क्योंकि जैसा कि बाबूजी ने कहा, "मृत्यु किसी की प्रतीक्षा नहीं करती, हमें नहीं मालूम कि हमारे जीवन का कब अन्त होगा।"उनके अनुसार बुद्धिमानी की परिभाषा है, "जीवन ऐसे जियो जैसे अगले ही क्षण तुम्हारी मृत्यु होने वाली है।" परन्तु हम ऐसे जीते हैं जैसे अगले ही क्षण लखपति बनने वाले हैं या फिल्मी सितारे बनने वाले हैं और उसे व्यर्थ गवाँ देते हैं। जैसा कि बाबूजी ने कहा यह परम आवश्यक है, "गुरु को खोजो और मिल जाने पर अपने आप को उनके साथ ऐसे बाँध लो कि कभी उनसे अलग न हो पाओ।"

धन्यवाद।

अच्छी तरह से की गयी पद्धति

१७ सितम्बर, १९८७

पिछले करीब दस दिनों से मैं अपने भाई पैट्रिक फ्लौरी को यह कहते हुए सुन रहा हूँ कि ध्यान करना बहुत सरल है। यह सच है, पर मैं नहीं चाहता कि आप भी वही गलती करें जो मैंने की थी जब मैंने यह पहली बार सुना। मैंने सरल को आसान समझा। सरलता को प्राप्त करना सदा बहुत कठिन रहा है। वास्तव में महान कलाकार, संगीतज्ञ, नृत्यकार, वे सब जानते हैं कि अपनी शैली में व प्रदर्शन में सरलता लाना कितना कठिन कार्य है। तो सरल को आसान समझने के भ्रम में न रहें। यह सरल है क्योंकि वह जटिल नहीं है। इसका अर्थ है कि क्रिया सरल है जैसे पानी में दूध मिलाना, यह बहुत सरल चीज है, जैसे चलना। अब चलना सरल ही नहीं स्वाभाविक भी है, पर हम सब जानते हैं कि मानव रूप में जब हम बच्चे थे तो हमें चलना सीखना पड़ा।वह सरल था, सहज था, इसका यह अर्थ नहीं कि उसे सीखने की आवश्यकता नहीं थी। तो ध्यान भी कुछ इसी प्रकार है : वह सरल है, सहज भी है, परन्तु जब तक हमें करना न आये ध्यान करना आसान नहीं। इस बात पर जोर देना आवश्यक है, क्योंकि कई लोग आते हैं, वे सुनते हैं कि यह सरल है, और बाद में जब वे कर नहीं पाते, उन्हें आसान नहीं लगता, तब वे निराश हो जाते हैं। तो आरम्भ से ही इस सरल और आसान के भ्रम को दिमाग से हटा कर ठीक से समझना चाहिये।

अब ध्यान के साथ क्या समस्या है? समस्या यह है कि वह इतना सरल है कि गलती करना बहुत आसान है। यह चलने की भाँति है, जो इतना सरल है कि हम अक्सर ठोकर खा कर गिर पड़ते हैं, क्योंकि हम जो कर रहे हैं उस पर ध्यान नहीं देते। अब पहली महत्वपूर्ण बात है कि ध्यान पर भी ध्यान देने की आवश्यकता है। अब मेरे गुरुदेव श्री रामचन्द्रजी, जिन्हें बाबूजी महाराज के नाम से जाना जाता था, इस ओर हमें ध्यान दिलाते थे जब हम नये-नये थे। वह अक्सर कहते थे कि ध्यान इतनी सहज चीज है कि बिना जाने कि हम इसे कर रहे हैं, हम हर समय उसे करते हैं। उन्होंने ध्यान की परिभाषा दी: "किसी विषय पर लगातार सोचना।" जब मैं उनसे पहली बार मिला, उन्होंने

मुझे बताया कि अगर तुम किसी चीज के विषय में लगातार सोचते रहो तो जिस पर तुम सोच रहे हो, वास्तव में तुम उस पर ध्यान कर रहे हो।

अब समस्या यह है कि हम सब जीवन भर बिना यह जाने कि हम विभिन्न चीजों पर ध्यान कर रहे हैं, ध्यान करते चले आ रहे हैं। जब हम ध्यान की बात करते हैं तो यह सब जटिल हो जाता है क्योंकि या तो ध्यान धार्मिक रंगत ले लेता है या कोई गोपनीय रंगत, जो कि इरादा नहीं है। मेरे गुरुदेव ने सदैव कहा, "ध्यान उतना ही सहज व सरल है जितना साँस लेना।" मैंने उनसे पूछा, "फिर हमें वह सीखना क्यों पड़ता है?" उन्होंने स्पष्ट किया कि एक बालक अपनी मातृभाषा बिना सीखे हुए सहज रूप में सीखता है पर और किसी को वह सीखनी पड़ती है। परन्तु यह भी सत्य है कि जो बालक अपनी भाषा सीखते हैं वह बिरले ही उस भाषा के पंडित बन पाते हैं। आप को केवल किसानों, ट्रक ड्राइवरों तथा साधारण बस के लोगों को देखने की आवश्कता है – वह फ्रांस के हैं परन्तु फ्राँसीसी भाषा के पंडित नहीं। तो अपनी भाषा में पूर्णता हासिल करने के लिये, अपनी मातृभाषा में भी, उसे पढ़ना पड़ता है। तो इसमें यही अंतर है कि जो व्यक्ति वह भाषा बोलता है जिसमें उसका जन्म हुआ था, तो भाषा बोलने की उसकी एक सहज क्षमता होती है, बस उतनी ही जिससे जीवन का गुजारा चल जाये; परन्तु पूर्णता प्राप्त करने के लिये पढ़ाई आवश्यक है, लगन के साथ पढ़ाई, समर्पित पढ़ाई, लगातार पढ़ाई। उसी भाँति हम सब चाहे विभिन्न चीजों पर स्वाभावत: ध्यान कर रहे हैं, परन्तु जब हम उसमें पूर्णता पाना चाहते हैं तो हमें यह फिर से सिखाना पड़ता है कि इसे कैसे करें।

यह बात तो सामान्य तौर पर कही गयी है, पर अब हम एक ध्यान और दूसरे ध्यान के अन्तर पर आते हैं, क्योंकि ध्यान का अर्थ केवल किसी चीज पर लगातार विचार करना है। अब बिना जाने हम किसी चीज के विषय में लगातार विचार करते हैं, क्योंकि उस चीज ने हमारे दिमाग को घेर रखा है, क्योंकि उसे हम पाना चाहते हैं, सामान्यत: सहज ध्यान का यह प्रयत्न, बिना जाने कि हम ध्यान कर रहे हैं, केवल हमारी भौतिक कामनाओं तक सीमित रहता हे। अभी तक हम यह नहीं जान पाये कि हमें वही प्राप्त होता है जिस पर हम ध्यान करते हैं, हालाँकि वास्तव में यही होता है। हमें यह तथ्य भी अभी सीखना है कि हम जो चाहते हैं उस पर ध्यान करते हैं, और जिस पर हम ध्यान करते हैं वही हमें मिलता है। इस साधारण परन्तु

अनजाने तथ्य को, अथवा सामान्यत: अनजाने तथ्य को, रहस्यवादी भाषा में कहा गया है, "जैसा ध्यान करते हो वैसा ही बनते हो।" तो जब हम इस प्रकार की संस्था में आकर ध्यान प्रारम्भ करते हैं तो उसमें क्या अन्तर है? अन्तर केवल इसमें है कि हम क्या बनना चाहते हैं और किस पर ध्यान करने जा रहे हैं। यह नियम कि हम जिस पर ध्यान करते हैं, हमें वही प्राप्त होता है, एक अटूट नियम है। हमारी जैसी संस्था में जहाँ दिव्यता लक्ष्य है, स्पष्टत: हमारे ध्यान की वस्तु भी उस लक्ष्य के उपयुक्त होनी चाहिये।

अब यह इतना लम्बा परिचय इसलिये दिया गया है, क्योंकि बहुत लोग जो और किसी पर ध्यान करते हैं आकर पूछते हैं, "आप जो नया ध्यान सिखा रहे हैं वह हम क्यों करें?" अब प्रणाली में कुछ नया नहीं है, क्योंकि ध्यान तो ध्यान है, अन्तर इसमें है कि हम किस पर ध्यान करते हैं। यह समझना भी सरल नहीं, क्योंकि बहुत से लोग मन्त्रों पर ध्यान करते हैं, बहुत से लोग मूर्तियों पर ध्यान करते हैं, बहुत से लोग विभिन्न देवी-देवताओं पर ध्यान करते हैं। उदाहरणार्थ ईसाई ईसा मसीह पर, बौद्ध धर्म वाले बुद्ध पर, आदि-आदि। अगर हम इस पुरातन नियम का स्मरण रखें कि हम वही बन सकते हैं जिस पर ध्यान करते हैं, तो हमें अन्तर दिखायी पड़ जायेगा। जब कि प्रक्रिया वही है, वस्तु भिन्न है, लक्ष्य भिन्न है। इस कारण इतनी पद्धतियाँ हैं, और होनी चाहिये। हमारे पास अनेक भाषायें हैं, परन्तु हम हर भाषा में वही बात कहते हैं। उदाहरणार्थ मैं अनेक भाषाओं में कह सकता हूँ कि "मैं भूखा हूँ।" भाषा अलग हो सकती है, परन्तु विचार जो वह प्रकट करती है सदैव एक ही होते हैं। यहाँ बात फरक है: ध्यान की प्रक्रिया हमेशा एक ही होती है, पर लक्ष्य, जो इस पर निर्भर करता है कि हम किस पर ध्यान करते हैं, भिन्न होता है, और हम क्या बनते हैं वह भी भिन्न होता है। यह मानों साइकिल चलाने की भाँति है, चार लड़के साइकिल लेकर अलग-अलग दिशाओं में चल पड़ते हैं तो अलग-अलग जगहों पर पहुँच जाते हैं। यह मत सोचिये कि मैं इस स्पष्टीकरण को अत्यधिक सरल कर रहा हूँ, क्योंकि यह आवश्यक है। मैं देखता हूँ कि हम जहाँ भी जाते हैं ध्यान के विषय में बहुत भ्रम हैं। लोग आकर कहते हैं, "हम भी ध्यान कर रहे हैं। आप आकर मुझसे सहज मार्ग पद्धति पर ध्यान करने को क्यों कहते हैं?" अब मैं आपको यही समझाने का प्रयत्न कर रहा हूँ कि ध्यान शब्द एक ही है, प्रक्रिया एक ही है, परन्तु वह वस्तु जिस पर हम ध्यान करते हैं भिन्न है, लक्ष्य भिन्न है। इसी कारण हम सभी ध्यान कर रहे

हैं, परन्तु अलग-अलग वस्तु बन रहे हैं, अलग-अलग चीजें प्राप्त कर रहे हैं।

यह ऐसा कहने जैसा है कि "मैं खा रहा हूँ।" अब बीस लोग खा रहे हैं, पर सब अलग-अलग चीजें खा रहे हैं, कुछ अच्छी, कुछ खराब, कुछ जहरीली। इसलिये हम पर असर अलग-अलग होता है। सहज मार्ग, जैसा कि हमारी पद्धति का नाम है, उसका अर्थ है स्वाभाविक मार्ग, सरल मार्ग। इसका एक ही लक्ष्य है और वह है दिव्यता की सीमा को छूती हुई मानव दशा की पूर्णता। इसलिये ध्यान का विषय उस लक्ष्य के उपयुक्त होना चाहिये। मेरे गुरुदेव ने सदैव कहा, "अगर तुम शक्ति पर ध्यान करोगे, तो शक्तिवान् बनोगे" -- ऐसा ध्यान या योग के कई मार्गों पर होता है जहाँ ध्यान का विषय 'शक्ति' है। आप में से कई लोगों ने हिन्दू या भारतीय गाथाएँ पढ़ी होंगी और परिचित होंगे ऐसे ऋषियों से -- ऋषि नहीं बल्कि लोगों से -- जिन्होंने सैकड़ों वर्षों तक ध्यान किया और उन्हें केवल युद्ध के लिये शस्त्र या अद्भुत शक्तियाँ मिलीं। हिन्दू पौराणिक गाथाएँ ऐसी कहानियों से भरी पड़ी हैं। कोई बिरला ही इस स्तर से ऊपर दिव्यता के स्तर तक गया होगा, इस कारण नहीं कि वह उपलब्ध नहीं था, या सम्भव नहीं था, परन्तु उन्हें इसकी चाह ही नहीं थी।

अब हमारे आधुनिक जीवन में भी यही होता है। हम सब पूरे समय ध्यान कर रहे हैं। वास्तव में हम इतने मनोवेग व एकाग्रता के साथ ध्यान करते हैं कि वह आश्चर्यजनक है। हम अपने मन को एक विषय पर, एक बिन्दु पर ऐसे ला सकते हैं कि उस विषय के विशेषज्ञ हो जाते हैं। चाहे वह विज्ञान हो या मानविकी हो, धन सम्पत्ति हो या प्रेम, कुछ भी हो। किंतु यह सब भौतिक संसार तक सीमित है। ऐसे में एक अस्वाभाविक विभाजन हो जाता है, कि वहाँ हम कहते हैं कि हम किसी विषय पर विचार कर रहे हैं जब कि यहाँ हम कहते हैं कि हम ध्यान कर रहे हैं, गोकि चीज एक ही है! इस कारण यह ध्यान शब्द किसी प्रकार से धार्मिक प्रसंग तक सीमित रह गया है। जहाँ तक सहज मार्ग का सम्बन्ध है यह एक दुर्भाग्यपूर्ण भ्रम है, क्योंकि सहज मार्ग का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं। मेरे गुरुदेव कहते हैं, "यह एक सार्वभौमिक पद्धति है जिसका अभ्यास प्रत्येक मानव कर सकता है चाहे वह कहीं भी हो।" यह मन का नियमन करने के लिये मन का उपयोग करता है जब तक कि मन वह पूर्ण उपकरण न बन जाये जिस पर हमारा नियंत्रण हो। हम इसका प्रयोग ध्यान के उद्देश्य के लिये करते हैं और चूँकि इसका लक्ष्य दिव्यता प्राप्त करना है और मेरे

गुरुदेव कहते हैं, "ईश्वर का कोई नाम, रूप या गुण नहीं," इसलिये वह किसी विशिष्ट धर्म का ईश्वर नहीं है, परन्तु वह परमात्मा है जिसका कोई नाम नहीं। वास्तव में मेरे गुरुदेव का एक मूल कथन है कि जहाँ धर्म का अन्त होता है, वहाँ से आध्यात्मिकता का आरम्भ होता है। यह अध्यात्म विज्ञान है, जहाँ हम ध्यान की प्रक्रिया को दिव्यता के उद्देश्य से अपनाते हैं। तो यह भ्रम कि ध्यान धर्म से सम्बन्धित है दुर्भाग्यपूर्ण है।

इस प्रकार यह कहना सम्भव है कि ध्यान तीन प्रकार का होता है। भौतिक वस्तुओं और भौतिक सफलता पर ध्यान; दूसरा, धार्मिक पूजा की वस्तुओं पर ध्यान, जैसे कि देवी-देवताओं पर ध्यान, बुद्ध या ईसा मसीह पर ध्यान – जिसे मैं एक बेमेल चलन कहूँगा, क्योंकि आप धर्म में रहने का प्रयत्न कर रहे हैं, जबकि वास्तव में आप जब ध्यान करते हैं तो धर्म से बाहर होते हैं। मेरे विचार में यह एक विरोधाभास है, क्योंकि आध्यात्मिकता का उद्देश्य धर्म से ऊपर उठना है, किंतु यहाँ हम धर्म में ही फंस जाते हैं। फिर तीसरे प्रकार का ध्यान है जिसमें हम उस पर ध्यान करते हैं जो धर्म से ऊपर है। इसलिये ध्यान की वस्तु किसी विशिष्ट धर्म का ईश्वर नहीं हो सकता, परन्तु वह होता है जो पूर्णता की परिभाषा पर खरा उतरता हो, वह परम सत्य जिसका कोई नाम, गुण या रूप नहीं। इस प्रकार हम ध्यान की तीसरी स्थिति पर आते हैं: भौतिक वस्तुओं पर ध्यान, धर्म के ईश्वर पर ध्यान, परमात्मा पर ध्यान।

सहज मार्ग में हम दिव्य बनने के तीसरे लक्ष्य के लिये प्रयत्न कर रहे हैं। इसी कारण मेरे गुरुदेव इस पद्धति को सारे विश्व के लिये प्रस्तुत करते हैं, इस चेतावनी के साथ कि इसका प्रयोग भौतिक लाभ के लिये नहीं किया जा सकता है, न करना चाहिये, न ही इसे किसी विशिष्ट धर्म तक सीमित रखना चाहिये। साथ ही, यह उनकी आलोचना नहीं करता जिनके जीवन के उद्देश्य भौतिक हैं, न ही यह किसी को उसके धर्म से हटाना चाहता है। वह केवल इतना ही कहते हैं कि अगर तुम भौतिक जीवन से चिपके रहोगे तो निराशा ही मिलेगी, क्योंकि तुम्हें जितना भी प्राप्त हो जाये उसमें कोई सन्तोष नहीं, कोई सम्पूर्णता नहीं। भौतिक खोज में असफलता ही हाथ लगेगी क्योंकि किसी भी स्थान पर आप निश्चिन्त हो कर यह नहीं कह सकते कि "हाँ, मैंने प्राप्त कर लिया।" तो भौतिकता के पीछे भागने में कोई सन्तोष नहीं। दूसरी बात है कि भौतिक वस्तुएँ नाशवान हैं। समय के प्रवाह में सब बह जाता है। और सब से महत्वपूर्ण है तीसरी चीज कि मरने पर तुम

उन्हें साथ नहीं ले जा सकते। अगर आप मेरे कहने का बुरा न मानें तो भौतिक उद्देश्यों पर ध्यान केन्द्रित करना हमारी मूर्खता को दर्शाता है।

जहाँ तक धार्मिक लक्ष्यों का सम्बन्ध है, पूर्व के विचारकों का अनुभव है कि ईश्वर को किसी एक धर्म में नहीं बाँधा जा सकता। यह सत्य सब धर्म कहते हैं परन्तु दुर्भाग्यवश किसी अनजाने कारण से प्रत्येक धर्म यह कहता है कि उसका ईश्वर महानतम है। यह उतना ही मूर्खतापूर्ण है जितना कि छः गणितज्ञ अनन्त की बात करते हुए कहें कि "मेरा अनन्त सबसे असीम अनन्त है।" तो आप देखते हैं कि धर्म ने अपने को कैसा बेतुका बना लिया है। न केवल उन्होंने उस धर्म के अनुयायियों को ऊँचे स्तर तक उठने नहीं दिया, बल्कि उन्होंने ईश्वर को उस धर्म तक सीमित कर उसे एक प्रकार से अपना बन्दी बना छोड़ा है। वास्तव में मानव तथा ईश्वर दोनों ही उस धर्म के बन्दी हैं। मानव इसलिये कि वह उससे भाग नहीं सकते या सोचते हैं कि भाग नहीं सकते; और ईश्वर शायद इसलिये कि उन्हें परवाह नहीं। लेकिन सदा ही इस नियम के अपवाद रहे हैं और हमारे बीच भूतकाल में ऐसे महान् व्यक्ति हुए हैं जिन्होंने अपने धर्म के पार जाकर ध्यान किया और ईश्वर को प्राप्त किया है।

धार्मिक विचारों के इतिहास में ऐसे व्यक्ति रहे हैं – महान् व्यक्ति जैसे बुद्ध, ईसा मसीह, मोहम्मद, वे सब जिस धर्म में पैदा हुए थे उससे ऊपर उठे। कई लोगों ने उस धर्म के विचारों व परम्पराओं पर प्रहार किया जिसमें वे पैदा हुए थे। उन्होंने औपचारिक पूजा का बहिष्कार किया और परम्परानुसार जंगल या पहाड़ों में जाकर ध्यान किया और वह स्थिति प्राप्त की जिसे हम संतत्व कहते हैं। यह स्मरण रखना आवश्यक है कि उन्होंने किसी ईश्वर पर ध्यान नहीं किया परन्तु अपने हृदय में अपने अन्तर की आत्मा पर ध्यान किया। मैंने केवल उन मुख्य व्यक्तियों की चर्चा की है जिन्होंने ऐसी पद्धतियों की नींव डाली जो बाद में विकृत होकर स्वयं धर्म बन गयीं। उदाहरणार्थ, बिरले ही बौद्ध अब ध्यान करते हैं, वे केवल मंत्रों का उच्चारण करते हैं जिसका कोई अर्थ नहीं; बहुत कुछ वैसे ही जैसे हिन्दू करते हैं और ईसाई करते हैं। तो हमें धर्म के उन स्थापकों की ओर जाना है, केवल उनकी शिक्षाओं से नहीं सीखना परन्तु वैसा ही करना है जैसा उन्होंने किया और वही प्राप्त करना है जो उन्होंने प्राप्त किया। यह वैसा ही अंतर है जैसा पाकशास्त्र पर पुस्तक पढ़ने और वास्तव में भोजन पकाने में। तो चाहे

हम बाइबिल पढ़ें या बौद्ध ग्रन्थ, क्या फर्क पड़ता है, हम केवल पुस्तक पढ़ रहे हैं। क्या हम कुछ कर रहे हैं?

अब यहाँ सहज मार्ग और हमारे गुरुदेव आते हैं और कहते हैं, "सब पुरानी शिक्षा को भुला दो। पुस्तकों का कोई अर्थ नहीं, नियमों का कोई अर्थ नहीं, कुछ पाने के लिये पद्धति को व्यावहारिक होना होगा। कुछ करो और कुछ पाओ।" उनका दूसरा महान् कथन था "पढ़ो और आनन्द लो, करो और बनो।"

तो यहाँ एक व्यावहारिक पद्धति है जिसके पीछे बहुत कम दर्शन है, कोई गुह्य शिक्षा नहीं है, न धर्म-विज्ञान जैसी चीजें हैं। हम केवल बैठ कर ध्यान करते हैं। प्रगति करने के लिये और कुछ आवश्यक नहीं है। जो पढ़ना पसन्द करते हैं उनके लिये पुस्तकें हैं, परन्तु वह आवश्यक नहीं क्योंकि सिद्धान्त की जानकारी अभ्यास में हमारी सहायता कर सकती है, परन्तु उसके स्थान पर नहीं है। अभ्यास ही मुख्य वस्तु है। तो हम इस महत्वपूर्ण तथ्य पर आते हैं कि जब हम ध्यान करते हैं तो हम कुछ प्राप्त करते हैं, जो इस पर निर्भर करता है कि हम किस पर ध्यान करते हैं। इस पद्धति में लक्ष्य को भिन्न नामों से पुकारते हैं, मानवीय पूर्णता, आत्मसाक्षात्कार या दिव्य बनना, सब निराकार भाव हैं, इसलिये ध्यान की वस्तु भी निराकार होनी चाहिये।

इसलिये सहज मार्ग कोई नाम या मंत्र या रूप का प्रयोग ध्यान के लिये नहीं करता, क्योंकि साधारण मानव निराकार पर ध्यान नहीं कर सकता...। मेरे गुरुदेव ईश्वरीय प्रकाश का प्रयोग करते हैं जो कि उस निराकार मूलतत्व के निकटतम है, क्योंकि प्रकाश का कोई रूप नहीं है, प्रकाश में कोई सार भी नहीं है, प्रकाश में... बिलकुल कुछ भी नहीं है। मेरे गुरुदेव ने एक बार स्पष्ट किया था, बल्कि उनके प्रशिक्षक ने स्पष्ट किया था कि यह उसी तरह है जैसे तैराकी के तालाब में छलाँग लगाने के लिये उसके ऊपर लगे छलाँग लगाने वाले पटरे का प्रयोग। यह हमें ऐसा आधार देता है जिससे तालाब में छलाँग लगाने के पहले हम कुछ संवेग प्राप्त कर सकें। कृपया याद रखिये, प्रकाश हमारे ध्यान का लक्ष्य नहीं है। वह पद्धति का प्रारम्भिक बिन्दु है; यह मानते हुए कि मानवीय सीमाएँ हैं कि हम सीधे निराकार पर ध्यान नहीं कर सकते।

तो यह सहज मार्ग का सामान्य वर्णन है। मैं संक्षेप में दोहराऊँगा: हम दिव्य बनने के लिये ध्यान करते हैं और ध्यान का विषय जितना सम्भव है, अमूर्त है, जो कि हृदय में प्रकाश है; सबसे महत्वपूर्ण बात है कि बिना धर्म-परिवर्तन का प्रयत्न किये हमें धर्म से ऊपर उठना है।

हम किसी के धर्म में हस्तक्षेप नहीं करते और न ही किसी का धर्म बदलना चाहते हैं, परन्तु आपमें से प्रत्येक को यह प्रयत्न करना है कि अपने धर्म से ऊपर उठ कर आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रवेश करें। यह उड़ने की भाँति है। आप चारों ओर हवाई जहाजों को उड़ते देखते हैं। अगर हमें उड़ना है तो हमें अपनी धरती से, अपने देश से ऊपर वायुमंडल में उठना होगा। जब हम पुन: नीचे आते हैं तो हम वही हो जाते हैं जो हम पहले थे। जब हम उड़ रहे होते हैं तो हमारा कोई देश नहीं होता, परन्तु जब हम वापस अपने देश में धरती पर उतर आते हैं तो हम फिर से फ्रांसीसी, भारतीय, अंग्रेज, जो भी हम हैं, हो जाते हैं। इसका अर्थ है कि साधारण मानव की तरह, जिन पर सामाजिक व कानूनी दायित्व लागू होते हैं, हम वही हैं जो सदा से थे; परन्तु ध्यान की क्रिया में हम मानसिक रूप से इन चीजों से ऊपर उठ जाते हैं, एक सार्वभौम लक्ष्य को स्वीकार करते हैं, जो कि सम्पूर्ण मानवता के लिये एक ही है, और उस दिव्यता तक, उस ईश्वर तक पहुँचना चाहते हैं जिसका न कोई नाम है न रूप। और मेरे गुरुदेव की एक और महत्वपूर्ण शिक्षा है कि मानवीय स्तर पर धर्म विभाजित करता है। यह एक दु:खद सत्य है कि ईश्वर के नाम पर हुए धार्मिक युद्धों में करोड़ों लोग मारे गये हैं और जब तक धर्म रहेंगे, ऐसा ही होता रहेगा। जब हम ऊपर उठ कर आध्यात्मिकता के इस विरल क्षेत्र में पहुँच जाते हैं, तो वहाँ आध्यात्मिकता एक सार्वजनीन लक्ष्य की प्राप्ति की ओर अग्रसर होती है जिसकी हम सब कामना करते हैं। यहाँ मानवता एक धारणा में संगठित होती है। तो मेरे गुरुदेव के अनुसार आध्यात्मिकता हमें केवल व्यक्तिगत रूप से ही दिव्यता का लक्ष्य नहीं देती, बल्कि सम्पूर्ण मानवता के एकीकरण के आवश्यक सामाजिक ध्येय की भी पूर्ति करती है।

तो अगर हम इस अवसर का उपयोग कर सकें तो आध्यात्मिकता बहुत स्वागत करने की वस्तु है। और यह बहुत सरल है। अपने भाषण के आरम्भ पर आते हुये -- वह आसान है जब हमने उसकी सरलता पर अधिकार प्राप्त कर लिया हो। यह उतना ही आसान है जितना साइकिल चलाना। जब तुमने इसकी दक्षता प्राप्त कर ली हो तो अति सरल, परन्तु उसके पहले तक हम गिरते हैं और फिर चढ़ते हैं। तो सरलता को प्राप्त करने के लिये हमें एक कठिन प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है। जैसा कि मैंने आरम्भ में कहा था, महान् कलाकार, चित्रकार, संगीतकार, वे इस सत्य को जानते हैं, कि वर्षों की दु:खदाई तपस्या व जटिल अभ्यास द्वारा वे उस अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचते हैं जो कि

सरलता है। सौभाग्यवश ध्यान में अभ्यास भी सरल है: ध्यान, जो साक्षात्कार की ओर ले जाता है। हम उसको ढेर सारी वस्तुओं पर ध्यान करके जटिल बना देते हैं, जैसे भौतिक विकास, भौतिक समृद्धि, स्वास्थ्य, सफलता और ईश्वर भी।

अब लोग पूछ सकते हैं, "इसमें गलत क्या है?" मेरे गुरुदेव कहते थे, "कुछ गलत नहीं है, परन्तु अगर हम एक ही समय में पचास विभिन्न वस्तुएँ प्राप्त करना चाहते हैं तो मानसिक शक्ति विभिन्न दिशाओं में बँट जाती है। इसलिये हमें एक समय में एक ही चीज प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। "मेरे ख्याल से, एक पुराना मुहावरा है, "एक समय में एक ही चीज और उसे अच्छी तरह किया जाय।" जब हम एक ही चीज करने का प्रयत्न करते हैं तो उसे भली प्रकार कर पाते हैं। अगर आप बीस चीजें करने का प्रयत्न करते हैं तो कुछ भी नहीं हो पाता। इसलिये उन्होंने कहा, "एक लक्ष्य हो, एक पद्धति हो और एक ही गुरु को पकड़े रहो, तो तुम कुछ पा सकोगे।" अगर तुम अनेक चीजों को मिलाना चाहोगे, जैसे एक ईश्वर को किसी अन्य पद्धति से, एक अन्य प्रक्रिया से प्राप्त करने का प्रयत्न करोगे तो कुछ भी प्राप्त नहीं होगा। मेरे विचार में उनकी यह महान् बुद्धिमत्ता थी कि उन्होंने हृदय में प्रकाश पर ध्यान करना बताया, हृदय में ईश्वरीय प्रकाश पर, क्योंकि यह हम सब के लिये अपनी अन्तरात्मा को संकट में डाले बिना सम्भव है, और इससे अन्तिम लक्ष्य प्राप्त कर सकते हैं। तो आप सब जो यहाँ नये हैं और पहली बार आये हैं, मैं उनका इस महान् साहसिक आध्यात्मिक कार्य में स्वागत करता हूँ। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि मेरे गुरुदेव का मार्गदर्शन सदैव आपकी सेवा में रहेगा।

धन्यवाद।

प्रश्न और उत्तर

१८ सितम्बर १९८७

प्रश्न - (मोटर गाड़ी चलाते समय ध्यान के सम्बन्ध में)

उत्तर - खतरनाक हो सकता है। तुम्हें नहीं करना चाहिये -- खतरे की बात नहीं। ध्यान से भी अच्छा है सतत स्मरण; उसे गाड़ी चलाते समय भी करने की आशा की जाती है। वह कोई समस्या नहीं पैदा करती, परन्तु ध्यान के लिये आपको आँखें बन्द करनी पड़ेंगी।

प्रश्न - हम किसी के लिये किस प्रकार प्रार्थना कर सकते हैं (सुनाई नहीं दिया)?

उत्तर - आप कैसे प्रार्थना कर सकते हैं? प्रार्थना करने का एक ही तरीका है। प्रार्थना कीजिये, "वह ठीक हो जाये।" आँखें बन्द करके बैठें और अपने गुरुदेव या ईश्वर से प्रार्थना करें, "आपका आशीर्वाद उसके साथ हो।" देखिये, प्रार्थना करना ठीक नहीं, ऐसा मैं सोचता हूँ। ईसाई धर्म में आप सब चीजों के लिये प्रार्थना करते हैं, "वह ठीक हो जाये, यह मनुष्य अमीर हो जाये, वह गिरजाघर बड़ा हो जाये," परन्तु मैं इस प्रकार की प्रार्थना में विश्वास नहीं करता। वास्तव में मैं प्रार्थना में जरा भी विश्वास नहीं करता क्योंकि ईश्वर जानता है कि क्या करना है, गुरु जानता है कि क्या करना है, तो फिर प्रार्थना क्यों करें? हमें ईश्वर को स्मरण दिलाने की आवश्यकता नहीं कि वह कुछ करे। एक प्रकार से प्रार्थना, हमारी उस व्यक्ति के प्रति प्रेम व सहानुभूति का दर्पण होना चाहिये। तो हमें यह प्रार्थना करनी चाहियें, "आपका आशीर्वाद उस व्यक्ति के साथ हो" वह चाहे इस जीवन में हो या इसके पश्चात्, है न? उदाहरणार्थ, जब एक बच्चा पैदा होने वाला होता है आप उस बच्चे के जीवन की प्रार्थना करते हैं; परन्तु अगर एक नब्बे वर्ष का वृद्ध मर रहा हो, तो आप उसके जीवन के लिये प्रार्थना नहीं कर सकते, क्योंकि वह सदा तो जीवित रहेगा नहीं। आप उसकी मृत्यु के लिये भी प्रार्थना नहीं कर सकते क्योंकि वह सही नहीं होगा। तो आप क्या प्रार्थना करेंगे? "आपका आशीर्वाद उसके साथ हो।" जैसे कोई जाता हो तो पहले कहते थे "प्रभु के साथ जाओ। ईश्वर यात्रा शुभ करे।" इसका अर्थ है, "वह तुम्हारे साथ है, जो वह सही समझता है वही तुम्हारे साथ होगा।" आप यह नहीं कहते, "दुर्घटना न हो," यह

एक नकारात्मक विचार है। "पुलिस के साथ कोई समस्या न हो," यह भी नकारात्मक विचार है। "रडार गति-नियंत्रक से कोई समस्या न हो," यह फिर नकारात्मक विचार है। ईश्वर के साथ जाओ; जब ईश्वर वहाँ है तो जो उसकी इच्छा है वही होगा। मेरे विचार से यही सही प्रार्थना है। जो हमारे सोचने के अनुसार होना चाहिये, हो सकता है वह सही न हो, क्योंकि सामान्यत: हम सोचते हैं... मान लीजिये कोई बीमार है, हम उसके स्थान पर अपने आप को रख कर उसके लिये वह चाहते हैं जो हमें चाहिये। हो सकता है वह सही न हो। किसी दूसरे के लिये क्या अच्छा है, कोई सचमुच नहीं जान सकता है। तो हम क्या करें? हम केवल प्रार्थना करें, "कृपया उसे आशीर्वाद दें।"

प्रश्न - प्रार्थना में कहा गया है 'हम अपनी इच्छाओं के दास हैं, जो हमारी उन्नति में बाधक हैं,' क्या हम (सुनाई नहीं दिया) और क्या ध्यान द्वारा उनका निवारण किया जा सकता है?

उत्तर - सफाई द्वारा।

प्रश्न - क्या भावनाएँ इच्छाओं का उद्गम हैं?

उत्तर - नहीं। इच्छाओं का भावनाओं से कोई सम्बन्ध नहीं। आप बिना इच्छा के भी भावुक हो सकते हैं। ये दोनों फरक चीजें हैं। इच्छाओं का सम्बन्ध तुमसे है, तुम्हारे लघु स्व से। यह वह चीज है जो संतुष्टि से जुड़ी है।

प्रश्न - परन्तु भावनाएँ भी?

उत्तर - आवश्यक नहीं। जब कोई जाता है तो हम उदास हो जाते हैं। यह एक भावना है, इसमें कोई इच्छा नहीं है। उदाहरण के लिये, मैं कहूँ कि आप मेरी सास हैं। साधारणत: सभी सासों और बहुओं की ज्यादा नहीं बनती। उसकी इच्छा यह होती है कि सास बिलकुल न आये, और अगर आये भी तो शीघ्र चली जाये। फिर भी जब वह जाती है तो एक बिदाई की भावना होती है। यहाँ पर इच्छा और भावना विपरीत हैं।

प्रश्न - पहली इच्छा कि वह न आये, वह किसी गुप्त भावना से सम्बन्धित हो सकती है?

उत्तर - हो सकता है सम्बन्धित हो। परन्तु हम यहाँ जो है उसकी बात कर रहे हैं। प्रत्येक वस्तु का सम्बन्ध किसी भूतकालीन वस्तु से है। अगर मैं शादी न करता तो मेरी कोई सास न होती। (हास्य)

प्रश्न - मैं नया हूँ और मेरा प्रश्न है: हमें प्रशिक्षक के माध्यम से क्यों जाना पड़ता है और क्यों नहीं...?

उत्तर - आप प्रशिक्षक के माध्यम से नहीं जा रहे हैं, यह आपकी पहली गलती है। प्रशिक्षक सफाई करके केवल अभ्यासी की सेवा करता है। क्योंकि अगर संसार में बीस हजार अभ्यासी हों, तो गुरु के लिये सम्भव तो है परन्तु प्रत्यक्ष रूप में कार्य करना थोड़ा कठिन है। यह तरीका यह सुनिश्चित करता है कि आपको सबसे अच्छी सेवा मिले। आप प्रशिक्षक के माध्यम से नहीं जा रहे हैं। प्रशिक्षक के माध्यम से गुरु कार्य कर रहा है। यह एकतरफा सड़क है, "गुरु से अभ्यासी तक, प्रशिक्षक के माध्यम से।" यह एक अच्छा प्रश्न है और अगर उसे भली प्रकार न समझा जाये तो कई अभ्यासी सोचते हैं कि उन्हें प्रशिक्षक के माध्यम से जाना है और उन्हें प्रशिक्षक से लगाव हो जाता है और फिर समस्या होती है। लगाव केवल गुरु के साथ होना चाहिये।

मैं समझता हूँ कि अब हम सब को जाने की तैयारी करनी चाहिये। आप सब को आने के लिये धन्यवाद।

दुरुस्त होने का समय

१८ सितम्बर १९८७, सायंकाल

भारत में आमतौर पर यह समझा जाता है कि योग वृद्ध लोगों के लिये है, स्वभावत: यह विचार युवा लोगों का है। क्योंकि युवा सोचते हैं कि जीवन जीने के लिये और आनन्द उठाने के लिये है; जब हम साठ वर्ष के हो जायेंगे केवल तभी अगले जन्म के विषय में या उससे कैसे बचा जाये इस पर विचार करेंगे। तो योग की इस जन्मभूमि में ही उसे जीवन के बाद वाले भाग के लिये छोड़ दिया जाता है, जब कि लोग सामान्यत: अपने जीवन को परिवर्तित करने के लिये कुछ नहीं कर पाते। यह अति दुर्भाग्यपूर्ण है कि जब तक हमें यह एहसास होता है कि हमें जीवन के लिये एक विकासात्मक दृष्टिकोण की आवश्यकता है, हममें शारीरिक शक्ति क्षीण हो जाती है और मानसिक शक्ति भी बहुत कम रह जाती है।

अब यहाँ सहज मार्ग पद्धति का सम्बन्ध राजयोग से है। और राजयोग में मन अति आवश्यक है, क्योंकि अपने भविष्य को स्वरूप देने के लिये हम मन का प्रयोग करते हैं। तो स्वभावत: इतने युवा लोगों को यहाँ देख कर हम अति प्रसन्न हैं, क्योंकि जिस प्रकार एक बीज अपने में भावी पेड़ को, उसके फल को गर्भ में धारण किये रहता है, उसी प्रकार युवा भी भविष्य को अपने में सहेजे रखता है। और अगर हम तब तक प्रतीक्षा करें जब तक अति वृद्ध न हो जायें तो हमारे पास न के बराबर भविष्य शेष रह जाता है। यह एक कारण है।

दूसरी चीज और भी दुर्भाग्यपूर्ण है, कि योग को एक प्रकार का जीवन से दूर भागना माना जाता है और यह कि यहाँ असफल लोग या दु:खी लोग आते हैं, यह भूल कर कि योग हमारे विकास का मार्ग है। यह जीवन से पलायन नहीं। बहुधा ऐसे लोग मिलते हैं जो पूछते हैं, "आपको योग की क्यों आवश्यकता है, आपके साथ क्या गड़बड़ है?" जैसे कि हम किसी अस्पताल में बीमार हों, या ऐसा ही कुछ। परन्तु योग हमारे जीवन के ध्येय की पूर्ति कराने के लिये है, जो कि हमें पूरा करना है। विकास में हमारा कोई चुनाव नहीं चलता। आप में से जिसने विकास का अध्ययन किया है वे जानते हैं कि पाश्चात्य

सिद्धान्त के अनुसार विकास भी ऐसी शक्ति है जिसको नकारा नहीं जा सकता। जो भी चीज विकास को अस्वीकार करती है वह जीवन में पिछड़ जाती है और केवल वह जो विकासमय शक्ति का पालन करती है आगे बढ़ती जाती है। इस नियम का उल्लंघन नहीं हो सकता। यदि हम आगे बढ़ना चाहते हैं तो हमें विकास करते जाना है। हमारी प्रगति विकास के ऊपर निर्भर है और विकास प्रगति पर निर्भर है, वह जुड़ी हुई हैं।

जितने शीघ्र हम यह जान जायेंगे कि हम किसी प्रकार के बीमार या असफल लोग नहीं जिन्हें ईश्वर की आवश्यकता है, वरन् योग स्वस्थ लोगों के लिये है, योग तन्दुरुस्त लोगों के लिये है, योग उन लोगों के लिये है जो प्रगति के लिये उत्सुक हैं। जितने शीघ्र हम जान लें कि योग और कुछ नहीं, आध्यात्मिक संदर्भ में भविष्य के लिये योजना बनाना है और यह किसी रूप में किसी निगम की योजना बनाने से कम बढ़िया तरीका नहीं जो कि लोग अपने दफ्तरों में, कारखानों में या अपने प्रबन्ध कौशल स्कूलों में बनाते हैं। इसके अलावा जितने शीघ्र हम जान लें कि हम यहाँ कहीं अधिक लम्बे भविष्य की योजना बना रहे हैं, जो किसी भी इन्स्टीट्यूट या कम्पनी की योजना से लम्बी है। यह कम अवधि के लिये नहीं है, तीन या पाँच वर्ष के लिये नहीं, न भौतिक समृद्धि के लिये है, न कोई राज्य खड़ा करने के लिये है, परन्तु अपने स्व को उस अन्तिम स्वरूप के लिये निर्मित करने के लिये है जो उसे विकास की धारा के अन्त में बनना है। जब हम यह सब जान लेंगे, तो हमें पता चलेगा कि हम सचमुच स्वस्थ व दुरुस्त हैं, और एक बड़े संदर्भ में हम सफल हैं – इस संदर्भ में कि हम सफल मानव हैं, न कि केवल सफल व्यापारी, या सफल डाक्टर, या सफल वकील, या सफल कलाकार।

योग एक सफल मानव पैदा करने का तरीका है, सफल इस अर्थ में कि वह अच्छी शुरुआत करता है और उसका अन्त अच्छा होगा। हमें इसका आरम्भ यह समझते हुए करना है कि योग दुरुस्त लोगों के लिये है, स्वस्थ लोगों के लिये है, उनके लिये है जो जीवन में कुछ बनना चाहते हैं। केवल कुछ पाना ही नहीं चाहते, बल्कि कुछ बनना चाहते हैं। और यह बनना केवल इस जीवन के साथ समाप्त नहीं हो जाता परन्तु उसके आगे भी चलता है। जैसा कि मैंने आरम्भ में कहा था बहुत सी गलतफहमी इस देश में भी है जहाँ इसका जन्म हुआ। आप में से कुछ ने महान् भारतीय सन्त कबीर के बारे में सुना होगा। उन्होंने कहा है, "जो सुख में सुमिरन करे, दु:ख काहे को होय?"

दुर्भाग्यवश हम ईश्वर और भविष्य का तभी सोचते हैं जब हम बीमार और दु:खी होते हैं। तो यह पुरानी परम्परा है कि दुरुस्त होने का सही समय तभी है जब तुम स्वस्थ और कुछ करने योग्य हो कि दुरुस्त होने के लिये कुछ कर सको।

हमारे अन्दर एक मानवीय ईर्ष्या होती है, कि प्रकृति में कोई शक्ति है जो अमीर को और अमीर बनाती जाती है और निर्धन इससे अत्यधिक दु:खी हैं, "अरे अमीर और भी अमीर बनते जा रहे हैं।" इसी प्रकार स्वस्थ और स्वस्थ तथा बुद्धिमान और बुद्धिमान बनते जाते हैं। क्योंकि एक प्रकार से इन सब चीजों में बर्फ के गोले जैसी तेजी से बढ़ते जाने की प्रक्रिया होती है (नीचे लुढ़कते हुए वह और बर्फ लपेटता हुआ और अधिक बड़ा होता जाता है)। परन्तु बड़ा, और बड़ा होने के पहले कुछ तो होने की आवश्यकता है। अलबत्ता ईसा मसीह और बुद्ध जैसे अतीत के महापुरुषों से जुड़े कुछ चमत्कार भी हैं, कि वे एक कोढ़ी को ठीक कर सकते थे, या मृत लाज़रस को जीवित कर सकते थे; परन्तु केवल एक लाज़रस को न कि सभी मृत लोगों के लिये उन्होंने यह चमत्कार दिखाया। शिक्षा यह है कि अगर ईश्वर चाहे तो वह मृत को भी जीवित कर के चला फिरा सकता है। परन्तु अगर हम स्वस्थ रहने पर अपने लिये कुछ करने को तैयार हैं तो हम भी यह कर सकते हैं। आपने उस लड़के की कहानी सुनी होगी जो बीमार हो कर बिस्तर पर पड़ा था और जब ईसा मसीह ने उससे कहा, "बिस्तर उठाओ और चलो," तो यह भी एक चमत्कार है कि वह लड़का जिसने सोचा था कि वह कभी नहीं चल पायेगा, ईसा मसीह के कहने पर कि "उठो और चलो" वह उठ कर चल सका। योग जोर देकर कहता है कि जब हम कुछ करने योग्य हैं उस समय यदि हम अपने लिये कुछ करें तो चमत्कार आवश्यक नहीं...। चमत्कार की आवश्यकता तब होती है जब हम बिलकुल बेकार हो जाते हैं। तो असली शिक्षा है कि तब तक की प्रतीक्षा मत करो, अभी अपने लिये कुछ करो जब तुम कुछ करने योग्य हो।

इसलिये योग का आरम्भ काफी पहले करना चाहिये जब हम शारीरिक और मानसिक रूप से स्वस्थ हैं, विशेष कर राजयोग का मार्ग अपनाने के लिये जैसा कि हम यहाँ कर रहे हैं। इसके लिये हमारा मन एकदम स्वस्थ होना चाहिये, क्योंकि हम मन द्वारा ही उसको नियंत्रित करते हैं ताकि वह हमारे विकास का सही यंत्र बन सके। ऐसे में हमें अधिकाधिक युवा लोगों को यहाँ देख कर खुशी होती है क्योंकि छोटी आयु में ये तरीके सबसे सार्थक रूप से प्रयोग किये जा सकते हैं और

सही बीज सही समय पर बोया जाने से सही परिणाम देता है। मेरे गुरुदेव श्री रामचन्द्रजी महाराज इस बात पर हमेशा जोर देते थे। उन्होंने अपने गुरु से पूछा, "आध्यात्मिक साधना आरम्भ करने का सही समय क्या है?" और उस महान् व्यक्ति ने उत्तर दिया, "गर्भाधान का क्षण।" तो आप देखते हैं कि इसका आरम्भ उस समय होना चाहिये, युवावस्था में नहीं, जब तीस वर्ष के हों तब नहीं, जब साठ के हों तब नहीं, अस्सी के नहीं -- तब तो बहुत देर हो गयी -- परन्तु गर्भाधान के क्षण। क्योंकि जब आप बीज बोते हैं अगर बीज सड़ा हुआ है तो पेड़ भी सड़ा हुआ निकलेगा। इसी कारण कृषि में आप अच्छे बीज चुनते हैं। जब पेड़ पुराना हो चुका हो तब उस पर रंग पोतने से क्या लाभ? वह अच्छा लग सकता है परन्तु वह हमें कुछ देगा नहीं।

हमारे दादा गुरु ने यह भी कहा कि गर्भ धारण का क्षण निश्चित करना क्योंकि सम्भव नहीं, हमें तब तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है जब मानव अपने भविष्य का स्वयं निर्णय कर सके और यह उसके अपने हाथ में हो। इसलिये साधारणत: हम अट्ठारह वर्ष की आयु में इस यौगिक पद्धति को आरम्भ करने की स्वीकृति देते हैं। अब मैं यह क्यों कह रहा हूँ? आप देखें, समस्या यह है कि एक बार वह गर्भ धारण का क्षण निकल जाये तो हम अट्ठारह वर्ष स्वत: ही खो बैठते हैं। अब मान लीजिये आपने वह अट्ठारहवाँ साल भी खो दिया तो कौन जाने हमें फिर रास्ता कब मिलेगा? रास्ता मिलना इतना सरल नहीं है। लोग समझते हैं कि वह ज्यों-ज्यों बड़े होते हैं तो अधिक बुद्धिमान होते जाते हैं। बड़े लोगों के पास बेशक अधिक तथ्य व अनुभव होते हैं क्योंकि हममें अधिकाधिक जानकारी का समावेश होता जाता है, परन्तु यह टेलीफ़ोन डाइरेक्टरी की भाँति है जो दिनों दिन बड़ी होती जाती है। पर यह सिद्ध नहीं करता कि लोग पहले से अधिक बुद्धिमान हैं। अगर केवल तथ्यों द्वारा हमारी बुद्धि का निर्धारण होता, तो आधुनिक मानव पुराने लोगों से अधिक बुद्धिमान होता। मैं नहीं समझता कि आप में से कोई भी इसे सही मानेंगे।

तो बुद्धिमत्ता एक दुर्लभ चीज है, वह शिक्षा से नहीं आती, हालाँकि शिक्षा उसमें सहायता करती है; वह तथ्यों से नहीं आती, हालाँकि ढेर सारे तथ्य सहायता कर सकते हैं। बुद्धिमत्ता की परिभाषा है -- किसी वस्तु को सम्पूर्ण रूप से मूल्यांकन करने की योग्यता -- इसका अर्थ है कि हम किसी चीज को एक ही समय में सब तरफ से देख सकते हैं। कुछ दर्शनशास्त्रों में यह "भव्य दर्शन" कहलाता है, और कुछ दर्शनशास्त्र, विशेष कर गुह्य शास्त्र, इस विचार को फैला कर इसे भूत, वर्तमान व

भविष्य में एक साथ देखना कहते हैं। यह क्षमता आयु के साथ नहीं आती। पुन: भारतीय सन्त कबीर का हवाला देता हूँ: उन्होंने कहा, "अगर आयु हमें बुद्धिमत्ता दे सकती तो पहाड़ बुद्धिमान होते।" क्योंकि वह तो बहुत ही पुराने हैं! जैसा कि हम अंग्रेजी में कहते हैं न, "इतने वृद्ध जितने पहाड़।"

तो ज्ञान व बुद्धिमत्ता दो अलग क्षेत्र हैं। आप सब इसे जानते हैं, मुझे इस पर अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। ऐसा लगता है कि आठ से अट्ठारह, उन्नीस, बीस के बीच की उम्र में हम जितना सोचते हैं उससे अधिक बुद्धिमान होते हैं और जितना बड़े लोग समझते हैं हम उससे अधिक बुद्धिमान होते हैं। वास्तव में हम बड़े लोगों से भी अधिक बुद्धिमान होते हैं। क्योंकि उस उम्र में दिमाग में एक ताजगी होती है जो हम बड़े होने पर खो देते हैं, भविष्य में कुछ पाने की प्रवृत्ति होती है, जीवन के प्रति एक आदर्शवादी विचार होता है जो हम बाद में खो देते हैं। जैसे-जैसे हम बड़े होते जाते हैं हम अधिकाधिक सनकी होते जाते हैं। सत्य को जानने की आवश्यकता है जिसे बड़े लोग केवल उत्सुकता समझ बैठते हैं। इस कारण यह दुर्भाग्यपूर्ण प्रवृत्ति है कि बड़े लोग छोटे लोगों को अपना पैतृक अधिकार, सामाजिक अधिकार, सरकारी अधिकार जता कर दबाये रखना चाहते हैं। युवा लोगों के साथ कुछ ऐसा व्यवहार करते हैं जैसे कि वे समाज के लिये एक बोझ हों। स्वत: ही इसका प्रभाव युवकों पर पड़ता है। वे महसूस करते हैं कि उन्हें हेय दृष्टि से देखा जाता है, वे अपने को अस्वीकृत व तिरस्कृत अनुभव करते हैं, और सबसे बढ़ कर वे अनुभव करते हैं कि कोई उन पर यह विश्वास नहीं करता कि वे अपनी देखभाल कर सकते हैं, दूसरों की देखभाल कर सकते हैं, समाज की देखभाल कर सकते हैं। और जब युवा जन को स्वयं ऐसा बोध होता है तब वह बातें होती हैं जैसे हिप्पी आंदोलन, अनचाहे बालकों की प्रतिक्रिया और इसी प्रकार की विचित्र बातें; और आजकल नशीली दवाएँ, यह सब दुर्भाग्यपूर्ण प्रतिक्रियाएँ। जैसे गरीब बिरले ही अमीरों के विरुद्ध विद्रोह करते हैं, निर्बल बलवान के विरुद्ध विद्रोह नहीं कर सकते, वैसे ही बच्चे अपने माँ-बाप और बड़ों के विरुद्ध विद्रोह नहीं कर पाते। परन्तु इस विद्रोह की भावना का प्रयोग वह अपने विरुद्ध करते हैं। अत: जब बड़ी पीढ़ी की छोटी पीढ़ी के प्रति यह छोटा देखने की प्रवृत्ति होती है तो यह ऐसा है मानों पेड़ अपने ही बीज को नष्ट कर रहा है। इस कारण हमें बड़ी प्रसन्नता होती है जब युवा लोग आते हैं, अपने विकास में रुचि दिखाते हैं और अपना भविष्य अपने हाथों में

लेना चाहते हैं, एक सकारात्मक, विकासात्मक रूप में, और नशीली दवाओं या ऐसी मूर्खतापूर्ण वस्तुओं की ओर नहीं दौड़ते।

इसका भविष्य के लिये बहुत महत्व है, तथा मानवता के भविष्य के लिये भी बहुत महत्व है। यह मत सोचिये कि हम बड़े-बड़े शब्दों का प्रयोग कर रहे हैं। बच्चे मानव जाति का भविष्य हैं, और अगर वह सही रास्ते पर नहीं जायेंगे तो पुरानी पीढ़ी के लोग दुःख भोगेंगे, शायद भौतिक रूप में नहीं पर भावात्मक रूप से अवश्य ही। अगर हमारे बच्चे गलत रास्ते पर जाते हैं तो हम दुःख भोगते हैं। इसलिये भारतीय परम्परा कहती है, पुरानी पीढ़ी को युवा पीढ़ी का ध्यान रखना चाहिये, उनका मार्ग निर्देशन करना चाहिये, उनके प्रयत्नों को नियंत्रित करना चाहिये और सबसे महत्वपूर्ण, उनके लिये एक उदाहरण बनना चाहिये। अब जब तक हम स्वयं के लिये कुछ न करें उदाहरण नहीं बन सकते। इसलिये योग का आरम्भ हमारी युवावस्था से होना चाहिये और तब तक चालू रहना चाहिये जब तक भौतिक जीवन का अन्त न हो। अगर हम सही समय पर आरम्भ करें, जैसे कृषि में अगर सही समय पर बीज बोया जाय, तो फसल अच्छी होती है। परन्तु अगर बीज जाड़े की बर्फ़ीली ठन्ड में बोया जाय तो उससे क्या निकलेगा? तो सही समय "अब और यहाँ" है जैसा कि मेरे गुरुदेव कहते थे। क्योंकि सही कार्य आरम्भ करने के लिये हर क्षण सही है। यह बड़ी उमर के लोगों को जो यहाँ हैं, तसल्ली देने के लिये नहीं है परन्तु यह दिखाने के लिये है कि न करने से तो देर में करना भला है। यह ऐसा है मानो पहली गाड़ी छूट गयी पर दूसरी या तीसरी गाड़ी तो पकड़ ली। हमें गाड़ी पकड़ कर अपने गन्तव्य तक जाना है।

तो जो हम करने का प्रयत्न कर रहे हैं यह उसका सारांश है। हम लोगों को अमीर बनाने का प्रयत्न नहीं कर रहे हैं, उसके और भी प्रभावी तरीके हैं। योग लोगों को अमीर बनाने का तरीका नहीं है और न ही इसका प्रयोजन उन्हें शक्तिशाली बनाना है। यह मानव को शारीरिक व मानसिक रूप से संतुलित रखने का तरीका है ताकि वह पूर्णता के अपने आध्यात्मिक लक्ष्य का अनुसरण कर सके। हमें केवल उसी की आवश्यकता है। योग इसका आश्वासन देता है। जहाँ तक भौतिक उपलब्धियों का प्रश्न है, शिक्षा है, प्रशिक्षण है, जिनके द्वारा हम अपना भविष्य भौतिक तरीके से बना सकते हैं, और वह जीवन की एक शाखा है। मेरे गुरुदेव का सहज मार्ग योग, जैसा हम इस योग को कहते हैं, एक बहुत महत्वपूर्ण शिक्षा देता है कि आध्यात्मिक जीवन के लिये भौतिक जीवन की उपेक्षा नहीं करना चाहिये। क्योंकि दुर्भाग्यवश

प्राचीन काल में लोगों ने भौतिक जीवन की उपेक्षा की, घर और परिवार को छोड़ जंगल में ध्यान करने चले गये। आधुनिक मानव आध्यात्मिक जीवन की उपेक्षा करता है और पूर्ण रूप से भौतिक जीवन में घुसकर सुख-सम्पत्ति और शक्ति के पीछे भागता है। मेरे गुरुदेव कहते हैं जिस प्रकार चिड़िया को उड़ने के लिये दो पंख चाहिये, मानव को इस भौतिक शरीर में रहते हुए भौतिक आहार की, भौतिक सहारे की आवश्यकता होती है। अत: भौतिक जीवन की अवहेलना नहीं की जा सकती, परन्तु साथ ही आन्तरिक जीवन को भी विकसित होना है।

तो सहज मार्ग पद्धति की अन्तिम शिक्षा है: दोनों ओर ध्यान दो, किसी की उपेक्षा मत करो, और ऐसा व्यक्ति वह पूर्ण संतुलित दशा प्राप्त करेगा जो एक प्रकार से दिव्य जीवन के समान है। तो यह पद्धति आधुनिक मानव के लिये सबसे उपयुक्त है, कि भौतिक जीवन व्यतीत करते हुए, जो हमें करना ही है, हम अपने आध्यात्मिक भविष्य के लिये समय निकालें और ऐसे पूर्ण मानव का निर्माण करें जो भौतिक व अभौतिक दोनों है। या दूसरे शब्दों में जिसका अन्तर और बाह्य पूर्ण सन्तुलन में है। तो हमारी पद्धति में यह आध्यात्मिक लक्ष्य है, और यही हमारे गुरुदेव हमसे वादा करते हैं, अगर हम इस अति सरल अभ्यास का अनुसरण करने को तैयार हैं। इसमें केवल एक घंटा प्रात: ध्यान, एक छोटी सी आत्म-शुद्धि की पद्धति सायंकाल में, दस या पन्द्रह मिनट की, और उससे भी छोटा ध्यान सोते समय, पाँच या छः मिनट का। आप में से जो नये हैं और यहाँ पहली बार आये हैं, मैं उन्हें प्रयत्न करने का आमंत्रण देता हूँ।

धन्यवाद।

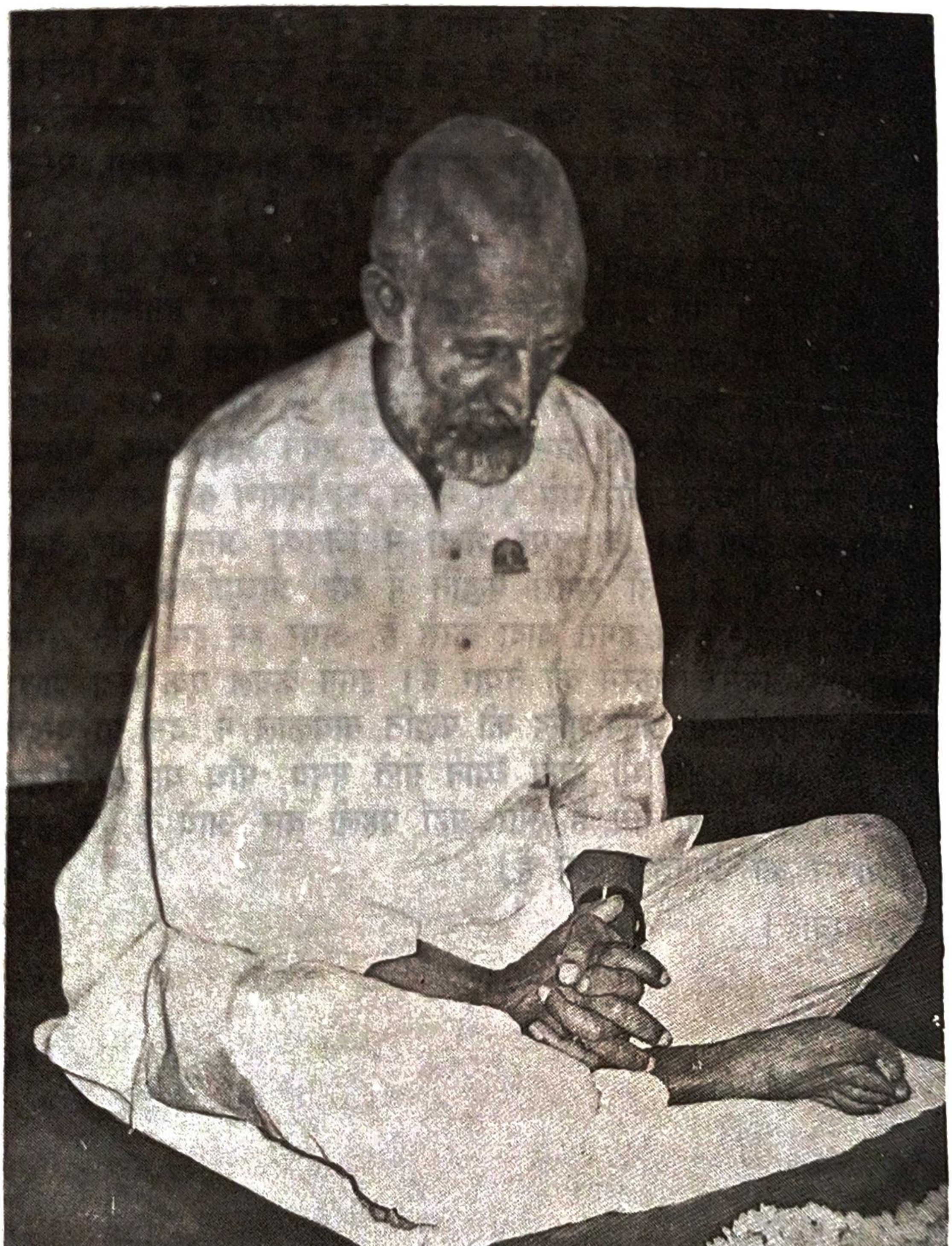

III

एंटननरिवो, मैडागास्कर

२३-२६ सितम्बर १९८७

किसका त्याग करें

२३ सितम्बर, १६८७

पुराने जमाने में लोग जंगल में, वनों में जाते थे, परन्तु वहाँ भी परिवार को, पत्नी को, बच्चों को याद करते थे। बाबूजी ने कहा, "निश्चय ही हमें जंगल को घर में लाना चाहियें।" और वह कहीं अधिक सफल होता है। तो आप देखते हैं यही सही तरीका है। क्योंकि जब आप कुछ छोड़ कर जाते हैं तो पूरे समय आपको उसकी याद सताती है। अगर आप अपनी पत्नी को छोड़ कर हजार किलोमीटर दूर चले जाते हैं तो आप उसे याद करते हैं। इसलिये सहज मार्ग एक पारिवारिक तरीका है। यह सन्यासियों के लिये नहीं है, इसलिये यह तरीका उनके लिये है जिन्हें हम संस्कृत में गृहस्थ कहते हैं; विवाहित तथा बाल-बच्चेदार आदमी जिनका पारिवारिक जीवन हो। गृह का अर्थ है घर, तो गृहस्थ वह है जिसका घर हो। मकान नहीं, मकान तो हर एक का होता है, परन्तु घर केवल एक पारिवारिक व्यक्ति का होता है।

सहज मार्ग वास्तव में गृहस्थ के लिये दिव्यता प्राप्त करने का मार्ग है। इसीलिये उस दिन मुझे इतना क्रोध आया था जब मैंने सुना कि 'ब' ने कुछ महिलाओं को अपने पतियों से और कुछ पुरुषों को अपनी पत्नियों से तलाक दिलवाया। यह अप्राकृतिक है क्योंकि बाबूजी के गुरु लालाजी, जिन्हें हम दादा गुरु भी कहते हैं, कहा करते थे कि पारिवारिक जीवन ही आध्यात्मिकता के लिये सर्वोत्तम वातावरण है, क्योंकि परिवार में ही हम प्रेम और त्याग सीखते हैं। अब अगर आपने अपनी पत्नी को तलाक दे दिया तो त्याग कहाँ? या अपने बच्चों को छोड़ दिया तो त्याग कहाँ? इसी से मुझे इतना गुस्सा आया था। क्योंकि जो वातावरण हमारे साथ होता है वह हमारी आध्यात्मिक प्रगति के लिये आवश्यक है। जिस प्रकार आम का पेड़ एक स्थान पर बढ़ता है, अगर उसे पहाड़ में लगा दो तो वह नहीं बढ़ेगा। तो हमें भी जिस प्रकार हम रह रहे हैं वैसे ही रहते हुए सन्त बनना है।

तो सहज मार्ग में यही समस्या है कि हमें साधारण जीवन व्यतीत करना है। लोगों को विवाह करना है, बच्चे पैदा करने हैं, उनका पालन-पोषण करना है, उन्हें प्यार करना है और उनके लिये त्याग करना

है। बेशक, वह भी हमारे लिये त्याग करते हैं, है न? तो परिवार पारस्परिक प्रेम को सम्भव करता है, और उस प्रेम के कारण त्याग सम्भव हो पाता है। अब सहज मार्ग के लिये यह क्यों महत्वपूर्ण है? क्योंकि तुम्हें गुरुदेव से प्रेम करना है। हाँ लक्ष्य का प्रतिनिधित्व गुरुदेव द्वारा होता है, क्योंकि हम मानते हैं कि गुरु मानव के रूप में अवतरित दिव्यता है जो हमारी सहायता करने आया है। जैसा कि बाबूजी कहा करते थे, "गणित में अगर अ, ब के बराबर है और ब, स के, तो अ, स के भी बराबर है।" तो गुरु मानव रूप में ईश्वर है। और वह मानव रूप में क्यों आता है? क्योंकि हम उस ईश्वर को नहीं पहचान सकते जो हमारे सामने उपस्थित नहीं है। तो वह ऐसे रूप में आता है जिसे हम...., उसके साथ बैठ कर, बातें कर, खाना खा कर, धीरे-धीरे उससे प्रेम करना सीख जाते हैं; इसका अर्थ यह है कि हम उसे अपने हृदय में ले लेते हैं क्योंकि यह प्रेम मानवीय प्रेम नहीं है, यह आध्यात्मिक प्रेम है जहाँ भक्त अपने गुरु को अपने हृदय में धारण कर लेता है। केवल प्रेम होने पर ही हम त्याग कर सकते हैं। अब हम गुरु के लिये किस चीज का त्याग करते हैं? क्या कोई इसका उत्तर दे सकता है? मेलगेसिस, हम गुरु के लिये किस चीज का त्याग करते हैं?

अभ्यासी - हृदय।

गुरुदेव - नहीं, नहीं, तुम हृदय का त्याग नहीं करते; हृदय में तो तुम उसे धारण करते हो। है न? तो हृदय का त्याग कैसे कर सकते हो? तुम अपना त्याग करते हो, जिसे समर्पण कहते हैं; और यह पूर्ण प्रेम के बिना असम्भव है। इस कारण पारिवारिक जीवन में हालाँकि हम सब से प्रेम करते हैं, पति, पत्नी, बच्चे, माता-पिता, चाचा, प्रत्येक से, परन्तु उनसे ऐसे प्रेम करते हैं कि मानसिक रूप में उन्हें छोड़ सकें। इस प्रकार हम परिवार में रहते हैं, उनकी देखभाल करते हैं, गुरुदेव से प्रेम करते हैं, या उनसे प्रेम करने का प्रयत्न करते हैं, और धीरे-धीरे परिवार से अनासक्ति हो जाती है। वह अभी भी हमारे हैं; हमारे बच्चे, हमारे माता-पिता, परन्तु हृदय केवल गुरुदेव का है। इस कारण मेरे गुरुदेव ने कहा, "संसार के लोगों के साथ हमारा सम्बन्ध नाममात्र ही होना चाहिये।" हमें बस इतना प्रेम होना चाहिये कि हम अपने कर्तव्य का निर्वाह कर सकें, धीरे-धीरे कर्तव्य रह जायेंगे और प्रेम गुरुदेव की ओर चला जायेगा। अब एक अति आश्चर्यजनक बात होती है। क्योंकि हमारा प्रेम गुरुदेव की ओर मुड़ जाता है और हम उस प्रेम में इतना खो जाते हैं कि हमें कुछ भी स्मरण नहीं रहता, तो गुरुदेव हमारे कर्तव्यों को अपने ऊपर ले लेते हैं। यही सहज मार्ग का चमत्कार है,

किसी भोंड़े रूप में नहीं कि तुम ऐसा करो तो तुम्हें यह मिलेगा, या तुम वह करो तो तुम वह पाओगे -- वह बहुत भोंडा है और व्यापार है। परन्तु गुरुदेव कहते हैं, "यह मेरा बेचारा प्रेमी, मेरा भक्त, हर समय मेरे बारे में सोचता रहता है (यह वह स्थिति है जिसे हम सतत स्मरण कहते हैं)। तो मुझे देखना है कि उसके काम का हर्ज न हो।"

कई बार लोग पूछते हैं, "अगर मैं हर समय गुरुदेव का स्मरण करूँ तो मेरा काम कौन करेगा?" तो यह होता है: आप अब एक मशीन की भाँति हैं, आप गुरुदेव से प्रेम करते हैं और आप का शरीर स्वत: ही कार्य करता जाता है। और चूँकि गुरुदेव आपके माध्यम से कार्य करते हैं इसलिये कार्य वैसा ही होता है जैसा वे चाहते हैं। आप यह नहीं कह सकते कि वह कार्य बिलकुल सही है, आप यह नहीं कह सकते कि वह अच्छा है, यह भी नहीं कह सकते कि वह बुरा है। वह ऐसा है जैसा होना चाहिये। यही प्रकृति का तरीका है। कुछ लोग कहते हैं, "ओह, अगर गुरुदेव यह कार्य कर रहे हैं तो यह ऐसा कैसे हो सकता है?" अब जैसे एक प्रशिक्षक कार्य करता है, उदाहरणार्थ मैं कर रहा हूँ, और एक प्रशिक्षक 'ब' की तरह हैं, और मेरे गुरुदेव ने उन्हें प्रशिक्षक बनाया। बहुत से लोग पूछते हैं, "वह ऐसा क्यों बन गया?" यह इसलिये हुआ क्योंकि उसने गुरुदेव को अपने माध्यम से कार्य नहीं करने दिया, परन्तु 'ब' ने प्रशिक्षक के रूप में कार्य किया। इसलिये वहाँ गुरुदेव के काम करने के स्थान पर वह व्यक्ति स्वयं काम कर रहा है। इस कारण उसकी सीमाएँ, समस्याएँ, असंगतियाँ उसके कार्य में झलकती हैं। प्रशिक्षक के लिये यह अति महत्वपूर्ण है कि वह गुरुदेव को कार्य करने दे।

जब मैं प्रशिक्षक बना तो बाबूजी ने मुझे बताया कि जब तुम सिटिंग (पूजा) देने के लिये बैठो तो सोचो कि गुरुदेव बैठ कर पूजा दे रहे हैं, और अगर आवश्यक हो तो यहाँ तक सोचो कि यह दाढ़ी तुम्हारे चेहरे पर है। मेरा ऐसा अनुभव है कि जितना मैं ऐसा करने में सफल हुआ, मेरा मतलब जितनी पूर्णता से मैं ऐसा कर पाया, उतना ही कार्य वैसा हुआ जैसे कि गुरुदेव ने उसे स्वयं किया हो। तो यह अत्यधिक महत्वपूर्ण है कि जब हम कार्य करें तो वे हमारे माध्यम से कार्य करें। यही बात मेरे गुरुदेव के साथ भी थी, क्योंकि वे जब कार्य करते थे तो यही सोचते थे कि लालाजी उनके माध्यम से कार्य कर रहे हैं। तो हम कार्य करते हैं, परन्तु हम नहीं करते। अगर प्रशिक्षक यह याद रखे और इस भावना से काम करे तो उसका कार्य लाजवाब होगा। तो कृपया इसे स्मरण रखिये। प्रशिक्षकों के लिये,

विशेष रूप से उनके आध्यात्मिक कार्य के लिये मैं यह कह रहा हूँ, परन्तु यह सब पर लागू होता है। जब आप खाना बनायें तो सोचें कि गुरुदेव वहाँ हैं; जब आप स्कूल में पढ़ा रहे हों तो सोचें कि गुरुदेव वहाँ हैं। ऐसे में आपको ज्ञात होगा कि आप बहुत काम कर सकते हैं, कोई थकावट नहीं होती, कोई निराशा नहीं, कोई कुण्ठा नहीं; क्योंकि वे कार्य कर रहे हैं, परिणाम भी उनका है। यह एक महान्.... कोई रहस्य तो नहीं है, परन्तु लोग इसे समझते नहीं। अब समस्या क्या है? अहं, क्योंकि हम यह अनुभव करना चाहते हैं कि, "मैंने यह कार्य किया है।" जब अहं वहाँ होगा तो गुरुदेव वहाँ नहीं हो सकते।

तो हमें अहं को गुरुदेव को सौंपना होगा, क्योंकि बिना अहं के हम जीवित नहीं रह सकते। जैसा कि मेरे गुरुदेव बाबूजी ने कहा, "अहं हमारा सबसे बड़ा मित्र है, वह हमारा सबसे बड़ा शत्रु भी है।" उसका उपयोग कैसे करें? यही समर्पण का रहस्य है, क्योंकि जब हम कहते हैं, "मैंने समर्पण किया" तो वह क्या है जिसका हम वास्तव में समर्पण करते हैं? क्योंकि आप जानते हैं कि आप बिना अपना हृदय दिये अपना शरीर दे सकते हैं, आप बिना अपना शरीर दिये अपना दिमाग दे सकते हैं, आप बिना प्रेम दिये उपहार दे सकते हैं। परन्तु जब आप अपना अहं देते हैं, तब आप भी नहीं रहते। इस प्रकार समर्पण का असली अर्थ है अपना अहं गुरुदेव को समर्पित कर देना। लोग कहते हैं, "ओह! मैं गुरुदेव के लिये कार्य कर रहा हूँ, मेरा शरीर उनका है, मेरा जीवन उनका है" जब कहते हैं, "मेरा जीवन उनका है" तब वह मेरा ही है। जब मैं कहता हूँ "मेरा जीवन" तो वह उनका कैसे हो सकता है? वह मेरा ही रहता है।

इसलिये बाबूजी कहा करते थे, "अगर एक मनुष्य या व्यक्ति कहता है 'मैंने समर्पण कर दिया है', तो उसने समर्पण नहीं किया; क्योंकि 'मैंने' समर्पण कर दिया में 'मैं' तो भी अभी भी वहीं है।" आपकी समझ में आया? तो यह कथन "मैंने समर्पण कर दिया है" कभी सत्य नहीं हो सकता, यह झूठ है। जिसने समर्पण कर दिया है उसे यह ज्ञात ही नहीं हो सकता कि उसने समर्पण कर दिया, क्योंकि इसे जानने के लिये वह तो मौजूद ही नहीं है। इसलिये ऐसा व्यक्ति जिसने गुरु को समर्पण कर दिया हो, इस संसार में केवल एक शरीर के रूप में रहता है जिसका प्रयोग उसका गुरु एक यंत्र के रूप में करता है, क्योंकि वह गुरु का ही अंश है। यह समर्पण की अन्तिम दशा है, परन्तु आध्यात्मिकता की अन्तिम दशा नहीं। इसके लिये हमें

प्रयत्न करना है और इसे प्राप्त करना है। मुझे आशा है कि मेरे गुरुदेव आप सब को सफलता का आशीर्वाद देंगे।

मेरे गुरुदेव सदैव कुत्तों की प्रशंसा करते थे, क्योंकि उनमें अत्यधिक स्वामिभक्ति होती है, और वह कहते थे, "D-O-G कुत्ता है, उसका उलटा G-O-D यानी खुदा है।" हमें भी कुत्ते की भाँति स्वामिभक्ति पैदा करना है। वह सदैव अपने मालिक के पास, उनके चरणों में रहना चाहता है। अगर मालिक जाता है तो वह उनके पीछे जाता है, वह वही खाता है जो उसका मालिक उसे देता है। तो बाबूजी कहते थे, "हमें कुत्ते की भाँति बनना चाहिये," वैसी ही भक्ति।

मेरे विचार में यह आज के लिये काफी है।

धन्यवाद।

प्रश्न और उत्तर - १

२५ सितम्बर, १९८७

उत्तर - बहुत से लोग अनुभवों को अच्छी पूजा समझने की भूल करते हैं। आप अन्त: में कुछ अनुभव करते हैं, कुछ कँपकपी, कुछ शक्ति-दिव्य झलकियाँ। बेशक यह सब होता है, परन्तु यह आध्यात्मिकता का संकेत नहीं है। आध्यात्मिकता वह है जब सब कुछ गायब हो जाता है – सब कुछ। फिर बचता क्या है? सहज मार्ग में ईश्वर की यही परिभाषा है : न बड़ा, न छोटा, न शक्तियाँ; जब आप सब सम्भव गुणों को निकाल देते हैं, फिर जो बचता है वह ईश्वर है।

क्या हुआ?

प्रश्न- उसने कहा कि पूजा के आरम्भ में उसे बहुत उदासी लगी, फिर उसे लगा कि कोई उसे छूरा मारना चाहता है, उसने उस व्यक्ति को भी देखा जो उसे छूरा मारना चाहता था और उसने उस वार से अपने को बचा लिया।

उत्तर- यह बहुत अच्छा है। उसे उस व्यक्ति से छूरे की चोट खा लेना चाहिये था। यह मन की निम्न वृत्तियों का हटना है। जब ध्यान में ऐसी बातें होती हैं तो वह अच्छी हैं। स्वप्न में भी। हमें इन चीजों से नहीं भागना चाहिये क्योंकि यह भी संस्कारों के भोग का एक तरीका है, बिना शारीरिक रूप में उन्हें भोगे। क्या यह अच्छा नहीं?

प्रश्न- (सुनाई नहीं दिया).... क्या इसका अर्थ है कि उस बिंदु पर कुछ काम हो रहा है?

उत्तर- (मुस्कराते हैं) इसका अर्थ यह हो सकता है कि कार्य हो रहा है और यह भी कि काम नहीं हो रहा।

प्रश्न- (सुनाई नहीं दिया).... क्या बिंदु हैं, एक बिंदु के बाद क्रम में दूसरा?

उत्तर- आवश्यक नहीं। वास्तव में, सहज मार्ग में यह किसी समय में कहीं भी हो सकता है, कुछ कहा नहीं जा सकता। बेशक सबसे नीचे से कार्य आरम्भ होता है, आप उस बिंदु पर कार्य को अनुभव नहीं कर पाते, परन्तु उसका अर्थ है कि आत्मा का उस चक्र से हो कर जाना। जब उस चक्र पर कार्य हो रहा होता है तब आपको उस चक्र

से सम्बन्धित गुणों का अनुभव होना चाहिये। उदाहरणार्थ द्वितीय चक्र पर आपको परम शांति का अनुभव होना चाहिये। सामान्यतः समाधि की दशा इसी दूसरे चक्र पर आती है, जबकि लोग समाधि के विषय में इतनी बात करते हैं। फिर तीसरे चक्र पर, प्राणाहुति होने पर, गर्मी लगनी चाहिये, कभी-कभी पसीना भी आता है, चाहे आप यहाँ (ठन्ड में) बैठे हैं। चौथा जल है, तो आपको शीतलता का अनुभव हो सकता है। तो हृदय क्षेत्र में इसी प्रकार चलता है। उसके पश्चात उसमें कोई ज्यादा गुण नहीं, पर कई बार रंग हो सकते हैं और दिव्य दर्शन। अगर आप डा० वरदाचारी की पुस्तक 'नया दर्शन' पढ़ें तो उसमें कुछ इन चीजों का वर्णन है। हमने अभी हाल में ही इसे फिर छापा है। आपके पास कुछ प्रतियाँ हैं?

प्रश्न- हाँ।

उत्तर- हाँ, वह उसका लघु संस्करण है।

प्रश्न- सहज मार्ग एक स्थिर पद्धति है या विकासशील?

उत्तर- न वह स्थिर है, न विकासशील है। वह एक गतिशील मार्ग है। प्रक्रिया का विकास नहीं होता, हमारा विकास होता है। हमारे विकास के लिये प्रक्रिया बदल भी सकती है। विकास केवल जीवित चीजों के लिये है, प्राणरहित चीजों का विकास नहीं हो सकता -- एक ईंट का विकास नहीं होता, मेरे जूते का विकास नहीं होता -- वे बदल सकते हैं। विकास भी बदलाव है परन्तु बदलाव विकास का एक माध्यम है। जो वस्तु बदलती नहीं उसका विकास नहीं हो सकता। परन्तु एक प्रक्रिया में, बिना विकसित हुए भी प्रक्रिया बदल सकती है। आप समझ गये? तो एक पद्धति स्थिर या प्रगतिशील हो सकती है परन्तु स्वयं पद्धति में विकास नहीं हो सकता।

प्रश्न- क्या एक प्रशिक्षक एक अभ्यासी को ध्यान के पहले शारीरिक सफाई के लिये कह सकता है, अगर उसे उससे बदबू आ रही हो तो?

उत्तर- गुरुदेव ने लिखा है कि हमें शारीरिक व मानसिक सफाई की ओर ध्यान देना चाहिये। परन्तु यह एक रीति न बन जाये कि हर व्यक्ति पहले स्नान करे और तब ध्यान के लिये आये – ऐसा नहीं है। अगर वह कर्मकाण्ड का रूप धारण कर लेता है तो धर्म बन जाता है। (वह हँसते हैं) यह प्रश्न क्यों? (हास्य) अगर कोई पीकर धुत आता है, तो हम बेशक उसे घर जाकर सोने के लिये कह सकते हैं। अभ्यासियों से पीने की आशा नहीं की जाती -- सहज मार्ग में इसकी मनाही है।

प्रश्न- क्या हम कह सकते हैं कि मानव के लिये विकास का अर्थ है चेतनता में वृद्धि?

उत्तर- यह बहुत बड़ा विषय है। मनोविज्ञान में कहते हैं कि चेतना का विकास होता है। मेरे विचार से आध्यात्मिकता में चेतना का विस्तार होता है। क्योंकि पहले आप अपने विषय में सोचते हैं -- इसे स्वार्थ कहते हैं। इसका अर्थ है कि मेरी चेतना मेरे अन्दर सीमित है; जब उसका विस्तार होता है तो वह स्वतः ही अन्य लोगों को भी अपने दायरे में ले लेती है और जब उसका विस्तार पूरी सृष्टि में हो जाता है तो पूरी सृष्टि मेरी चेतनता में है। वह उसके बाहर हो ही नहीं सकती, वह अन्दर है। तो चेतन....- नहीं.... उसने क्या पूछा था? -- विकसित होना।

प्रश्न- बढ़ना।

उत्तर- बढ़ना, उसका विस्तार हो सकता है।

प्रश्न- क्या एक व्यक्ति जो पागल है, सहज मार्ग साधना का अभ्यास कर सकता है?

उत्तर- नहीं, यह सम्भव नहीं है। आप ध्यान कैसे कर सकते हैं जब आप अपने मन को लगा ही नहीं सकते? यह तो ऐसा कहने जैसा होगा, "क्या एक मनुष्य बिना टाँगों के चल सकता है?" यह सम्भव नहीं है।

प्रश्न- समय-समय पर आने वाले संकटों के विषय में आपका क्या कहना है?

उत्तर- कैसे संकट?

प्रश्न- विक्षिप्तता।

उत्तर- नहीं, नहीं। जब आप पागल हैं, आप ध्यान नहीं कर सकते। इसका यही एक उत्तर है। इसमें संकट या असंकट का कोई प्रश्न ही नहीं। मान लीजिये आप मानसिक रूप से बीमार हुए और उसके कारण आपका मन सदा के लिये निर्बल हो गया, तो आप उसका उपयोग दोबारा नहीं कर सकते। यही बात नशीले पदार्थों की है। अगर वे मन पर असर करते हैं तो आप ध्यान नहीं कर सकते। यह ऐसे व्यक्ति की भाँति है जिसे पोलियो हुआ और टाँगें खो बैठा। वह दोबारा नहीं चल सकता।

प्रश्न- क्या एक व्यक्ति जो सहज मार्ग साधना कर रहा है पागल हो सकता है?

उत्तर- अगर कोई अन्य साधना गलत तरीके से की जा रही है तो। सहज मार्ग में यह सम्भव नहीं है। अगर आप कुछ और करते हुए सोच रहे हैं कि यह सहज मार्ग है, तो सहज मार्ग जिम्मेवार नहीं।

सामान्यतः हमारी यह सब मानसिक समस्यायें दबाव के कारण आती हैं। जैसे, आप किसी चीज पर सीमा से अधिक दबाव डालते हैं तो वह टूट जाती है। मन की भी एक सीमा होती है। अब सहज मार्ग में इसका उलटा होता है; हम सफाई द्वारा दबाव को हटाते हैं। संस्कारों को हटाने से जीवन का दबाव भी हट जाता है, और मन उत्तरोत्तर हलका होता जाता है। तो आप कह सकते हैं कि मन के लिये दो दिशाएँ हैं। मन अगर दबाव के नीचे है तो वह कुछ समय बाद पागल व बेकार हो जा सकता है। वह टूट जाता है। उदाहरणार्थ शिज़ोफ्रेनिया, जहाँ आपके कई व्यक्तित्व बन जाते हैं; जैसे एक शीशे को तोड़ने पर उसका प्रत्येक टुकड़ा सूर्य की अलग झलक दिखाता है। तो जब मन टुकड़ों में बँट जाता है तो व्यक्ति ऐसे व्यवहार करता है जैसे वह तीन या चार व्यक्ति हो, या सौ व्यक्ति हो। दूसरी ओर जब संस्कार हट जाते हैं तो मन हलका हलका तथा और हलका होता जाता है, वह ऊपर उठता है, उसका विस्तार होता है और वह दिव्य हो जाता है। इसी कारण सहज मार्ग में हम दिव्य होने की बात करते हैं।

तो वास्तव में अगर सहज मार्ग ध्यान ठीक से किया जाये और केवल सहज मार्ग ही किया जाये, तो वह हमें दिव्य बनाता है। यहाँ एकीकरण है। तो एक व्यक्ति भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की तरह व्यवहार करने के बजाय -- प्रत्येक व्यक्ति में कितने विभिन्न व्यक्तित्व एकत्रित हैं -- आप अपने पति के साथ कुछ हैं, अपने भाई के साथ कुछ, अपने पिता के साथ कुछ, अपने पुत्र के साथ कुछ और, है न? यहाँ हम भीतर-बाहर में एक ही व्यक्ति बन जाते हैं। उसे आप एक संगठित व्यक्ति कहेंगे और वह सब के साथ एक सा रहता है। ऐसे व्यक्ति के लिये न कोई दोस्त है न दुश्मन, न भाई है न अन-भाई -- आप कह सकते हैं कि उसके लिये सब एक है, न पशु न मनुष्य ही। इस कारण वह दिव्यता की ओर अग्रसर होता है, क्योंकि ईश्वर के लिये कोई भेद नहीं होता। क्या आप यह समझ गये?

मेरे विचार में यह आज के लिये पर्याप्त है।

बहुत धन्यवाद।

प्रश्न और उत्तर - २

२६ सितम्बर १९८७

....लेकिन हमें अपने आप को स्वादहीन वस्तुओं, परिस्थितियों तथा आन्तरिक अनुभवों का आदी करना है, उसके बिना समस्या हो जाती है। अगर आप एक विशेष प्रकार से उसका निरीक्षण करें तो व्यक्ति की बाहर निकलने वाली सारी प्रवृत्तियाँ केवल अनुभव खोज रही हैं। चाहे आप झील पर जायें या पहाड़ पर, सिनेमा में या शराब पीने की जगह, या नशा करें -- कुछ भी -- यह केवल एक नये अनुभव की खोज है या पुराने अनुभव को दोहराने की इच्छा। शांत लोग उन अनुभवों को दोहराना चाहते हैं जिन्हें वह अच्छा अनुभव मानते हैं; अधिक साहसी नये अनुभवों की खोज करते हैं, परन्तु दोनों एक ही चीज के पीछे पड़े हैं। और यह उन्हें खींच कर घर के बाहर, अपनी शांति के बाहर, अपने आन्तरिक स्व के बाहर ले जाता है।

प्रशिक्षकों को एक दूसरे से पूजा लेनी चाहिये, व्यक्तिगत सिटिंग। क्योंकि आपको भी दूसरे प्रशिक्षक द्वारा सफाई की आवश्यकता है। यहाँ छ: प्रिसेप्टर होंगे, तो कृपया यह आदत बना लें कि दो सप्ताह में कम से कम एक बार आप में से प्रत्येक किसी दूसरे प्रशिक्षक से पूजा लें, और हर चीज के लिये डायरी रखें। आप से आशा की जाती है कि महीने में एक बार आप मुझे अपनी डायरी भेजें, सभी प्रशिक्षक।

जब आप अनुभव की पुनरावृत्ति नहीं चाहते तो उसमें एक और लाभ है (टेप टूटा है)

याददाश्त बताती है, "वही अनुभव है।" अगर आप स्मरण शक्ति का निषेध कर देते हैं तो हर बार एक नया अनुभव, एक अद्वितीय अनुभव होता है। तो एक संत सब कुछ नया देखता है -- अद्वितीय। इस कारण उसमें एक आश्चर्यजनक की भावना होती है। किंतु स्मरण शक्ति बीच में रुकावट डालती है और कहती है यह तो वही बढ़िया चीज है, या वही कुरूप या वही बुरी चीज है -- और जीवन की सुन्दरता खो जाती है। जीवन इसलिये सुन्दर नहीं कि हम हर बार नयी चीज देखते हैं, परन्तु जब हम अनुभवों को स्मरण की छलनी से गुजारना बन्द कर देते हैं तो वह अद्भुत और आश्चर्य से भरपूर हो

जाता है। आप समझ गये? नहीं तो हम अमरीकन पर्यटकों की भाँति हैं जो एवरेस्ट पहाड़ पर खड़े होकर कहते हैं "ओ हैरी, हर प्रातः यही सूर्य तो रहता है!" (वे मुसकराते हैं) हमारा बोध समाप्त हो जाता है। हमारे मानवीय निर्णय में भी स्मरण शक्ति एक खराब चीज है। उदाहरणार्थ मान लीजिये कोई बुरा कार्य करता है और आपको वह याद रहता है। अगली बार जब आप उसके विषय में निर्णय करेंगे तो आप उसे यह याद कर के तौलेंगे कि कल इसने यह गलत किया था। इससे हमारी निर्णय शक्ति हर बार कमजोर हो जाती है। वह आज कैसा है हम उस आधार पर निर्णय नहीं कर रहे, परन्तु अपने पुराने अनुभव पर आधारित निर्णय कर रहे हैं, "नहीं, नहीं, वह एक बुरा व्यक्ति है।" इसी को हम पूर्वाग्रह कहते हैं।

तो स्मरण शक्ति ही पूर्वाग्रह का कारण है। यदि स्मरण शक्ति नहीं, तो सब कुछ बढ़िया। इसी कारण बच्चों की आँखों में विस्मय की भावना होती है। उनके लिये सब कुछ नया होता है, वह अपने ही मल-मूत्र के साथ खेल सकते हैं। उनमें कोई भद्देपन या गन्दगी का भाव नहीं होता, ऐसा कुछ भी नहीं। वह हर चीज को प्रयोगात्मक रूप में करते हैं। अब माँ कहती है, "यह मत छुओ, यह गन्दा है।" अगली बार याद कहती है, "यह गन्दा है, इसे मत छुओ।" इसी प्रकार एक के बाद एक करके हम खोते जाते हैं -- यह अच्छा नहीं, वह व्यक्ति बुरा है, यह अनुभव बेकार है, पानी गीला है, यह अग्नि है, आदि। अब क्या होता है? जीवन में कुछ विस्मय नहीं रह जाता। अब हम उसे एक बनावटी जीवन में खोजते हैं: चाय, हिमालय की चाय, चीन की चाय, लंका की चाय, भारत की चाय, या शराब या मादक द्रव्यों में, या स्त्रियों में, या घुड़दौड़ में, मोटर की दौड़ में, पहाड़ चढ़ने में, और गर्दन तोड़ लेते हैं। (हास्य) क्योंकि वास्तविक विस्मय हट जाता है तो हमें उसे कृत्रिम रूप से खोजना पड़ता है। फिर विस्मय से हम एक बनावटी जीवन की चमक-दमक में चले जाते हैं। तो आप देखते हैं कि जीवन कैसे बदल जाता है -- क्योंकि हम एक को अस्वीकार करते हैं, तो दूसरा आवश्यक हो जाता है। यह काफी गहरा विषय है, इस पूरे विषय पर सबको विचार करना चाहिये।

प्रश्न- मैं मानता हूँ कि याद हमारी दृष्टि को व हमारे सांसारिक बोध को बदल देती है। परन्तु यह स्वतः होने वाली क्रिया है, जो ऐच्छिक नहीं है।

उत्तर- कौन कहता है?

प्रश्न- वह कह रहे हैं।

उत्तर- यह सही नहीं है।

प्रश्न- उससे ऊपर कैसे उठें?

उत्तर- हमें यह सिखाया गया है कि याददाश्त बहुत महत्वपूर्ण है। स्कूल में भी हमसे कहा जाता है, "इसे याद करो, उसे याद करो; क्या तुमने पहाड़े याद किये हैं?" "नॉरमनों की विजय कब हुई?" "१०६६ ई० में।" हम अपनी याददाश्त पर गर्व करने लगते हैं। याददाश्त एक महत्वपूर्ण यंत्र बन जाती है, और इसके बदले कि हम हर परिस्थिति को अलग-अलग देखें और उसका निर्णय करें हम अपनी याददाश्त पर निर्भर करते हैं। "मैंने पिछली बार क्या किया था?" कचहरी में बैठे हुए न्यायाधीश भी यही करते हैं। आप भी सीमाकर अधिकारी के रूप में यही करते होंगे। कोई आदमी आता है, एक बार आप उसे किसी चीज के साथ पकड़ लेंगे, तो अगली बार आप कहेंगे, "सब कुछ खोलो!" -- याद। हो सकता है बेचारे के पास कुछ न हो।

तो याददाश्त.... निश्चित रूप से यह फैसला करना कि यह आवश्यक है या नहीं, सम्भव नहीं है। अब अगर आप मेरे गुरुदेव जैसे मनुष्य को देखें तो उनके लिये याददाश्त आवश्यक नहीं थी। क्यों? क्योंकि वह सीखे हुए ज्ञान अथवा अर्जित ज्ञान पर निर्भर नहीं थे। उनकी पहुँच संपूर्ण विश्व के ज्ञान तक थी। तो जब तक हमारी पहुँच वहाँ तक नहीं होती हमें शायद इस पर निर्भर होना पड़ेगा, परन्तु निर्भरता कम से कम होनी चाहिये। किंतु हमारी शिक्षा केवल तथ्यों को बढ़ाती जाती है, आँकड़े बढ़ाती जाती है, हमारे मस्तिष्क में ऐसी चीजें भरती जाती है जिनका प्रयोग हम कभी नहीं करते। तो याददाश्त पर दबाव अधिक हो जाता है। आपको मालूम है, कम्प्यूटर में जब याद की जगह भर जाती है तो वह और नहीं ले सकता। परन्तु मानव की याददाश्त असीम सी लगती है। तो हम उसमें कूड़ा भरते जा सकते हैं, जो समय की बरबादी, मेहनत की बरबादी और ताकत की बरबादी है।

प्रश्न- क्या इसलिये आप ने कहा, "अतीत को भूल जाओ?"

उत्तर- हाँ।

प्रश्न- (सुनाई नहीं दिया).... उस स्तर पर चेतन दशा में कैसे कार्य किया जाये? (सुनाई नहीं दिया)

उत्तर- क्या आप तैरते हैं? आप तैरते हैं न?

प्रश्न- हाँ।

उत्तर- जब आप पानी के अन्दर जाते हैं तो क्या आप चेतन दशा में फिर से श्वास लेने के लिये बाहर आते हैं?

प्रश्न- (सुनाई नहीं दिया)

उत्तर- हाँ, पर तब भी वह एक स्वाभाविक क्रिया है। आप यह नहीं सोचते कि अब समय हो गया है और कहते, "४० सेकेन्ड, अब मैं फिर साँस लूँ।"

प्रश्न- (सुनाई नहीं दिया)

उत्तर- हाँ, उस दशा में जो भी आपकी पहुँच में हो, वह स्वाभाविक है। जो आपके पास है उससे अधिक आप पा नहीं सकते। यह कम्प्यूटर के याद-बैंक की भाँति है, जो उसमें है आप उससे अधिक तो पा नहीं सकते। यहाँ आप धीरे-धीरे अपनी चेतना के स्तर को अधिकाधिक बढ़ाते जाते हैं और आपके लिये और ज्यादा दायरा खुलता जाता है, और जब आप में संपूर्ण विश्व की चेतना की क्षमता आ जाती है तो विश्व में सब कुछ आपको सुलभ हो जाता है, पूर्ण रूप से।

प्रश्न- क्या वह सहज स्वाभाविकता की स्थिति है?

उत्तर- स्वाभाविकता सदैव सहज अथवा प्राकृतिक ही होती है, वह बल द्वारा नहीं हो सकती।

प्रश्न- बच्चों को कैसे शिक्षा दी जाये? आपकी बतायी सही याद से या....?

उत्तर- मैंने अपने अनुभव में पाया है कि कई बहुत सफल लोगों की याददाश्त बहुत बढ़िया थी, परन्तु प्रतिभावान् लोगों की याददाश्त कमजोर थी, क्योंकि याददाश्त अनोखेपन में बाधा है। आप मैडम क्यूरी का उदाहरण लीजिये। आपको मालूम है कि रेडियम का आविष्कार कैसे हुआ था। जो किस्सा मैंने सुना है, एक फोटो की प्लेट का था। एक चाभी के ऊपर छोटा सा पत्थर का टुकड़ा रख कर उन्होंने दराज बन्द किया और घर चली गयीं। अगले दिन सबेरे, या शाम को, जब वह वापस आयीं उस फोटो की प्लेट पर रोशनी पड़ चुकी थी। अब हम कहते, "यह सम्भव नहीं, एक फोटो की प्लेट पर अँधेरे कमरे में दराज के अन्दर रोशनी कैसे पड़ सकती है।" उसने अपने मन से सब यादों को निकाल कर उस पत्थर का निरीक्षण किया जो चाभी के ऊपर था और रेडियम का आविष्कार किया।

तो आप देखते हैं कि याददाश्त मन की मौलिकता को नष्ट कर देती है। एक छोटी सी चीज जैसे खरीदारी -- "ओह, पिछली बार यह कितने की आयी थी? इसका दाम कितने रुपये है?" तो कुछ आनन्द

नहीं रह जाता। अगर मैं खुले मन से खरीदारी नहीं कर सकता तो उसमें कुछ मजा नहीं है। अगर मुझे पसन्द है और पैसा है तो मैं खरीद लेता हूँ, नहीं तो मैं परवाह नहीं करता। "नहीं, नहीं, मैंने यही सूती कपड़ा टिम्बक्टू में देखा था।" बेशक सूती कपड़ा, सूती कपड़ा है, आप और क्या देख सकते हैं? एक मेज़पोश और दूसरे मेज़पोश में क्या अन्तर हो सकता है? डिज़ाइन, रंग, सूत और बुनाई; एक को आप पापलीन कहते हैं, एक को कैम्ब्रिक, एक को टुइल और एक को कुछ और। उसकी बुनाई पर निर्भर कितने नाम। परन्तु सूती तो सूती है। तो याद आती है, "नहीं, नहीं, मुझे इस रंग में वही डिज़ाइन चाहिये जो मैंने उस दुकान में देखा था।" यह तो ऐसा कहने जैसा है, "मुझे उतना ही बड़ा सूर्य चाहिये जैसा भारत में सूर्यास्त के समय होता है।" वह आपको नहीं मिलेगा क्योंकि समान अक्षांश में ही आपको वैसी चीज मिलती है। तो याद मजा बिगाड़ देती है। आप खाने के लिये जाते हैं और आप टमाटर का सूप पीते हैं। अगर आप उसके विषय में न सोचें तो आपको सूप अच्छा लगेगा। अगर आप सोचें, "मेरी-औड ने मुझे टमाटर का सूप दिया था जो इससे गाढ़ा था, इसने मुझे पतला सूप दिया है, और उन्होंने मुझे वैसा सूप दिया जो ज्यादा कड़ुवा था।" बजाय भोजन का स्वाद लेने के आप उसकी बौद्धिक नाप-तौल कर के उसका मजा खराब कर रहे हैं। और यह फिर याद के कारण है। तो याददाश्त ठीक है, हमें कई चीज़ें करनी पड़ती हैं जहाँ याद आवश्यक है, परन्तु बेहतर यह होगा कि हम याददाश्त को अपने जीवन में अड़चन न डालने दें।

कहते हैं कि एक युवा विद्यार्थी ने आइन्स्टाइन से प्रकाश का वेग पूछा। उन्होंने उत्तर दिया, "मैं तुम्हें देख कर बताऊँगा।" उस युवक ने कहा "आप नोबल पुरस्कार के विजेता हैं और आपको प्रकाश का वेग नहीं मालूम।" उन्होंने उत्तर दिया, "जो तथ्य मुझे पुस्तकों में मिल सकते हैं उन्हें मुझे ढोने की आवश्यकता नहीं है। मैं जानता हूँ कि वे कहाँ मिलेंगे, मैं देख कर उनका पता लगा लेता हूँ। मैं अपने दिमाग को अनावश्यक तथ्यों से क्यों बोझिल करूँ।" अब यह इशारा है कि हम वही याद रखें जो पुस्तकों में नहीं मिल सकता। वह क्या है जो आपको पुस्तकों में नहीं मिल सकता? उच्च ज्ञान, इसे याद रखें। आपको किसे याद रखना है? 'उसे' जिसे तुम शायद पुनः कभी न पा सको, न पुस्तकों में, न इतिहास में, न भूत में, न भविष्य में -- गुरुदेव। उन्हें याद रखो। अब उन्हें याद करने से क्या लाभ? क्योंकि जब मैं उन्हें याद करता हूँ तो मैं उन्हीं की भाँति बन जाता हूँ। फिर जो

कुछ उनका है वह बिना कमाये मेरी पहुँच में आ जाता है। जैसे एक लखपति के बेटे को बिना कमाये अपने पिता के लाखों पर अधिकार होता है। उसे कुछ कमाना या सीखना नहीं पड़ता। तो यही रहस्य है। दुर्भाग्यवश हमारी शिक्षा में याददाश्त के महत्व को बढ़ा चढ़ा कर बताया जाता है जिसके कारण हम दुःख भोगते हैं।

प्रश्न- जिसे हम भविष्य की याद कहते हैं, क्या उसके बारे में भी ऐसा ही कुछ है?

उत्तर- मेरे विचार में बोनास्ख़ में टहलते हुए हम इस विषय पर चर्चा कर चुके हैं। मैंने आपसे प्रश्न पूछा था कि अगर हमें भूतकाल की याद रहती है तो हमें भविष्य की याद क्यों नहीं हो सकती? यहाँ हमारा मन बीच में अड़चन डाल कर कहता है, "मैं केवल वही याद रख सकता हूँ जो हो चुका है।" परन्तु यह पूरी तौर पर युक्तिसंगत धारणा नहीं है। यह केवल एक धारणा है। जो कभी नहीं हुआ उसे मैं क्यों नहीं याद कर सकता? यह एक सांस्कृतिक समस्या भी है कि वही याद रह सकता है जो हो चुका है, है न? तो फिर आप यह भी कह रहे हैं कि केवल वही आनन्द अनुभव किया जा सकता है जिसे आप पहले अनुभव कर चुके हों। तो एक नये आनन्द का जन्म कैसे होता है? अगर वह हो सकता है तो भविष्य की याद भी सम्भव है। (मुस्कराते हैं) हो सकता है यह बकवास हो पर यह मेरे सोचने का ढंग है। मेरी समझ में नहीं आता कि ऐसा क्यों नहीं हो सकता। बहुत बार आपको कुछ दिखायी देता है। अब वह कहाँ से आता है? मेरा मतलब एक वास्तविक अनुभव या दर्शन से है, क्योंकि उसमें अधिकतर अतीत की मद्धिम यादें होती हैं।

इस प्रकार की बहुत सारी बातें हैं, जैसे मैं किसी अभ्यासी को देखता हूँ और मुझे लगता है मैंने उसे पहले देखा है, परन्तु इस जीवन में नहीं। इनमें से कुछ को पहले देखने की संभावना ही नहीं है, फिर भी वह जाने-पहचाने लगते हैं। तो यह पहचानने की भावना कहाँ से आती है? और यह बढ़ रही है। हालाँकि वे बिल्कुल नये लोग होते हैं परन्तु मुझे यह पहचानने की भावना मन में और अधिक आती है। अगर वह यूरोप का है तो कम से कम मैं कह सकता हूँ हो सकता है मैंने उसे किसी हवाई अड्डे या रेलवे स्टेशन पर देखा हो; परन्तु कुछ मलागावासी हैं जिन्हें मैंने पहले कभी नहीं देखा क्योंकि वह कभी टैनेनरिव से बाहर नहीं गये और मैं पहले यहाँ कभी नहीं आया....। आप एक पक्का उदाहरण लीजिये; जब लालाजी यह जानना चाहते थे कि उनका

उत्तराधिकारी कौन बनेगा तो उन्होंने ध्यान किया और बाबूजी उनके सम्मुख प्रकट हुए।

तो भविष्य को वर्तमान में लाना सम्भव है, और एक प्रकार से हम सभी यह करने का प्रयत्न कर रहे हैं। हम कल की सम्पत्ति को आज पाने का प्रयास कर रहे हैं। यह भविष्य को वर्तमान में लाने के सिवाय और क्या है? यह तथ्य कि आप उसको कल की सम्पत्ति समझ रहे हैं, केवल याद है क्योंकि अभी उसका अस्तित्व नहीं है। तो इस अर्थ में यह वर्तमान में भविष्य की याद है। (मुस्कराते हैं) इसमें असम्भव क्या है? तो बोनास्ख्र में एक सुबह घूमते हुए हमने इसी पर चर्चा की थी, इस तरह नहीं परन्तु दूसरी तरह से।

तो आप देखते हैं कि यह एक मानसिक रोक है कि हम केवल अतीत को याद कर सकते हैं भविष्य को नहीं। हमें ऊपर उठना है; जैसे आप हेलीकॉप्टर में सड़क से ऊपर उठते हैं तो आपको सब कुछ दिखायी देता है। आपको सामने दिखायी देता है, पीछे दिखायी देता है, दाहिने दिखायी देता है, बायें दिखायी देता है। उस द्विविमीय तल में सब कुछ दिखायी देता है, जब आप उस तल से भिन्न आयाम में होते हैं। किंतु जब आप उसी तल में होते हैं तो आप पीछे नहीं देख सकते, केवल सामने देख सकते हैं, या आप केवल दाहिने देख सकते हैं, बायें नहीं; है न? इसी प्रकार यदि आप समय के आयाम से ऊपर उठ सकें तो भूत, वर्तमान, भविष्य, सब कुछ वहीं है। अब यह भविष्य की याद भी नहीं है, भविष्य वर्तमान में ही है। तो आप देखते हैं कि यह सब इतना अविश्वसनीय या असम्भव नहीं, जितना लगता है। पहली आवश्यकता है कि हम इस सम्भावना को स्वीकार करें। जब हम कहते हैं कि कुछ असम्भव है तो हम अपने आगे रुकावट खड़ी कर देते हैं।

प्रश्न- क्या सतत स्मरण भविष्य को वर्तमान में ला सकता है?

उत्तर- नहीं। अब इन चीजों को नाम न दो। कोई चीज लाती है -- सब कुछ लाता है।

प्रश्न- क्या यह स्थिति काल, देश व कारण के परे है?

उत्तर- हाँ, वह इन सब से परे है। जो भविष्य में है उसे कारण कैसे प्रभावित कर सकता है? तो वह स्वत: ही कारण से परे है। तब वह भविष्य में भी कैसे घटित होगी? इसका अर्थ यह है कि सब कुछ स्वतंत्र रूप से अस्तित्व में है, हमारे मन में यह एक कृत्रिम विचार है कि हम किसी घटना का कारण हैं। यही कृष्ण ने गीता में कहा है। जब युद्ध आरम्भ होने को है और अर्जुन लड़ने से इनकार करता है,

वह कहता है, "वे मेरे भाई-बन्धु हैं, मेरे चाचा-ताऊ हैं, मेरे ससुर हैं। इन सब लोगों की मैं कैसे हत्या कर सकता हूँ?" तो कृष्ण कहते हैं, "तुम उन्हें मारने वाले कौन होते हो? वे तो पहले ही मर चुके हैं।" आप देखें, वे जीवित हैं, परन्तु वह कहते हैं कि वे मृत हैं। मृत किस प्रकार? क्योंकि अपने संकल्प में उन्होंने उन्हें मरा हुआ कह दिया है। जब दिव्य संकल्प कुछ समाप्त करता है तो वह सब के लिये समाप्त हो जाता है।

अब आशीर्वाद क्या है? आप किसी महान् व्यक्ति या सन्त के पास जाते हैं, आशीर्वाद के लिये -- आशीर्वाद क्या है? जब वह कहते हैं, "ऐसा होगा," तो वैसा होता है। तो क्या यह आपके जीवन के कारण-कार्य के क्रम में उनके द्वारा दखलन्दाजी नहीं है? है न? तो आपका जीवन निश्चित नहीं। कोई और उसे बदल सकता है, इसलिये हम उनके पास जाते हैं। "नहीं, नहीं, मेरा भाग्य निश्चित है, मेरे पिता ने मेरा निर्माण किया और मैंने अपने बच्चों का, और कारण तथा परिणाम सदैव दृढ़ रूप से कार्य करते हैं। यही विज्ञान कहता है।" तो ऐसे ही जियें। आप अपनी ही विचार-धारा के दास हैं।

यह तथ्य कि हम अपने को सुधारने में लगे हैं, बताता है कि हम इस बदलने की सम्भावना को मानते हैं, जिसका अर्थ है कारण व परिणाम के सम्बन्ध से पार पाना, नहीं तो यह सब करने का कोई तर्क नहीं। बुद्धि कहती है, "यह असम्भव है," दिल कहता है, "मूर्ख मत बनो! यह सम्भव है।" तो बाबूजी कहते हैं, "दिल की बात सुनो।" समझे? तो बुद्धि के लिये सब कुछ निर्धारित है, परन्तु हृदय के लिये सदैव पूर्णतः खुली स्थिति है: जिसका अर्थ यह है कि वह दिव्य है, क्योंकि दिव्यता के लिये आप यह नहीं कह सकते कि कोई भी चीज निर्धारित है। क्योंकि दिव्य निर्धारित नहीं किया जा सकता। तो केवल ऐसे व्यक्ति के लिये जिसका दिल ऐसा हो, आप कह सकते हैं वह दिव्य है। और केवल ऐसा ही व्यक्ति कह सकता है, जैसा बाबूजी ने कहा, कि बिना परिणाम के कारण हो सकते हैं और बिना कारण के परिणाम हो सकते हैं। अत्यन्त रोचक विषय।

प्रश्न- मास्टर, भविष्य का दर्शन.... होता है जब हम....

उत्तर- मेरा अपना विश्वास है कि भविष्य का दर्शन जैसी कोई चीज नहीं है। यह ऐसा दर्शन है जो मेरा दिल कहता है कि सम्भव है। तो उस अर्थ में वह पहले से ही है।

प्रश्न और उत्तर - ३

उत्तर- और वापस। अब विज्ञान भी इस भौतिक माध्यम को हटा देने की ओर इशारा करता है, है न? अब आत्मा व ज्ञान के बीच में जो मध्यस्थ है कसूर तो उसका है। यह एक टेलीफोन एक्सचेंज की भाँति है। आपके पास टेलीफोन है, मेरे पास एक टेलीफोन है, दोनों के बीच में एक एक्सचेंज है। अब इसकी आवश्यकता क्या है?

प्रश्न- क्या यह वस्तु चित्त है?

प्रश्न- चित्त चेतना है।

उत्तर- चित्त चेतना है। हाँ उसे चेतना कहते हैं। हम मानते हैं कि चेतना और ज्ञान की वस्तु के बीच में एक समझाने वाले माध्यम का होना आवश्यक नहीं है। यह (सिर की ओर इशारा करते हुए) एक समझाने का माध्यम है। यदि यह सही कर के देता है और फिर आप उसके अनुसार कार्य करते हैं, और अगर यह गलत होता है तो सब कुछ गलत हो जाता है। उदाहरणार्थ आप किसी आदमी की बिसात आँकने के लिये अपनी बुद्धि का प्रयोग करते हैं। हो सकता है आप बिलकुल गलत हों। आपको मालूम है हैदराबाद के निजाम अपने समय में संसार के सबसे मालदार व्यक्ति थे, मेरा मतलब यह माना हुआ या लिखित तथ्य है। और वह संसार में सबसे मूर्खतापूर्ण कपड़े पहनते थे -- गन्दा पाजामा, गन्दा कुरता। कहा जाता है कि वह कभी-कभी अज्ञात रूप से किसी दुकान में जाकर कोई दामी कपड़ा माँगते। दुकानदार उन्हें यह कपड़ा दिखाता भी नहीं। वह कहता, "तुम उसे क्या खरीदोगे? पहले मुझे पैसा दिखाओ।" अब यह निर्णय (सिर की ओर इशारा कर) इस पर आधारित है। अब यदि आपका हृदय विकसित हो चुका हो तो आप अन्तर्बोध से जान जायेंगे कि किसका आदर करना है और क्यों। नहीं तो बाबूजी जब शाहजहाँपुर की सड़कों पर चलते थे, तो कोई भी उनकी योग्यता नहीं जानता था, क्योंकि उन्होंने इन आँखों से देखा और इस सिर से निर्णय किया। उनमें से कुछ कहते, 'जय राम', और वह भी कह देते, 'जय राम', बस। हृदय को विकसित कर के आप बहुत पाते हैं.... यह एक दूसरी तरह की सम्पत्ति है। परन्तु इसे (सिर) विकसित कर आप केवल धन-सम्पत्ति बनाते हैं और वहाँ भी आपका निर्णय गलत हो सकता है।

प्रश्न- परन्तु यह समझना कि हृदय कैसे विकसित किया जाय सरल नहीं।

उत्तर- हाँ, ध्यान द्वारा। जब आप एक अँधेरे कमरे में रोशनी लाते हैं, तो आप क्या कर रहे हैं? आप उसे प्रकाशित कर रहे हैं। जब आप ध्यान द्वारा हृदय में प्रकाश की स्थापना करते हैं, तो आप क्या कर रहे हैं?आप उसे प्रकाशित कर रहे हैं। प्रकाश का अर्थ है आध्यात्मिक प्रकाश। जैसे-जैसे यह उपस्थिति विकसित होती है, यह आपके अस्तित्व को भर देती है, और फिर अस्तित्व से भी अधिक को भर देती है। एक दिन वह पूरे विश्व को भर देती है, फिर आप कहते हैं आप एक सार्वभौम व्यक्ति हैं, ब्रह्माण्डीय, परा ब्रह्माण्डीय हैं। जैसा कि मैंने डेनमार्क में कहा था, ऐसे व्यक्ति के अन्दर सब कुछ है। अब मेरी चेतना मुझमें बन्द एक छोटी सी वस्तु है जो बाहर निकलना चाहती है। पर जब मेरी चेतना बाहर निकल जाती है तब वह पूरी सृष्टि में व्याप्त हो जाती है, और सब कुछ मेरे अन्दर होता है। फिर मेरे जानने का या प्राप्त करने का, पाने का या खरीदने का प्रश्न ही कहाँ उठता है? फिर सब कुछ मेरा है, जैसे कि मैं कहता हूँ, "मेरा पेट।" वह मेरा पेट क्यों है? क्योंकि वह मेरे अन्दर है। मेरा दिल, क्योंकि वह मेरे अन्दर है, है न? अगर वह बाहर है तो मैं ऐसा नहीं कह सकता, क्योंकि वह चोरी हो सकता है, वह नष्ट हो सकता है, खो सकता है।

प्रश्न- मैंने यह अनेक बार सुना परन्तु कभी समझ में नहीं आया। केवल इस आखिरी महीने में मुझे समझ में आया कि हम हृदय से कैसे सुन सकते हैं।

उत्तर- इसी प्रकार आप एक सार्वभौम व्यक्ति बन सकते हैं और एक सार्वभौम भाईचारे की स्थापना हो सकती है क्योंकि सब आपके अन्दर हैं। आप किसी के विषय में अलग विचार नहीं कर सकते क्योंकि सब आपके अन्दर हैं। क्या मैं अपने दिल के साथ पेट से बेहतर व्यवहार कर सकता हूँ? "नहीं, नहीं, मैं अपने दिल से प्रेम करता हूँ, मैं अपने पेट की अवहेलना करूँगा," - मैं जीवित ही नहीं रह सकता। या, "मेरा पेट मेरा पोषण करता है, इसलिए मैं पेट का ध्यान रखूँगा और दिल की अवेहलना करूँगा।" मेरा जीवन ही समाप्त हो जायेगा, है न? यहाँ भी एक आध्यात्मिक व्यक्ति के लिये, जिसकी चेतना ने सारे ब्रह्माण्ड को अपने में समेट लिया हो, सब आवश्यक है। इसी अर्थ में बाइबिल कहती है, "एक चिड़िया के गिरने का भी 'उसे' पता है" क्योंकि वह 'उसमें' गिर रही है। अगर मेरा दिल रुक जाता है

तो यह मेरा दिल है जो रुकता है, मुझे तुरन्त मालूम पड़ जाता है। मेरे पेट की तकलीफ मुझे तुरन्त पता चल जाती है, आपके पेट की तकलीफ मुझे नहीं मालूम हो सकती। परन्तु जब पूरा ब्रह्माण्ड आपके अन्दर है, तो आपको सब मालूम होगा ही। और आपको उन सब की चिन्ता है, क्योंकि वे आपके अन्दर हैं। वह केवल ज्ञान की ही बात नहीं, चिन्ता की बात हो जाती है।

अब इसके साथ (सिर की ओर इशारा करते हुए) हमें जानकारी होती है, पर हमें चिन्ता नहीं होती। हम सब जानते हैं कि गरीब लोग हैं, परन्तु हमें इसकी कोई परवाह नहीं होती, क्योंकि वह इथिओपिया के हैं या काले हैं। इसलिये इटली में तीन सौ टन पनीर को नष्ट किया जा सकता है – इथिओपिया के लोग भाड़ में जायें। हम संयुक्त राष्ट्र में कुछ आँसू बहा लें या (सुनाई नहीं दिया) सड़े हुये दूध की एक किश्त वहाँ भेज दें जो कि अमरीकन बच्चे नहीं खा सकते -- और हम अपनी गोरी चेतना को संतुष्ट कर सकते हैं कि संसार के विकसित देशों ने इथिओपिया के कल्याण में सहयोग दे दिया है। यह झूठ है।

हाँ? (टेप टूटा है)

उत्तर- एक भारतीय के लिये शायद हाँ। (हास्य) बौद्धिक क्षेत्र में वे प्रतिभावान् हैं। परन्तु यह मुद्दा नहीं है। बुद्धि एक क्षमता है; जैसे स्वास्थ्य एक क्षमता है; अब सब लोग स्वास्थ्य के पीछे तो नहीं पड़े हैं। है न? उस हद तक हम सब बुद्धि चाहते हैं। मेरे विचार में महात्मा गाँधी थे जिन्होंने कहा था कि यह आवश्यक नहीं कि हर व्यक्ति शिक्षित हो, हर व्यक्ति शिक्षित क्यों हो? सभी कालेज से बी०ए० पास हों इसकी क्या आवश्यकता है? किसान को उतनी शिक्षा की कोई आवश्यकता नहीं। तो आप शिक्षा पर पैसा क्यों बरबाद कर रहे हैं। फिर आप उन्हें गाँव से, खेती से दूर शहर में भेजेंगे जहाँ वे ३० रुपये में या ५० रुपये में क्लर्क का काम करेंगे। इस प्रकार गाँव से लोग शहर को जाने लगेंगे, खेती बरबाद होगी, शहर में ज्यादा आबादी हो जायेगी, वहाँ काफी नौकरियाँ नहीं होंगी, वहाँ अपराध, भ्रष्टाचार और अत्याचार बढ़ जायेंगे। बहुत समझदारी की बात है।

प्रश्न- परन्तु यह ऐसी बात है जो किसी एक व्यक्ति के नियन्त्रण के बाहर है?

उत्तर- नहीं यह ऐसी बात है जो भली भाँति नियन्त्रण में रहेगी, अगर प्रत्येक व्यक्ति इसे समझ जाये और कहे, "मैं जो कर रहा हूँ उसके लिये मुझे शिक्षा की आवश्यकता नहीं है। मुझे उसकी आवश्यकता तब है जब मैं वैज्ञानिक या वकील या डाक्टर बनना चाहूँ। जीवन की

साधारण चीजों के लिये मुझे इतनी शिक्षा की आवश्यकता नहीं है, मैं संतुष्ट हूँ।" जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को घर में पुस्तकालय की आवश्यकता नहीं, प्रत्येक व्यक्ति के पास टेलीविज़न या वी० सी० आर० नहीं होता। प्रत्येक व्यक्ति स्वस्थ नहीं होता, हम स्वास्थ्य की खोज में नहीं रहते। परन्तु प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा की इच्छा है क्योंकि हम गलती से शिक्षा को आय का और जीवन के एक अच्छे स्तर का माध्यम समझ बैठे हैं। अब आप व्यापारियों को देखिये, उनमें केवल कुछ ही इतने शिक्षित हैं कि उस सम्पत्ति के योग्य हों। परिस्थितियों ने उनका साथ दिया! वे बाजार के साथ खेलते हैं और अत्यंन्त धनी बन जाते हैं। और असली लोग जिन्होंने सारा काम किया, अनुसंधान किया, बिरले ही धनी बनते हैं, क्योंकि वे अभी भी अपनी परियोजना पर कार्यरत हैं। अब आप कृषि में कभी भी करोड़पति नहीं बन सकते क्योंकि उसकी मजदूरी बँधी हुई है। अगर थोड़ी ज्यादा पैदावार हो जाये तो थोड़ा अधिक पैसा मिल जायेगा। फिर बाजार और माल का नियम है, माँग और पूर्ति का नियम। परन्तु व्यापार में यह विचित्रता है, किसान को नहीं मिलता, पर व्यापारी को मिलता है। अब आप जानते हैं अमेरिका में सब से शक्तिशाली लॉबी★ कृषि की है, न कि मोटरकार कर्मियों के यूनियन की। क्योंकि इसमें इतने अधिक लोग लगे हुए हैं, और उनके इतने सारे वोट हैं। तो शिक्षा में भी, स्वास्थ्य की भाँति या और चीजों की भाँति, हमें विवेकपूर्वक देखना चाहिये कि हम क्या करने जा रहे हैं; जैसे तैरना – यह आवश्यक नहीं कि सब तैरें? ज़ो तैरना चाहता है वह तैरता है।

प्रश्न- परन्तु अगर आप नौकरी के बाजार के विषय में सोचें, अगर मैं फ्रांस का उदाहरण लूँ, तो किसी भी नौकरी के लिये अब वे डिप्लोमा चाहते हैं।

उत्तर- वह इसलिये है कि वह छाँटना चाहते हैं, न कि चुनना। अब शिक्षा छँटनी का एक माध्यम बन गयी है। जब एक पी.एच.डी. एक विक्रेता की नौकरी कर के मक्खन और पनीर बेचता है तो वह योग्यता उसके लिये आवश्यक नहीं।

प्रश्न- इसीलिये मैं कह रहा था कि यह व्यक्ति के नियंत्रण से परे है।

उत्तर- नहीं, नहीं, यह केवल इसलिये है कि बहुत ज्यादा लोग बी.ए. हैं, बहुत ज्यादा पी.एच.डी. हैं, एक पी.एच.डी. अपना अनुसंधान करने

★ संसद में जोर लगाने के लिये गुट

के बजाय मक्खन और पनीर बेचने को तैयार है। अब उसने पी.एच.डी. क्यों की? यह पैसे की बरबादी है।

प्रश्न- अब अगर व्यक्ति सड़क पर झाड़ू लगाना चाहता है तब भी वे कहते हैं कि उन्हें इतने वर्ष की शिक्षा आवश्यक है। नहीं तो वे उन्हें नहीं लेंगे।

उत्तर- आप इस क्षण की सोच रहे हैं और मैं अतीत की। जब शिक्षित लोग उपलब्ध हैं और अशिक्षित लोग उपलब्ध हैं, तो इस अन्तर को छलनी के रूप में प्रयोग कर के वे छँटाई करते हैं। या जैसे भिन्न ढंग, जैसे आपका टाइपराइटर, जब उसमें कार्य करने का एक ही तरीका है तो आप उसी से कार्य करते हैं, जब उसमें छः भिन्न तरीके हैं तो आप छपाई के रूप के साथ खिलवाड़ करते हैं। अधिकतर समय आप इन मशीनों से कार्य करने के बजाय इनसे खिलवाड़ करते हैं, है न ? तो वे भी खिलवाड़ कर रहे हैं। अब राजनीति में वह बी०ए० या पी०एच-डी० की तलाश क्यों नहीं करते? बताइये। वे शासक हैं, जो लोग शासन करते हैं। क्या कोई ऐसा नियम है जो कहता है कि फ्रांस के राष्ट्रपति का ग्रेजुएट होना आवश्यक है?

प्रश्न- परन्तु वे अधिकतर हैं।

उत्तर- नहीं, अधिकतर नहीं हैं। अधिकतर धनवान हैं, राजनीति में पैसे द्वारा आते हैं। वे अपने वोट पैसे द्वारा प्राप्त करते हैं।

प्रश्न- हो सकता है भारत में ऐसा हो। फ्रांस में उनके....

उत्तर- अधिकतर देशों में होता है। फ्रांस शायद....

प्रश्न- फ्रांस में वे राजनीति-विज्ञान, अर्थशास्त्र आदि का अध्ययन करते हैं।

उत्तर- सब नहीं। आप के यहाँ भी ऐसे लोग हैं जिन्होंने कुछ नहीं पढ़ा। उदाहरण के लिये उनकी कोई सेवा निवृत्ति की आयु नहीं है, है न?

प्रश्न- अपवाद होते हैं।

उत्तर- नहीं, नहीं, अपवाद इसलिये हैं कि शासक होने के कारण वह अपने को नियमों के परे रखते हैं।

प्रश्न- हाँ।

उत्तर- इसलिये नहीं कि कानून ने उनके लिये छूट दी है। वे स्वयं नियम निर्धारित करते हैं। अब अगर राष्ट्रपति मितराँ यह नियम बनायें कि राष्ट्रपति का I.Q. (बुद्धि) इतना होना चाहिये और उसकी इतने वर्ष की विश्वविद्यालय की शिक्षा होनी चाहिये; क्योंकि उन्हें शायद यह

प्राप्त हो, परन्तु अगले मनुष्य को यह प्राप्त न हो तो वह सत्ता में आते ही तुरन्त यह नियम बदल देगा। वह डिग्री की किस लिये जरूरत समझता है? "यह वैज्ञानिकों व पादरियों के लिये ठीक है। हमारे लिये नहीं। वह मध्यवर्गियों के लिये है। हम शासक हैं, मध्यवर्गीय नहीं, हम श्रमजीवी नहीं – हम और कुछ नहीं, हम शासक हैं।" शासक दोनों नहीं होते। यह पुराना सिद्धान्त है कि राजा कभी गलती नहीं कर सकता। राजा को शिक्षा की आवश्यकता नहीं थी। उन्हें केवल शासन करना था। इसी कारण उनके मंत्री होते थे। यह करोड़पति व्यवसायी की भाँति है, वह प्रतिभावान् व्यक्तियों को नौकरी पर रखता है, उन्हें वेतन देता है और स्वयं पैसा बनाता है।

प्रश्न- मेरी समझ में कुछ ऐसे चिह्न दिखायी देते हैं जहाँ इसका उलटा करते हैं। मैंने कुछ कम्पनियों का सुना है जो अधिक पढ़े-लिखे को लेने से इनकार करती हैं, क्योंकि उनका यह अनुभव था कि कुछ समय बाद वे थक जाते हैं।

उत्तर- वे थक जाते हैं।

प्रश्न- यह तो है, अगर आप....

उत्तर- हाँ, अब हम इन सब बातों की ओर जागृत हो रहे हैं, अन्ततः....

प्रश्न- .... आपकी बात ठीक है, परन्तु कुछ जगह वह ऐसा कर रहे हैं क्योंकि अतीत में उन्हें बुरा अनुभव हुआ है।

उत्तर- नहीं, नहीं, बौद्धिक थकावट भी उतनी ही प्रचलित है जितनी शारीरिक थकावट। अब ऐसा क्यों होता है कि परीक्षा के दौरान या उसके पश्चात कई विद्यार्थी टूट जाते हैं? क्योंकि वे दबाव में होते हैं। दबाव क्या है? आर्थिक दबाव। अगर मैं अच्छे नम्बरों से उत्तीर्ण न हुआ तो अगले स्तर की शिक्षा में नहीं लिया जाऊँगा। और अगर ऐसा न हुआ तो मुझे नौकरी नहीं मिलेगी। जैसा कि आपने कहा था एक सफाई करने वाले को भी ग्रैजुएट होना पड़ता है। अगर वह ग्रैजुएट भी न हुआ तो उसे क्या मिलेगा। तो यह दबाव लोगों को दीवाना बना दे रहा है। ऐसे में वे नशे की ओर चले जाते हैं। जैसा कि आपको मालूम है, युद्ध के दौरान हवाई जहाज के चालक उत्तेजक गोलियाँ लेते थे ताकि उन्हें नींद न आ जाये। परन्तु ऐसे कुछ धावों पर जाने के बाद वे ढह जाते थे; और उन्हें स्वास्थ्य लाभ के कैम्प में छः दिन बिताने पड़ते थे। तो आप प्रकृति से इस प्रकार खिलवाड़ नहीं कर सकते।

फिर हम बाबूजी जैसे मनुष्य के पास आते हैं और कहते हैं, "बाबूजी क्या आप मुझे बता सकते ....।" वे प्रश्नों के उत्तर देते हैं, और वे बहुत सी ऐसी चीजें करने की क्षमता रखते हैं जो वैज्ञानिक नहीं कर सकते, डाक्टर नहीं कर सकते, राजा नहीं कर सकते, और हम उनके चरणों में जाकर रोते हैं। क्यों? यह इस तथ्य का स्वीकार करना है कि यह सब चीजें आवश्यक हैं, है न? अगर आपके पास वह है जो उनके पास है, तो यह सब चीजें केवल मूर्खता हैं। हम इसे नहीं चाहते। हम जो कर रहे हैं केवल उसमें उनकी सहायता करना चाहते कि हमें भी अपने जैसा बना दें। और इसी में समस्त आध्यात्मिक पद्धति की भ्रामकता है। फिर हम कहते हैं कि हम प्रगति नहीं कर रहे हैं। किस चीज में प्रगति? उसमें नहीं जिसमें वह हमारी प्रगति चाहते हैं। हम प्रगति उसमें चाहते हैं जो हम कर रहे हैं। दो परस्पर विरोधी चीजें। इसीलिये वे कहते हैं, "अपना अस्तित्व भूल जाओ।" है न? जब उनका अस्तित्व प्रकट होता है आपका अस्तित्व उसी क्षण कृत्रिम हो जाता है। सहज मार्ग में यह मानक बात है। अपनी सृष्टि को नष्ट करो तो उसकी सृष्टि उत्पन्न हो जाती है; और उनकी सृष्टि वह है जो वे चाहते हैं। मेरी सृष्टि तो ईंट और पत्थर और मोटर गाड़ियों का यह साम्राज्य है — शक्ति।

प्रश्न- अच्छा हो अगर इस पद्धति में गैरलचीले और सख्त निर्देश या मार्ग दर्शन हों। इसके विपरीत हमसे समझने के लिये या अपनी बुद्धि का प्रयोग करने के लिये कहा जाता है।

उत्तर- किसने बताया कि आपसे बुद्धि प्रयोग करने के लिये कहा जाता है? मानक विधि यह है कि अपने गुरु को खोजो, उसकी परीक्षा लो और तब उसे स्वीकार करो। फिर अपने आप को उसके साथ दृढ़ता से बाँध लो। यही बाबूजी ने कहा है। उसके बाद आपको सोचने की आवश्यकता ही नहीं, क्योंकि वह सोचता है। जैसा कि मैंने आपसे आरम्भ में कहा था, हम केवल तब तक सोचते हैं जब तक गुरु नहीं मिल जाता। उसके बाद मैं क्यों सोचूँ? यह एक नाव में या हवाई जहाज में चढ़ने की तरह है। मुझे केवल यह विचार करना है कि मैं वहाँ कैसे पहुँचूँ, किस समय टैक्सी को बुलाऊँ, हवाई अड्डे पर नोट गिनने में वह कितना समय लगायेंगे। तीन या चार बार हमें नहीं मालूम। जाने का यह पक्का करने के लिये कि आपने क्या घोषणा की है और उसमें से क्या बदलता है वे और भी जाँच करेंगे। एक बार मैं हवाई जहाज में बैठ गया, फिर मैं क्यों सोचूँ? "नहीं। नहीं, क्या

जहाज ठीक राह पर चल रहा है? ठीक है, मेरे पास एन्डोरा में खरीदा हुआ कम्पास है, क्या हम सही राह पर हैं?

उत्तर- उत्तर पश्चिम होना चाहिये।" हो सकता है वह बादल से बचने के लिये हट कर जा रहा हो।

प्रश्न- तो समस्या पहुँचने की है?

उत्तर- देखिए - हमें एक सीमित... मुझे अपने एक सीमित लक्ष्य के बारे में विचार करना है – एक सीमित लक्ष्य कि मुझे स्वयं कहाँ तक पहुँचना है। जैसे मुझे यहाँ से टैक्सी स्टैण्ड तक पहुँचना है, क्योंकि यहाँ कोई फोन नहीं है, है न? इस भाव में — "मैं वहाँ कैसे पहुँचूँ?" यह मुझे अत्यन्त ध्यान पूर्वक विचार करना है। एक बार मैं टैक्सी में बैठ गया फिर कम सोचना है। जब मैं हवाई जहाज में बैठ गया, तो मुझे बिल्कुल नहीं सोचना पड़ता; बस कान में ईयर फोन लगा कर आराम करना है।

प्रश्न- तो दो भाग हैं, पहला गुरु के चरणों तक पहुँचना और दूसरा है....

उत्तर- वहाँ बैठे रहना। (हास्य)

प्रश्न- हाँ, हाँ।

प्रश्न- चारी, गुरु को छोड़ कर क्या कोई है जिसे लक्ष्य पर पहुँचने के रास्ते का पता हो। मेरा मतलब गुरु को छोड़ कर क्या कोई है जिसे एक बिन्दु पर पहुँच कर, पूरी यात्रा का पता हो?

उत्तर- अभ्यासी?

प्रश्न- हाँ।

उत्तर- शायद नहीं। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। शायद हाँ। जब तक हम पहुँच नहीं जाते हमें पता नहीं होता। जब आप यात्रा आरम्भ करते हैं तो आपको मालूम होता है कि आप कहाँ हैं और आपको कहाँ पहुँचना है, है न? अब जब आप काम पर जाते हैं तो घर वापस आते हैं। जब आप घर आ गये तो इस एहसास की कोई आवश्यकता नहीं होती। परन्तु जब आप घर के बाहर हैं तो आपको इस एहसास की पूर्ण आवश्यकता है, "क्या मेरा पैसा सुरक्षित है? क्या इसे कोई चुराने की कोशिश कर रहा है? मैं कहाँ हूँ? क्या मुझे दाहिने जाना है या बायें? मेरी भेंट का समय क्या है?" आपको इन सब का एहसास जरूरी है, परन्तु घर पर इसकी आवश्यकता नहीं। अगर आप इस उदाहरण को लें, तो जब मैं अपने लक्ष्य पर पहुँच गया तो एहसास नहीं होना चाहिये, क्योंकि उसकी कोई आवश्यकता नहीं, समझे?

प्रश्न- हाँ।

उत्तर- हाँ, आप यह मानते हैं?

प्रश्न- हम अपने लक्ष्य तक कब पहुँचते हैं?

प्रश्न- (सुनाई नहीं दिया)

उत्तर- बेशक यह सही है।

प्रश्न- आपने कहा, अपने पहुँचने पर हमें एहसास की आवश्यकता नहीं। मुझे यह प्रश्न अच्छी तरह समझ में नहीं आया।

उत्तर- वह पूछ रहे थे कि अगर मैं लक्ष्य पर पहुँच जाऊँ। बेशक, गुरु को मालूम होता है, क्या मुझे भी मालूम पड़ जायेगा? परन्तु मुझे यह जानना जरूरी नहीं। मेरे लिये केवल इतना जानना जरूरी है कि मेरा लक्ष्य वहाँ है, बस। मुझे और जानने की क्या जरूरत? मेरा लक्ष्य म्यूनिक है, मैं म्यूनिक पहुँच गया। "ओह क्या मुझे म्यूनिक का एहसास है?" इसकी कोई आवश्यकता नहीं है।

प्रश्न- हाँ।

प्रश्न- केवल म्यूनिक का एहसास ही नहीं, बल्कि रास्ते व सभी मंज़िलों की भी।

उत्तर- अलग-अलग मंजिलों का तभी तक महत्व है जब तक हम लक्ष्य की ओर जा रहे होते हैं। "मेरे हवाई जहाज का क्या समय है? क्या वह समय पर चलता है? क्या वह ऐसी जगह रुक रहा है जो अनुसूचित नहीं है? क्या मौसम ठीक है?" है न? "क्या मैं समय से पहुँचूँगा? क्या कोई मुझे लेने आयेगा?" एक बार मैं आ गया तो केवल राहत होती है। जिस क्षण मैं नीचे उतर आया केवल राहत मिलती है क्योंकि वहाँ सहायता के लिये लोग हैं। और अब मैं यह नहीं सोचता हूँ कि जब मैं एन्डोरा से चला था, तब कैसे बोनास्क्रे वापस आया, फिर मैं वापस एक्स ली थर्मे गया और वहाँ कस्टम अफसर ने मुझे रोका था। है न? फिर हम कैसे वहाँ आये, कौन जगह थी वह?

प्रश्न- मोन्टपोलियर।

उत्तर- मोन्टपोलियर, कैसे हम पेड़ के नीचे बैठे। मैं अतीत की किसी चीज के विषय में नहीं सोचता। आप देखिये, यात्रा की यही सुन्दरता है कि जब हम लक्ष्य की ओर जा रहे होते हैं, तो समस्यायें, चिन्ताएँ, कुण्ठाएँ, भय और लक्ष्य पर पहुँचने की उत्सुकता सभी रहती हैं; एक बार पहुँच गये फिर निश्चिन्तता रहती है। आखिरकार मैं घर पहुँच गया, अहा।

प्रश्न- तो उस स्थिति में हमें पता चल जाता है कि हम लक्ष्य पर पहुँच गये। कम से कम हमें यह तो पता चल जाता है कि लक्ष्य पर पहुँच गये।

उत्तर- लक्ष्य क्या है? एक बच्चे के लिये जो वहाँ है और उसकी माँ यहाँ है, लक्ष्य माँ है। जब बच्चा माँ की गोद में होता है, वह यह नहीं कहता, "मैं माँ के पास हूँ, मैं माँ के पास हूँ।"

प्रश्न- वह जानता है।

उत्तर- वह जानता भी नहीं, वह अनुभव करता है। आपको भी अनुभव होगा। हमें कुछ जानने की क्या आवश्यकता है?

प्रश्न- हम आपके साथ लक्ष्य पर हैं।

उत्तर- आप लक्ष्य पर हैं।

प्रश्न- हमारा लक्ष्य आपके साथ होना है।

उत्तर- नहीं, नहीं, वह एक भिन्न अर्थ में है। शारीरिक रूप से साथ होना, आध्यात्मिकता रूप में साथ होने से भिन्न है।

प्रश्न- पर हम.... (सुनाई नहीं दिया)

प्रश्न- आध्यात्मिक रूप से.... (सुनाई नहीं दिया)

उत्तर- बेशक, आपको इसका कुछ स्वाद तो मिलता है। यह ऐसा है, मानो हम मेज पर बैठ कर स्वादिष्ट सूप पी रहे हैं। मेरा कुत्ता जमीन पर बैठा है। वह मेरे साथ है परन्तु जो मैं खा रहा हूँ वह नहीं खा रहा, जब तक कि मैं उसे प्लेट न दूँ और वह खाये। है न? तो बिना जाने कि क्या हो रहा है हम एक साथ हो सकते हैं। दो लोग अगल-बगल सो सकते हैं, उन्हें पता नहीं कि वे साथ-साथ सो रहे हैं, क्योंकि वे सोये हैं। वे साथ हैं, परन्तु सो रहे हैं। इस कारण उन्हें एक दूसरे का ज्ञान नहीं है। वह एक साथ हैं परन्तु उनके विचार अलग स्थान पर हैं।

प्रश्न- तो चेतना आवश्यक तौर पर....। (सुनाई नहीं दिया)

उत्तर- हाँ बिल्कुल ठीक। चलिये, दूसरी तरह से कहें। मछलियाँ तालाब में या झील में हैं। आप तैर रहे हैं। आप भी वहीं पर हैं परन्तु आप एक ऐसे तत्व में संघर्ष कर रहे हैं जो आपके लिये पराया है। आप जितना भी अच्छा तैर लें आपके लिये वह अपरिचित तत्व है। पानी आप जगह नहीं। मछली अपने घर में है, आप वहाँ केवल कुछ समय के लिये हैं, आप सदा के लिये वहाँ नहीं रह सकते जब तक आप मछली न बन जायें। इसी प्रकार जब गुरु के साथ हैं, वह जहाँ भी

है अपने घर में है क्योंकि सब उसका तत्व है। आप एक अर्थ में उनके साथ रहने के लिये संघर्ष कर रहे हैं।

प्रश्न- और वह हमें समझाते हैं कि कैसे करें?

उत्तर- एक अर्थ में आप उनके साथ रहने में संघर्ष कर रहे हैं। किसी अवस्था में उनके साथ रहना सरल है, जब कि वे अति मानवीय होते हैं। है न? जब वे आपकी देखभाल करते हैं, आपके विषय में सोचते हैं, आपका ध्यान रखते हैं और कहते हैं, "ओह, मेरी सेक्रेटरी आज आपकी टाँग कैसी है?" सेक्रेटरी भी प्रसन्न हो जाती है। परन्तु दूसरे समय में वे केवल नजर डालते हैं और उन्हें सेक्रेटरी दिखाई भी नहीं देती। और सेक्रेटरी रोती है, "ओह, वे मेरी ओर देखते भी नहीं, कल उनके लिये पच्चीस पत्र तैयार किये थे।"परन्तु उनकी चेतना कहीं और होती है जहाँ आप उस क्षण नहीं हो सकते। यह कैसा साथ है? तब हमें लगता है, "गोली मारो, इससे तो अच्छा मैं म्यूनिक में ही रहता।" उनके सतत सान्निध्य में रहने से बेहतर है सतत स्मरण में रहना। (हास्य)

यह प्रेमियों की मुलाकात की तरह है, आप पूरे समय शाम के बारे में सोचते हैं जब आप जाँय से मिलेंगे, सवा पाँच बजे, उस टेलीफोन एक्सचेंज के सामने। और जब आप मिलते हैं झगड़ा हो जाता है, कुण्ठा व समस्या होती है। वह पूरब जाना चाहती है और आप पश्चिम; वह चाय पीना चाहती है, आप काफी; वह कीनो जाना चाहती है और आप क्लब; आप चाहते थे वह लाल पोशाक पहने जो आपने लाकर दी थी और वह नीली पहन कर आयी है। मिलन असफल रहा। जब कि घर बैठ कर उसके बारे में सोचना कितना अच्छा लगता है तो क्या असलियत से ख्याल बेहतर है? नहीं, क्योंकि सोचते समय हम अपने विचारों को बेलगाम छोड़ देते हैं। जो हमें स्वीकार करना पड़ता वह असलियत है। अब सत्य को स्वीकार करना एक समस्या बन जाता है। आप समझे? तो ध्यान द्वारा हमें सत्य को स्वीकार करने की शिक्षा मिलती है। बोध द्वारा हमें सत्य की केवल अनुभूति होती है, उसे हम स्वीकार नहीं करते। मेरा मन कहता है, "यह बेकार है, यह मूर्खता है, यह अच्छा है।" परन्तु बेकार चीज के बारे में क्या बेकार है? केवल इतना कि इस समय मैं इसका प्रयोग नहीं कर सकता। इतना ही न? जब मुझे केला चाहिये और आप मुझे सेब देते हैं, तो मैं कहता हूँ यह बेकार है, मुझे नहीं चाहिये। यही इसकी सच्चाई है। मेरे लिये यह बेकार है। पर यह बेकार नहीं है। अब कमी कहाँ है? कमी मेरे में है। मैं यह कैसे कह सकता हूँ कि सब बेकार है या केला

बेकार है या तुम बेकार हो या वह बेकार है। मुझे नहीं पता कि आपका प्रयोग कैसे करूँ। अगर मैं अपने आप को इतना श्रेष्ठ बना लूँ कि मैं संसार में किसी चीज का उपयोग कर सकता हूँ तब सब वस्तुएँ मेरे लिये उपयोगी हैं। मेरे लिये नहीं, अपने आप में उपयोगी हैं। ऐसे व्यक्ति के लिये संसार उपयोगी वस्तुओं से भरा है। आप और मेरे जैसे मूर्खों के लिये वह बेकार चीजों से भरा पड़ा है। "ओह यह कलम बेकार है, यह लिखती नहीं।" या "यह मनुष्य बेकार है, क्योंकि वह मेरी तरह सोचता नहीं" या "यह हवाई जहाज बेकार है, क्योंकि इसके शौचालय से बदबू आती है।"

तो हम संसार को एक स्वकेन्द्रित बिन्दु से देख रहे हैं – मेरे लिये क्या उपयोगी है; न कि क्या उपयोगी है। उसके लिये सब कुछ उपयोगी है – एक अपराधी उपयोगी है, एक वेश्या उपयोगी है, एक प्रतिभाशाली व्यक्ति उपयोगी है, एक बुद्ध उपयोगी है, एक ईसा उपयोगी है और जूडास इसकैरियट के ईसा मसीह भी न होते और न ही ईसाई धर्म होता। ईसा की सुन्दरता और महानता उनके क्रूसारोपण में है। अगर उन्हें क्रूस पर न चढ़ाया जाता और वे छियानबे वर्ष की आयु में स्वस्थ बिस्तर पर मरते तो कोई ईसाई धर्म न होता, है न? तो जूडास इसकैरियट ने मानवता की अतिमूल्यवान् सेवा की; केवल एक पीढ़ी के लिये नहीं बल्कि अब तक मानव की सत्तर पीढ़ियों के लिये। हम उसके विषय में ऐसे क्यों बात करते हैं कि वह अपराधी था जिसने ईसा को क्रूस पर चढ़वाया? यह तो इस बात पर निर्भर करता है कि आपका नजरिया क्या है?

प्रश्न- मैं 'बी' के विषय में कल यही कहना चाहता था।

उत्तर- आपने कहा नहीं। आप ऐसे तैराक की भाँति हैं जो बिना तैरना जाने तैरने का प्रयत्न कर रहा हो। और फिर आप मुझे बताने का प्रयत्न करें, "मैं कल यही करने का प्रयत्न कर रहा था।" हाँ, परन्तु मेरे बिना आप डूब जाते। (मुस्कुराते हैं) मैंने आपको खींच कर पानी से बाहर निकाला। प्रयत्न करना, करना नहीं है। प्रयत्न, प्रयत्न है। जब तक हम कहते हैं, "मैं करने का प्रयत्न कर रहा हूँ," हम नहीं कर रहे हैं। इसे याद रखिये। "आँटो आप क्या कर रहे हैं?" "ओह, चारी, मैं इस कार को चलाने का प्रयत्न कर रहा हूँ।" इसका अर्थ है.... (वे मुस्कुराते हैं) (हास्य)

प्रश्न- मुझे नीचे उतर जाने दीजिये! (हास्य)

उत्तर- तो प्रयत्न, करने की प्रक्रिया में एक स्थिति है, जैसे विकास बनने की प्रक्रिया की स्थिति है। है न? एक बच्चा वयस्क बनने की ओर

एक स्थिति में है। हमें सोचने का यह विशिष्ट तरीका अपनाना चाहिये। वह एक ऐसी चीज है जो आ जाती है। मुझे नहीं मालूम कैसे आती है, परन्तु.... मान लीजिये गुरुदेव कहें, "मैं तुम्हें प्राणाहुति देने का प्रयत्न कर रहा हूँ।" (हास्य) आप कहेंगे, "बाबूजी मैंने तो सोचा था आप 'मास्टर' हैं।"

प्रश्न- आप ने कहा "मैं सन्त नहीं हूँ।"

उत्तर- नहीं, नहीं, मैं सन्त नहीं हूँ। और न मैंने कहा कि "मैं सन्त बनने का प्रयत्न कर रहा हूँ।" मैंने कहा, "मैं सन्त नहीं हूँ।" यह एक सकारात्मक वाक्य है।

प्रश्न- मैंने सोचा था कि सन्त वह व्यक्ति है जिसकी सब शक्तियाँ सन्तुलित होती है।

उत्तर- अभी नहीं। (हास्य)

उत्तर- मुझे भी अभी बदलना है, और सहज मार्ग में यह एक तथ्य है। क्योंकि जैसा कि बाबूजी ने कहा, लालाजी....

प्रश्न- क्या तथ्य है?

उत्तर- कि हम सदा से विकास कर रहे हैं। ऐसा कोई लक्ष्य नहीं है, जहाँ आप कह सकें "अब मैं अन्त तक पहुँच गया।"

प्रश्न- तो आप सन्त हुए बगैर 'मास्टर' कैसे हो सकते हैं?

उत्तर- हो सकते हैं। आप बिना गुरु हुए भी सन्त हो सकते हैं।

प्रश्न- ठीक है यह तो ऐसा स्पष्ट है। पर आप सन्त हुए बिना गुरु कैसे बन सकते हैं?

उत्तर- गुरु क्या है? वह जिस पर एक समूह की देख-रेख का भार होता है।

प्रश्न- यह काफी नहीं।

उत्तर- ठीक है, हमें इस पर गौर करना चाहिये। आप सोचिये यह क्या है, तब शायद आपको मालूम हो जाये।

प्रश्न- सन्त क्या है?

उत्तर- नहीं, सन्त अलग चीज है, गुरु अलग चीज है। विशेष व्यक्तित्व अलग है, ईश्वर अलग है, अवतार अलग है, सब अलग हैं। परन्तु एक समानता भी है। आप मास्टर को सन्त कह सकते हैं जिसे कुछ कार्य दिया गया है। जैसे, जब अपोलो १३ की दुर्घटना हो रही थी बाबूजी ने चन्द्रमा पर एक मुक्त आत्मा को आदेश दिया, "मुझे वहाँ से सूचना दो।" उन्होंने उस पर कार्य किया और दुर्घटना होने से बचाया।

अब कौन इस पर विश्वास करेगा, क्या अमरीका के लोग विश्वास करेंगे, क्या नासा (NASA) विश्वास करेगा? है न? हम विश्वास करते हैं। और जब हम वैसा कुछ कर पायेंगे तो और भी विश्वास करेंगे। है न? और जब हमारे समय में एक और अपोलो १३ होगा और आप ऐसा कर पायेंगे, तो आप कहेंगे, "बाबूजी ने ठीक ऐसे ही किया होगा।"

ज्ञान कार्य करने से होता है न कि जानकारी से। मैं आपको इसका एक उदाहरण पहले भी बता चुका हूँ, एक बेटे को यह नहीं मालूम होता कि उसका पिता एक खास तरह से क्यों बर्ताव करता है जब तक कि वह स्वयं बाप नहीं बन जाता; फिर वह देखता है कि वह भी अपने बेटे के साथ वैसे ही बर्ताव कर रहा है। तो वैसा बनने पर आपको कहीं ज्यादा समझ में आता है, बजाय इसके कि आप इस पर विचार करें और जानने की कोशिश करें। हाथी क्या होता है? ओह, वह यह है, और वह है, उसका वजन ढाई टन होता है, एक लम्बी सूँड़ होती है, दो सुन्दर दाँत होते हैं, जो अति मूल्यवान् हैं — वह सब ठीक है, परन्तु हाथी क्या होता है? यह जानने के लिये आपको हाथी होना होगा। कहते हैं कि सन्त अपने को हाथी के प्राण में प्रविष्ट करता है, भिन्न जीवों में प्रविष्ट करता है, और अन्दर से उनके गुणों की जानकारी करता है बाहर से नहीं। जब आप बाहर से देखते हैं तो आपको यह देखने के लिये कि अन्दर क्या है उसे काटना और चीरना पड़ता है। जब आप अन्दर होते हैं तो आपको उसे काट कर नष्ट नहीं करना पड़ता। इसी तरह जब आप मानव को अन्दर से जानना चाहते हैं, आप अपने भेदने की क्षमता द्वारा उनके अन्दर देख सकते हैं। आपको उन्हें नष्ट नहीं करना पड़ता। दिल से तात्पर्य इसी बात से है। जब आप उन्हें बाहर से जानने का प्रयत्न करते हैं तो सामान्यत: आप उन्हें नष्ट कर देते हैं।

प्रश्न- प्रेम अन्दर है।

उत्तर- इसके लिये आपको नोबेल पुरस्कार मिलना चाहिये। (हास्य) आध्यात्मिकता के लिये नोबेल पुरस्कार।

प्रश्न- जब हम अन्दर जा पायेंगे, हम प्रेम को पा जायेंगे।

उत्तर- बेशक वह अन्दर है। (हास्य) इसलिये जहाँ प्रेम है वहाँ समझ स्वभावत: आ जाती है। सन्त लोग पापियों के प्रति करुणामय क्यों होते हैं? क्योंकि वह अन्दर देखते हैं और उन्हें ज्ञात होता है कि और कुछ हो ही नहीं सकता था और वह करुणा से भर जाते हैं। उन्होंने.... पापियों के लिये आँसू बहाये हैं और ईश्वर से प्रार्थना की है, "उन्हें

क्षमा कर दो।" जैसा ईसा मसीह ने क्रूस पर से कहा था, "हे पिता, इन्हें क्षमा करो, क्योंकि इन्हें ज्ञात नहीं कि यह क्या कर रहे हैं।"

मान लीजिये एक व्यक्ति नींद में चलता है और धक्का मार टेलीविजन तोड़ देता है। क्या आप उसे दण्ड दे सकते हैं? यह एक वजह है जिसके कारण दण्ड के विचार में बिल्कुल विश्वास नहीं करता।

प्रश्न- पर यह कर्म क्या है?

उत्तर- उसमें आपके संस्कारों के दबाव से चीजें होती है। असली कर्म तब होता है जब कोई संस्कार नहीं होते या बहुत कम संस्कार होते हैं। तब आप वास्तविक अर्थ में कार्य करते हैं। आप कार्य कर रहे हैं, न कि आपके संस्कार। जिस प्रकार जब कोई पिण्ड गतिशील है और उस पर लगा बल हटा दिया जाये तो यदि कोई अवरोध नहीं हो तो वह सदा चलता रहेगा। आप न्यूटन के नियमों को जानते हैं – एक गतिशील पिंड सदा गतिशील रहेगा। वह क्या है जो उसे गतिशील रखता है? यह जड़त्व (इनर्शिया) का संवेग है। है न? इसी प्रकार हम भी एक के बाद एक, जीवन में इस जड़त्व के संवेग के कारण चलते जाते हैं, जो कि हमारे संस्कारों से उत्पन्न होता है। आप कैसे कह सकते हैं कि इसके लिये वह उत्तरदायी है? वह इस अर्थ में उत्तरदायी है कि उसने अपने लिये उस जड़त्व के संवेग का निर्माण किया। तो उसे रोकने का उत्तरदायित्व भी उसे ही दिया गया है। अपनी सफाई करिये। दंड देने का कोई प्रश्न ही नहीं है। दंड से होगा क्या? यह उस बच्चे की भाँति है जो अपना दूध गिरा देता है, और माँ आकर उसे एक थप्पड़ लगाती है। उसका क्या लाभ? आपको उसे प्रशिक्षण देना है कि दूध क्यों नहीं गिराना चाहिये, उसे ठीक से कैसे पीना चाहिये। दण्ड कभी प्रशिक्षण नहीं हो सकता। और हम इसे मानते हैं। हमारे यहाँ जेल नहीं है, कम से कम हम जेल समाप्त करने का प्रयत्न कर रहे हैं; दण्ड समाप्त करने का, कैदियों के साथ अधिक मानवीय व्यवहार करने का। क्यों? क्योंकि हम जानते हैं कि दण्ड उन्हें पहले से भी बदतर बना देता है। है न? अगर एक मूर्ख मानव यह जान सकता है तो क्या ईश्वर को नहीं मालूम?

प्रश्न- हमें हृदय में प्रकाश के स्थान पर क्या गुरु के ऊपर ध्यान करना चाहिये।

उत्तर- केवल तभी जब वह स्वत: आये।

प्रश्न- क्योंकि मैं इस विषय में अब और नहीं सोचता.....

उत्तर- प्रश्न यह नहीं है कि हम क्या सोचते हैं। आपको आरम्भ में सदा हृदय में प्रकाश से करना चाहिये। मैंने आपको वोरौफ में भी सन ८५ में बताया था कि एक समय आता है जब स्वत: ही गुरु का स्वरूप सामने आता है। वही (उन पर) ध्यान करने का सही समय है।

प्रश्न- हाँ, मेरा मतलब स्वरूप से नहीं है; गुरु के साथ हृदय में सम्पर्क स्थापित करने के प्रयास से है, न कि केवल हृदय में प्रकाश पर ध्यान से।

उत्तर- नहीं, नहीं, परन्तु हृदय में प्रकाश.....

प्रश्न- गुरुदेव हैं।

उत्तर- हाँ, परन्तु जब तक वे अपने आप को मालिक के रूप में प्रकट नहीं करते.... यह आप और आपकी पत्नी जैसा है। आपकी पत्नी आपकी पड़ोसी है – मेरा मतलब आप पूरा जीवन पास-पास रहे और एक दिन आप अचानक उससे शादी कर लेते हैं। तब आपको पता चलता है कि वह आपकी पत्नी है। है न? तब तक वह केवल पड़ोसी की बेटी थी।

प्रश्न- इस कारण मैं हृदय में प्रकाश के लिये विचार पर अब और ध्यान नहीं कर पाता हूँ। यह भावना होती है कि यह प्रकाश जिस पर मैं विचार नहीं करता गुरुदेव हैं जो मेरे हृदय में हैं।

उत्तर- नहीं, नहीं, यह एक बौद्धिक विचार है कि प्रकाश पर ध्यान नहीं करता, परन्तु मेरी समझ में, यह विचार होता है कि गुरुदेव उसके हृदय में हैं, बिना किसी रूप के।

प्रश्न- बिना शारीरिक रूप के, चित्र के।

उत्तर- तुम फिर किस चीज पर ध्यान करते हो?

प्रश्न- हृदय में गुरु की उपस्थिति पर।

उत्तर- यह सही नहीं है। तुम या तो हृदय में प्रकाश पर या गुरु के आकार पर, पूर्ण आकार, न कि केवल चेहरे पर, ध्यान करो; जब वह भी चला जाता है फिर तीसरी स्थिति आती है जब कि ध्यान करने को कुछ नहीं रहता। वहाँ ध्यान रुक जाता है। नहीं तो तुम एक विचार पर ध्यान कर रहे हो।

प्रश्न- पर मैं अनुभव करता हूँ। मैं उनकी उपस्थिति को हृदय में अनुभव करता हूँ, वह एक विचार नहीं है।

उत्तर- नहीं, नहीं, आप उपस्थिति को अनुभव करते हैं, यह ठीक है। जैसे कि आपको मालूम है मैं कुर्सी पर बैठा हूँ, मैं रसोई में रसोइये

की उपस्थिति अनुभव करता हूँ, तो क्या? उपस्थिति अनुभव करना.... मैं बैंक में पैसे की उपस्थिति अनुभव करता हूँ परन्तु वह मेरा पैसा नहीं है। मैं देखता हूँ कि लोग आकर बड़ी रकम जमा कर रहे हैं, दूसरे लोग पैसे ले जा रहे हैं। मैं सड़क पर खाद्य वस्तुओं की उपस्थिति अनुभव करता हूँ, जैसे आज हमने किसी को खाते-पीते देखा। उससे मुझे क्या? तो गुरुदेव को अपना बनाना है, यह सम्बन्ध सदैव के लिये होना है, न कि केवल ध्यान के समय। अगर आप उनकी उपस्थिति हृदय में अनुभव करते हैं तो सदैव वहाँ होना चाहिये। है न?

प्रश्न- तो दिल में या तो प्रकाश या आकार।

उत्तर- हाँ, एक करने पर दूसरा स्वयं आ जाता है आप प्रकाश पर ध्यान करके देखिये क्या होता है।

प्रश्न- क्या वह अवश्य ही दूसरे तक पहुँचायेगा?

उत्तर- हाँ एक दिन तुम्हें प्रकाश नहीं गुरु दिखाई देंगे।

प्रश्न- आपका मतलब आकार से है, न कि तत्व से।

उत्तर- नहीं, नहीं, आकार वहाँ होगा। मान लीजिये आप ने बाबूजी को कभी नहीं देखा। आप तब क्या कहेंगे आपका गुरु कौन है? वह अभी भी कहीं हैं, पर वह आपके गुरु नहीं हैं। तो आकार केवल यह बताने आता है कि "मैं तुम्हारा गुरु हूँ", अगर आप स्वीकार करें।

प्रश्न- कई दिन होते हैं जब मुझे प्रकाश पर ध्यान करना आकार पर ध्यान से सरल लगता है और कई बार आकार पर ध्यान प्रकाश पर ध्यान से सरल लगता है।

उत्तर- इसका अर्थ है आप इन दोनों के बीच निश्चय नहीं कर पा रहे हैं। यह सरलता का प्रश्न नहीं है, वह स्वयं आता है। जैसे किसी दिन मैं पैसे के विषय में सोचता हूँ तो मैं डॉलर के विषय में सोचता हूँ और दूसरे दिन मैं भारतीय रुपये के बारे में सोचता हूँ जिसका कोई मूल्य नहीं। पैसा तो पैसा है।

प्रश्न- तो जब आकार आये तो हम सदा के लिये आकार पर ध्यान करें?

उत्तर- बेशक, सदा के लिये आकार पर।

प्रश्न- हम हृदय में प्रकाश पर वापस नहीं आ सकते?

उत्तर- नहीं, यह आवश्यक नहीं है।

प्रश्न- तो इस आकार के प्रकट होने के पहले गुरुदेव के तत्व पर ध्यान नहीं कर सकते; इस तरह नहीं होता?

उत्तर- यह एक प्रक्षेपण है -- सच्चाई नहीं। यह ऐसा है जैसा कि मैंने बताया था, आप एक कक्षा के सोलह वर्षीय छात्रों से कहे, "अपनी पत्नी के बारे में सोचिये।" वे किसके विषय में सोचेंगे? पत्नी उस समय केवल एक विचार है। या प्रत्येक का कोई विचित्र विचार हो। एक गिना लोलोब्रिगिडा (अभिनेत्री) या उसी प्रकार का कुछ सोचता हो, और वह उसकी पत्नी नहीं है। पत्नी एक सच्चाई है। एक अविवाहित के लिये उसका अभी अस्तित्व नहीं है। उसकी कितनी कल्पनाएँ हो सकती हैं कि उसकी पत्नी कैसी होगी या वह कैसी चाहता है परन्तु जब शादी होती है तो वह वास्तविकता है। (टेप टूटा है)

प्रश्न- आप धूप में चिड़ियाँ देखते हैं.....

उत्तर- हाँ।

प्रश्न- वह प्रकाश जैसा दिखता है.....

उत्तर- यही रामकृष्ण ने देखा और समाधि में चले गये।

प्रश्न- ओ, हाँ।

प्रश्न- मैं समझ गया।

प्रश्न- यह आपने बताया था।

उत्तर- वह अधिक गहरे बादल रहे होंगे, बरसात के बादल, और उन्होंने दो सफेद पक्षियों को उड़ते देखा, उनकी सुन्दरता देखी, और.... (टेप टूटा है)

उत्तर- यह उत्तर देने के लिये बहुत बड़ा प्रश्न है। प्राणाहुति की पद्धति कोई चार हजार वर्ष पहले थी और उसके बाद वह लुप्त हो गई। लालाजी ने उसे पुनः खोज निकाला। यह तो प्राणाहुति की बात हुई। सहज मार्ग में यही खास चीज है। बाबूजी प्राणाहुति की परिभाषा देते हैं, "वह दिव्य ऊर्जा जिसका प्रयोग मानव में परिवर्तन लाने के लिये होता है।" सब कुछ को प्राणाहुति नहीं कह सकते; जैसे 'ब' के स्वामी यहाँ से जो संप्रेषण कर रहे हैं वह प्राणाहुति नहीं है, क्योंकि वह दिव्य ऊर्जा नहीं, मानसिक शक्ति है।

प्रश्न- कुछ नहीं..... (सुनाई नहीं दिया)

उत्तर- कुछ तो होगा।

प्रश्न- मैं प्रसन्न हूँ – यही काफी है।

उत्तर- अच्छा है, अच्छा कारण है, मैं भी खुश हूँ। (हास्य)

प्रश्न- मुझे समझ में नहीं आता कि उसने तरीका क्यों बदल लिया, जब कि उसको अच्छी तरह मालूम है कि हम ईश्वर से दिल से जुड़े हैं।

उत्तर- मुझे मालूम है, परन्तु मैं कैसे कह सकता हूँ कि उसने क्यों बदल लिया। मुझे भी समझ में नहीं आता।

एक कारण है — एक सम्भावित कारण, मैं नहीं कहता कि यही कारण है। निम्न शक्ति के स्तर से दिया गया 'ट्रांसमिशन' (संप्रेषण) अभ्यासी के ऊपर प्रभाव करता है और वे अनुभव व दृश्य उत्पन्न करते हैं। लोग हृदय से दिये गये दिव्य प्राणाहुति की अपेक्षा इसमें अधिक विश्वास करते हैं, क्योंकि इसका प्रभाव चमत्कारी लगता है। इसलिये लोग उसे (प्राणाहुति को) नहीं चाहते --- वे ऐन्द्रिक अनुभूति चाहते हैं।

प्रश्न- वह भ्रम है।

उत्तर- हाँ, परन्तु लोगों को यह पसन्द है। आप ने स्वयं कहा था आपको अच्छे अनुभव हुए।

प्रश्न- प्रारम्भ में; वह कह रहा था कि इस प्रकार का अनुभव आध्यात्मिक विकास को रोकता है।

उत्तर- बिल्कुल सही है।

प्रश्न- ऐसी चीज अहम् का विकास करती है।

उत्तर- हाँ।

प्रश्न- इस कारण हमें उसे अपने अनुभव बताने पड़े ताकि वह इसे हटा दे और हमें शक्ति प्राप्त न हो सके।

उत्तर- ठीक है। नहीं, नहीं, आप ऐसा अनुभव ले सकते हैं, सहज मार्ग में शक्ति का कोई प्रश्न नहीं है। केवल माया की शक्ति है। अगर आपको माया चाहिये..... आप सिनेमा भी तो जाते हैं?

प्रश्न- मजे के लिये।

उत्तर- नहीं, वह माया है। वे प्रसन्न हैं, एक दूसरे को चूम रहे हैं, अमीर हैं, घोड़ों पर सैर कर रहे हैं, शिकार कर रहे हैं, और आप सोचते हैं आप वहाँ हैं।

प्रश्न- यह दुखद है।

उत्तर- दुखद तो है परन्तु यह उनकी भी गलती है।

प्रश्न- क्यों?

उत्तर- क्योंकि वे इन अनुभवों से प्रसन्न थे और निम्न स्तर पर जो उसने उनके लिये किया उससे। अधिकतर लोग केवल भौतिक बदलाव चाहते हैं।

प्रश्न- केवल जब हम वास्तविक रूप से बदलते हैं। पहले ऐसा नहीं था। वह बाद में बदल गया।

उत्तर- आप आईने में देखते हैं। मुझे उसमें चेहरा दिखाई देता है और मैंने उस पर कुछ पावडर लगा दिया। अब शीशे का चेहरा बदल गया। पहले क्या बदला? आप बदले।

प्रश्न- हाँ, पहले मैं बदलता हूँ।

उत्तर- इसी प्रकार जब हम बदलते हैं, वह भी हमारे साथ बदलता है। शायद यह सही है, शायद नहीं, मालूम नहीं। मैं समझता हूँ कि उसने उन्हें अधिक सन्तुष्ट करने के लिये उनके बदलाव का लाभ उठाया!, क्योंकि उसे अधिक लोग प्राप्त होते हैं, शायद अधिक पैसे, अधिक प्रेम, अधिक..... सब कुछ।

प्रश्न- तो उसके बदलाव में हमारे उत्तरदायित्व का भी बड़ा भाग है?

उत्तर- बेशक, बहुत कम गुरु हैं जो अभ्यासियों द्वारा भ्रष्ट नहीं हो जाते। परन्तु यह सत्य है।

प्रश्न- इस अवस्था में, हम सदैव अवतरण की प्रक्रिया में रहते हैं,.....

उत्तर- पुनर्जन्म?

प्रश्न- हाँ।

उत्तर- उसका गुरु से क्या सम्बन्ध है? उन्हें ऐसा गुरु खोजना है जो उनके कारण बदल न जाये; जो शिष्यों की संख्या नहीं चाहता, जो उन्हें प्रसन्न करने हेतु अपनी शिक्षा में सम्मिश्रण नहीं करे; और जो यह कहे, "क्षमा करिये, मैं केवल यही दे सकता हूँ। अगर आप को पसन्द है तो ग्रहण कीजिये, नहीं तो और कई लोग हैं जो ग्रहण कर सकते हैं।" परन्तु ऐसा गुरु दुर्लभ होता है:

प्रश्न- यह मेरे लिये सही है, क्योंकि मुझे इस व्यक्ति को खोजने में पचास वर्ष लग गये।

उत्तर- तो क्या करना चाहिये? मेरे गुरुदेव कहते हैं, "सर्वोच्च से कम में कभी भी सन्तुष्ट न हों।" चाहे वह गुरु ही क्यों न हों, अगर आप शिक्षक या गुरु के स्तर तक पहुँच गये हैं और आप को मालूम होता है कि आप आगे नहीं बढ़ रहे हैं तो तुरन्त गुरु बदल डालिये। तुरन्त। "नहीं, नहीं, वह अच्छा लड़का है, अच्छा आदमी है," यह 'अच्छा' क्या है? यह एक रेलगाड़ी की भाँति है, आप गाड़ी में जाते हैं; अब अगर गाड़ी खड़ी हो जाती है और चल नहीं रही है, तो आप उसमें से निकल कर बस ले लेते हैं, कार लेते हैं, कुछ भी लेते हैं।

प्रश्न- मैं कभी भी अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँचूँगा।

उत्तर- अगर आप गाड़ी में बैठे रहें तो।

प्रश्न- हाँ, हाँ।

उत्तर- वही चीज है अगर आप अपने गुरु के साथ अटक जायें तो।

प्रश्न- वह सबसे ज्यादा खराब बात है।

उत्तर- वह बदतर बात है। हमें इसलिये सावधान रहना है।

प्रश्न- मैं फिर से उस गुरु के प्रश्न पर आना चाहूँगा जो एक विशिष्ट गुरु है, जो अधिक शिष्य नहीं चाहता और.....

उत्तर- नहीं, नहीं, यह उसके शिष्य न चाहने का प्रश्न नहीं है। उसे ऐसे शिष्य मिलते नहीं। क्योंकि अधिकतर मानव केवल स्वास्थ्य, पैसा और प्रेम खोज रहे हैं और वे इसी में खुश हैं। मुक्ति किसे चाहिये?

प्रश्न- अचेतन रूप में हम उसे खोज रहे हैं।

उत्तर- अचेतन रूप में खोजना चेतन रूप में खोजने से भिन्न है। बहुत बड़ा अन्तर है। तो दोष किसका है? आपका।

प्रश्न- हम सदा ही अपने दु:खों के कर्त्ता होते हैं।

उत्तर- और अच्छे के भी। इसीलिये आध्यात्मिकता में कहते हैं कि तुम्हारा भाग्य तुम्हारे भाग्य में है। इसलिये हमें गुरु के शारीरिक रूप से लगाव नहीं होना चाहिये।

प्रश्न- 'ब' ने कहा कि अपने परिवार, माता-पिता किसी से लगाव न रखो, केवल गुरु से रखो।

उत्तर- गुरु से बेशक, परन्तु गुरु के व्यक्ति से नहीं। व्यक्तित्व, शरीर, मलागासी को मलागासी गुरु चाहिये, मुसलमान को मुसलमान गुरु चाहिये, ईसाई को ईसाई गुरु चाहिये।

प्रश्न- आपके विचार में क्या अभ्यासी भौतिक गुरु और अभ्यासी गुरु में अन्तर पहचान सकता है?

उत्तर- उसे पहचानना चाहिये।

प्रश्न- यह कठिन है।

उत्तर- यह मानवीय प्रेम की भाँति है। अधिकतर लोग केवल शारीरिक प्रेम जानते हैं। हृदय के प्रेम को कितने लोग जानते हैं। करोड़ों में एक। इसी भाँति पूरा जीवन प्रेम करने के बाद भी आपको नहीं मालूम प्रेम क्या है। वे पति से प्रेम करती है, दूसरे पति से, तीसरे पति से; केवल वह ही नहीं सबसे, सारी मानव जाति से और केवल आज की मानव जाति से ही नहीं बल्कि पूरे इतिहास में यह बड़ी सामान्य बात है – यह पति-पत्नी का सम्बन्ध, स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध -- सब से निचले

स्तर पर, यह पाशविक है; और उच्चतम स्तर पर यह आत्मा का सम्बन्ध है। एक दिव्य स्तर। वह किसे चाहिये?

प्रश्न- मुझे नहीं।

प्रश्न- सबको।

उत्तर- अरे जाओ जी, (हास्य) जाओ जी (हास्य) सभी शारीरिक प्रेम चाहते हैं।

प्रश्न- शायद इसलिये कि उन्हें मिल नहीं सकता, वह केवल.....

उत्तर- बकवास, उन्हें वह चाहिये ही नहीं, उन्हें केवल वही चाहिये। ईमानदार बनिये। अपने प्रति ईमानदार रहिये।

प्रश्न- (सुनाई नहीं दिया).... वह विकास की एक अवस्था है।

उत्तर- नहीं, नहीं, ऐसा नहीं है। वह केवल गलतियों का औचित्य सिद्ध कर रही है।

प्रश्न- मुझे अफसोस है। मैं तो पता लगाने की कोशिश कर रहा था। क्योंकि एक बार हम अपनी गलतियों की सफाई देना शुरू कर दें तो हम उससे ऊपर नहीं उठ सकते।

उत्तर- आप पता लगाने की कोशिश कर रहे हैं, ठीक है मगर औचित्य मत सिद्ध करिये।

प्रश्न- एक बार मैंने प्रेम की परिभाषा देने का प्रयत्न किया, परन्तु नहीं कर पाया।

उत्तर- यह सम्भव नहीं है, क्योंकि जब आपको ज्ञात हो जाये कि सच्चा प्रेम क्या है तो उसको परिभाषित नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार जिसने ईश्वर को देखा या अनुभव किया है वह उसके विषय में बात नहीं कर सकता। क्या आप खुशी की परिभाषा दे सकते हैं? यह सम्भव नहीं है। क्योंकि खुशी एक स्थिति है। अगर कोई खुश है तो वह अनुभव करता है;परन्तु आप बता नहीं सकते।

प्रश्न- इसका अनुभव करने के पहले भी नहीं।

उत्तर- कौन सा अनुभव?

प्रश्न- उदाहरणार्थ, खुशी का। मैं कह रहा हूँ, नहीं। क्योंकि अगर आपको यह अनुभव हो भी जाये तो आप इसके विषय में बोल नहीं सकते।

उत्तर- खुशी कई तरीकों से आती है। जब आप भूखे हों, और आपको खाना मिल जाये तो आप खुश हो जाते हैं। अगर आपको अत्यधिक मिल जाये तो आप खुश नहीं होंगे। अगर आप छः घंटों से शौचालय

नहीं गये और आपको वहाँ जाने को मिल जाये तो वह आपको खुशी देगा। (हास्य) तो क्या खुशी एक क्रिया है (हास्य) दो विरोधात्मक बातें।

मान लीजिये आप किसी से कहें, "खाना व्यक्ति को खुशी देता है।" और वह कहे, "नहीं, शौचालय जाने से खुशी मिलती है। तुम्हें वह हाल मालूम नहीं है।" दोनों में एक ही चीज है --- आवश्यकता की पूर्ति। दोनों हालत में। जब आप भूखे हैं, खाने द्वारा आप उस आवश्यकता की पूर्ति करते हैं; दूसरा जब आप शौचालय जाना चाहते हैं। और आप नहीं जा पाते, ऐसे में जाने पर आपको सन्तुष्टि मिलती है।

प्रश्न- पर....।

उत्तर- कोई प्रश्न नहीं। अब सुनिये। ऐसे व्यक्ति के विषय में क्या होगा जिसकी कोई आवश्यकता नहीं है? जीवित व्यक्ति, मैं जीवित की बात कर रहा हूँ। उसे कोई खुशी नहीं मिल सकती। क्या आप कह सकते हैं कि ईश्वर खुश है? यह बिलकुल सम्भव नहीं है; क्योंकि अगर वह खुश हुआ तो एक समय ऐसा भी आयेगा जब वह दु:खी होगा। तो अपरिवर्तनशील दशा में न तो खुशी होगी न ही दु:ख। अब आप मानव खुशी चाहते हैं तो वे कुछ अस्थाई वस्त्र खोज रहे हैं। वे मूर्ख हैं।

प्रश्न- क्या हम कह सकते हैं कि ईश्वर संतुलन है?

उत्तर- संतुलन का अर्थ है दो चीजों का होना, दो पक्ष। आप देखते हैं जब तेज धूप होती है तो गहरी परछाइयाँ भी होती हैं। क्या आप उसे संतुलन कह सकते हैं? अगर मैडगासकर में एक सन्त हो और एक शैतान, तो क्या वह सन्तुलन है? या एक जहाज डूब जाये और दूसरा तैर रहा हो, तो क्या वह संतुलन है? या किसी के दो बच्चे हों, एक मर जाता है और दूसरा अच्छी तरह रहता है, तो क्या यह सन्तुलन है? परन्तु ईश्वर में सब कुछ एक बिन्दु पर विलय हो जाते हैं। यह सन्तुलन नहीं है। दोनों का मिट जाना है। इसलिये हिन्दू दर्शन में हम कहते हैं कि दोनों विपरीतियों से हमें ऊपर उठना है --- अच्छाई, बुराई, स्वास्थ्य, बीमारी, प्रकाश, अंधकार --- दोनों से। क्योंकि ऐसा है कि दोनों साथ-साथ रहते हैं। जितना अधिक यह होगा, उतना अधिक वह होगा। जितने अधिक खुश आप आज होंगे, उससे अधिक दु:खी आप कल होंगे। इसलिये सन्त सदैव बीच में रहता है। वह न दु:खी है न खुश; न अमीर है न गरीब है --- मध्य में है।

तो यही योग का लक्ष्य है --- लक्ष्य मध्य है। अब हम योगी या योग के साधक तो बनना चाहते हैं, परन्तु हम यह भी चाहते हैं कि सुखी हों, अमीर हों, एक सुन्दर पत्नी मिले, अच्छी नौकरी मिले। यह मूर्खता है। यह तो ऐसा कहने जैसा है, "मुझे थोड़ा गरम-ठण्डा पानी दो।" या पाप करने वाला सन्त माँगने के समान है या एक दिव्य शैतान। (हँसते हैं) समझ में आया?

प्रश्न- या तो हम दिव्य हैं या शैतान हैं -- दोनों सम्भव नहीं। उत्तर- दोनों के परे जाना सम्भव है।

प्रश्न- हाँ।

उत्तर- क्या हम पूजा करें? अभी। हम यहीं बैठेंगे। (टेप टूटा है)

उत्तर- कितनी चीजें हैं। मैं सोचता हूँ मैं भी कहीं जाकर चालीस दिन के लिये ध्यान करूँ -- या फिर पचास या साठ दिन के लिये। (हास्य)

प्रश्न- मैं एक व्यवसायी था और एक परिवार को ध्यान सिखाता था। क्या मैं इन लोगों को छोड़ दूँ, या.....

उत्तर- हाँ, हाँ, वह सिटिंग नहीं दे सकता। वह सहज मार्ग में स्वामी नहीं है। सहज मार्ग में प्रशिक्षक होते हैं; और प्रशिक्षक का अर्थ है जिसे इसके लिये तैयार किया गया हो।

प्रश्न- मैं इन्हें ध्यान कराने के लिये प्रश्न नहीं पूछ रहा हूँ, यह उन्हें सहज मार्ग में लाने के लिये है।

उत्तर- उसे प्रशिक्षक के पास ले जाना चाहिये और वह उन्हें ठीक से 'सिटिंग' (पूजा) देंगे। तीन पूजा, चार पूजा, पाँच पूजा। शनिवार तक यहाँ चार प्रशिक्षक हो जायेंगे।

प्रश्न- टैननरिख में चार प्रिसेप्टर अधिक नहीं होंगे?

प्रश्न- क्या यह नए प्रशिक्षकों में से एक है?

उत्तर- अभी नहीं। यह अभी अभ्यासी है। सब पूरा हो गया? ठीक है। (टेप टूटा है)

प्रश्न- बाबूजी अस्पताल, दान जैसी चीजों के बारे में कुछ कहा करते थे। सही तरीका क्या है?

उत्तर- "प्रवृत्ति यह होनी चाहिये कि दान करो और भूल जाओ। जो भी तुम दे सकते हो दो, उसे भूल जाओ और चले जाओ। दाहिने हाथ को नहीं मालूम होना चाहिये कि बायाँ हाथ क्या कर रहा है।" ईसा ने यही कहा था। अगर मैं पचास रुपये दे सकता हूँ तो "यह लो और मुझसे मत माँगो, क्योंकि मेरे पास बस यही है।" जितना तुम

दे सकते हो उससे अधिक न दो क्योंकि कल तुम उस स्थिति में न हो जाओ।

प्रश्न- परन्तु उस क्षण तो आप सब पैसा दे सकते हैं?

उत्तर- इसकी अनुमति नहीं है। 'मेरे गुरुदेव' पढ़िये। वहाँ मैंने लिखा है कि आप जितना दे सकते हैं उससे अधिक न दें। क्योंकि अपने परिवार के प्रति भी आपका कुछ कर्त्तव्य है। कल आप की पत्नी या पुत्र को सड़कों पर भीख न माँगनी पड़े, क्योंकि यह आपका दायित्व है। तो दान केवल फालतू पैसे में से दे सकते हैं। अच्छा दिल होना ठीक है, परन्तु सन्तुलन होना चाहिये।

प्रश्न- (सुनाई नहीं दिया).... केवल थोड़ा सा। हममें से प्रत्येक चार सौ फ्रैंक देगा तो हो जायेगा।

उत्तर- यह दान के लिये अधिक है, पंद्रह या बीस हजार रुपये। आप किसी को खाना खिला सकते हैं परन्तु व्यापार जमाने के लिये मदद नहीं कर सकते। तब वह सहायता नहीं है।

प्रश्न- पर हम उसे सिखाते हैं कि पैसा कैसे कमायें। सिखाते नहीं, देते....

उत्तर- यह आपकी समस्या नहीं है। इतने पैसों से आप बीस लोगों की अलग तरह से सहायता कर सकते हैं। 'सी' को ही क्यों? क्योंकि आप उसे पसन्द करते हैं। आप जिसकी सहायता करते हैं उसके पसन्दगी होने की बात नहीं है। जो भी कोई आपके पास सहायता के लिये आता है, आप से उसकी सहायता की अपेक्षा की जाती है। मान लीजिये मुझे फौस्टो पसन्द हो और मैं केवल उसे ही 'सिटिंग' दूँ और आप किसी को नहीं। क्या आपको अच्छा लगेगा?'' "नहीं, नहीं, मैं फौस्टो को एक सन्त बना दूँगा, आप सब रुकिये।" (हास्य) "मैं उसे आध्यात्मिकता सिखा रहा हूँ।" इसकी अनुमति नहीं है। आध्यात्मिकता में भी इसकी अनुमति नहीं है।

प्रश्न- परन्तु गुरुदेव कहते हैं कि सहायता करना हमारा कर्त्तव्य है।

उत्तर- मेरे मित्र, सड़कों पर जाओ, वहाँ हजारों लोग मर रहे हैं। उन सब को पाँच-पाँच फ्रैंक दो या सब के लिये एक ट्रक भर फूलों के गुच्छे खरीदो और प्रत्येक को एक गुच्छा दे दो।

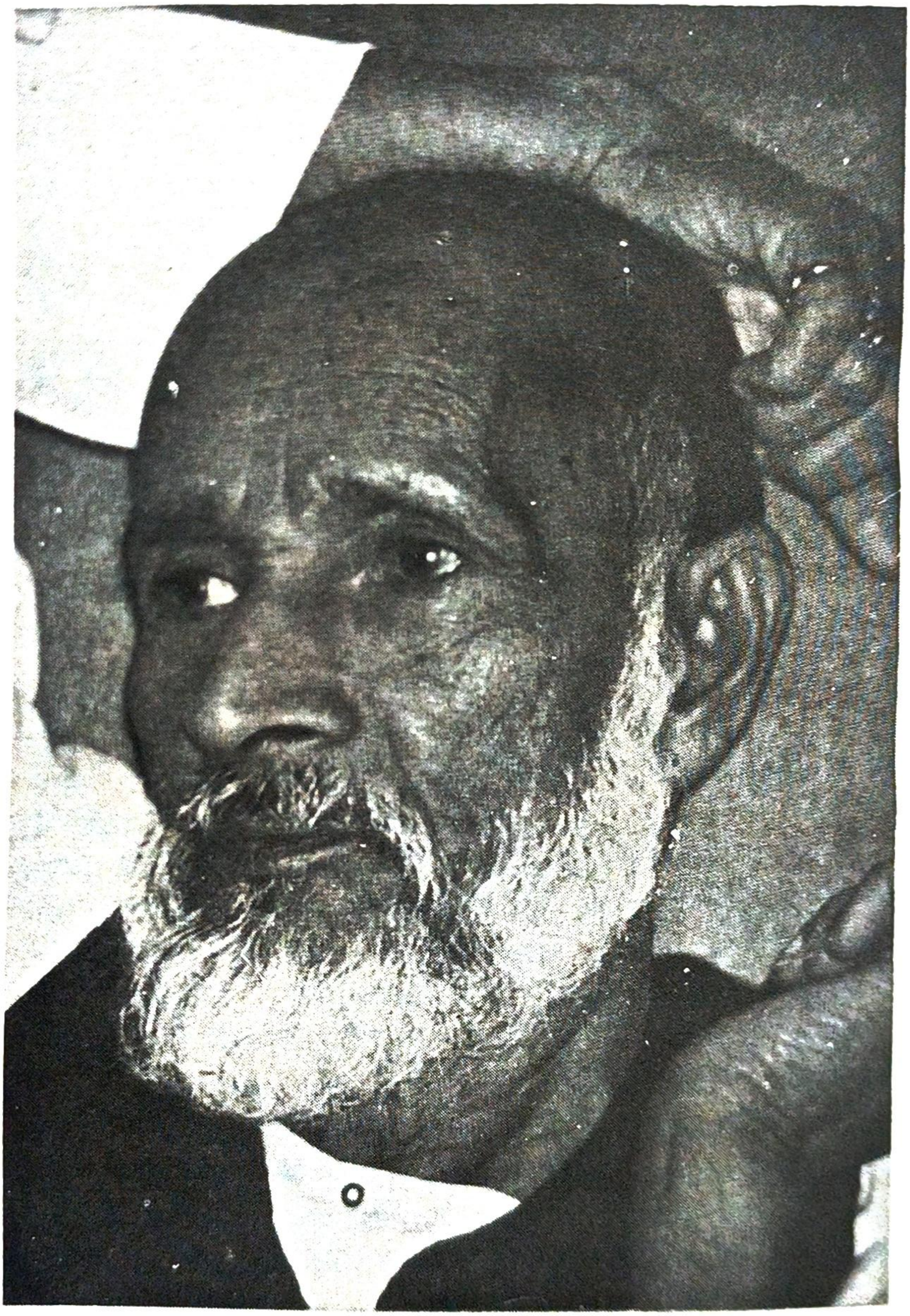

IV

शाटो डेक्स, स्विट्ज़रलैण्ड

अक्तूबर ५-११, १९८७

गुरुदेव के साथ पुनः एकत्रित

५ अक्तूबर १९८७, तीसरा पहर

भाइयों और बहनों, कई वर्षों के अन्तराल के पश्चात हम स्विट्ज़रलैंड आये हैं। पिछली बार मैं अपने गुरुदेव, बाबूजी महाराज के साथ आया था और वह एक स्मरणीय अवसर था। मुझे याद है कि प्रशिक्षकों की एक मीटिंग मौर्गस में हुई थी और उसमें लगभग १०० प्रशिक्षक उपस्थित थे। वह पहला अवसर था कि यूरोप में इतने प्रशिक्षक एकत्रित हुए थे और मेरे गुरुदेव ने स्वयं उस सभा की अध्यक्षता की थी। दूसरी बात यह थी कि वह इतने बीमार हो गये थे कि हमने सोचा कि सब यात्राएँ रद्द करनी पड़ेंगी। मुझे स्मरण है कि भाई आन्द्रे पोरे एक दिन पहले चले गये थे और गुरुदेव तथा मुझे २४ घंटे पश्चात् जाना था। जब गुरुदेव सोने गये वह बिलकुल ठीक थे, पर मुझे याद है कि अगली सुबह साढ़े चार या पाँच बजे मुझे स्टेला को जगाना पड़ा क्योंकि गुरुदेव के पेट में बहुत तेज दर्द हो रहा था। वह पूरे दिन तकलीफ में रहे और हमने फ्रांस की यात्रा रद्द कर दी, परन्तु २४ घंटे पश्चात् अगली सुबह, बाबूजी काफी ठीक थे और बोले, "हम सफर करेंगे।" तो वह स्विट्ज़रलैंड की हमारी अन्तिम यात्रा थी; और वह उस समय स्टेला के सुन्दर घर इटॉय में ला प्राइयर में थी।

तो स्विट्ज़रलैंड के साथ जुड़ी हुई मेरी यादें सुन्दर व आनन्दमय ही नहीं, अपितु गुरुदेव के अति महत्वपूर्ण कार्य की भी हैं। मुझे विश्वास है कि आप सब को भी उनकी कमी उतनी ही खलती होगी जितनी कि मुझे, और खलती रहेगी। परन्तु यह तो समय का कठोर प्रहार है – नये-नये पात्रों को रंगमंच पर लाता है और पुरानों को हटा देता है, दृश्य परिवर्तित करता है, और कभी नाटक ही बदल देता है। अब मुझे सब से ज्यादा जो महसूस होता है वह है यह परिवर्तन। कुछ लोग कहते हैं -- अन्दाज लगाते हैं -- क्या यह अच्छा है, क्या यह बुरा है? हमें गुरुदेव द्वारा कही गयी इस बात को स्मरण रखना है कि परिवर्तन के बिना विकास सम्भव नहीं और उनका दूसरा कथन कि संसार में केवल एक स्थायी चीज है और वह है परिवर्तन, या न बदलने वाली चीज केवल परिवर्तन है।

अब हम फिर यहाँ एकत्रित हुए हैं, और अनुमानित ६० या ७० अभ्यासियों के स्थान पर मैं समझता हूँ कि २५० से ३०० तक अभ्यासी हो जायेंगे। तो मेरा विश्वास है कि मेरे गुरुदेव की कृपा से यह संगोष्ठी भी पिछली बार की तरह आध्यात्मिक रूप से स्मरणीय होगी। क्योंकि बिना उनकी कृपा के यह संगोष्ठी सम्भव ही न होती। हमारे लिये केवल यह बचा है कि हम अपने हृदयों को खोल कर उस कृपा को स्वीकार करें और उसे अपने अन्दर कार्य करने दें ताकि वह जैसे चाहें हमें परिवर्तित करें। अगले सप्ताह भर इस संगोष्ठी का यही उद्देश्य होगा। मैं आशा करता हूँ कि आप सभी इस संगोष्ठी से अधिकतम आध्यात्मिक लाभ उठायेंगे और उनकी कृपा व आशीर्वाद से भरे हुए वापस जायेंगे।

धन्यवाद।

आध्यात्मिक कार्य

५ अक्तूबर १९८७, तीसरा पहर

इस परिसर के हम सभी आवासी पहाड़ों पर चढ़ने को लालायित हैं। अब मैं बदमजा करने के लिये यह नहीं कहूँगा कि मौसम बदल जाये; परन्तु हमें समझना चाहिये कि हम यहाँ क्यों हैं और अपनी आध्यात्मिक प्रगति की ओर ध्यान देना चाहिये, क्योंकि यह सप्ताह इसी उद्देश्य के लिये समर्पित है। पहाड़ तो सदैव यहाँ रहेंगे, और उन पर बाद में भी चढ़ा जा सकता है। किंतु हमारा जीवन, किसे पता कब तक है। तो बुद्धिमानी इसी में है कि आध्यात्मिक कार्य को तुरन्त आरम्भ कर बाकी सब आकर्षणों को भूल जायें। दुर्भाग्यवश यह स्थान अत्यन्त आकर्षक है। जैसा कि मैं स्टेला से कह रहा था, यह स्थान ऐसा है मानो किसी स्विस कैलेन्डर में जान डाल दी गयी हो। तो हममें से कई लोगों के लिये समस्या होगी। परन्तु अगर यहाँ काफी प्रशिक्षक हों -- मुझे पता नहीं कितने हैं, मेरा अनुमान है कि कल तक कम से कम १५ होंगे -- तो आप में से जो लोग प्रशिक्षक के पास नहीं पहुँच पाये हैं, उन्हें चाहिये कि इस सप्ताह जितनी हो सके व्यक्तिगत पूजा लें। इस प्रकार अपने को आध्यात्मिक कार्य में लगाये रखें और बाकी सब कुछ भूल जायें।

इस संदर्भ में मैं हमेशा अपने गुरुदेव की कहानी बताता हूँ। वे दिन के चौबीसों घंटे आध्यात्मिक कार्य, आध्यात्मिक प्रगति और आध्यात्मिक विकास के सिवाय और कुछ नहीं सोचते थे। आप में से कई लोगों ने उन्हें शाहजहाँपुर में देखा होगा, कई लोगों ने उन्हें यूरोप में देखा होगा, उनके लिये कोई और आकर्षण नहीं था। मुझे स्मरण है जब पहली बार हम जर्मनी से स्विट्ज़रलैंड गये, तो यह रेलगाड़ी से था, और सीमा पार करने पर किसी ने कहा, ''बाबूजी अब हम स्विट्ज़रलैंड में हैं।'' तो उन्होंने बड़ी गम्भीरता से ऐनक पहनी, खिड़की के बाहर देखा और १० सेकेन्ड के बाद ऐनक उतार कर कहा, ''मैंने स्विट्ज़रलैंड देख लिया।'' तो किसी ने कहा, ''नहीं, नहीं, बाबूजी यहाँ कितनी सारी सुन्दर चीजें देखने के लिये हैं।'' वह बोले, ''हाँ, मैंने एक पहाड़ देख लिया है, एक झील देख ली है और यही स्विट्ज़रलैंड है।'' उसके बाद उन्होंने खिड़की के बाहर नहीं देखा। कभी-कभी मेरे मन में आया

कि उन्होंने उतना भी क्यों किया। वह सम्भवतः हमारी मानवीयता के लिये एक छूट थी।

इसी प्रकार एक बार जब हम १९७२ में काहिरा में थे, उन्होंने थोड़ा सा घूमने को कहा और हम उन्हें लेकर गीज़ा के पिरामिड के लिये चले। हम लोग पिरामिड से करीब तीन किलोमीटर दूर रहे होंगे जब उन्होंने कहा, ''अब गाड़ी घुमा लो।'' अभ्यासियों ने कहा, ''बाबूजी, अभी तो हम पिरामिड तक पहुँचे भी नहीं।'' वे बोले, "मैंने उन्हें देख लिया है। इतना काफी है। मैं उन्हें देखने केवल इसलिये निकला कि लोग यह न सोचें कि मैं मूर्ख हूँ, काहिरा तक गया और बिना पिरामिड देखे चला आया।'' तो बाह्य संसार के प्रति यह उनका रवैया था। उनके लिये पूरा समय आध्यात्मिक कार्य का था, और वे उसके बारे में बात करते या काम करते कभी थकते न थे। अगर कोई अभ्यासी साथ में मौजूद नहीं होते तो वे वातावरण को प्राणाहुति देते थे, या उन लोगों को जो उनसे दूर थे। और वही उनका कार्य था। एक बार मैंने उनसे कहा, ''बाबूजी आप हर समय इतना काम कैसे कर लेते हैं?'' उन्होंने कहा, ''जो मैं कर रहा हूँ वह तो कुछ भी नहीं है। मेरे गुरुदेव, लालाजी, दिन के २४ घंटे प्राणाहुति देते रहते थे। उनकी प्राणाहुति कभी रुकती नहीं थी। वह सोते-जागते लगातार चलती रहती थी।'' तो अब जब हमने काम से छुट्टी ली है, परिवार को छोड़ा है, पैसा खर्च किया है, और इतनी दूर यहाँ आये हैं, तो हमें यहाँ अपनी उपस्थिति का प्रत्येक क्षण आध्यात्मिक कार्य में लगाना चाहिये। मेरी आप सब से यही प्रार्थना है।

धन्यवाद।

अभ्यासी कौन है?

५ अक्तूबर १९८७

.... कुछ अभ्यासी उनके साथ बैठे हुए थे और एक ने पूछा, "बाबूजी आपका काम क्या है?" मुसकराये और बोले, "वह आप मेरे ऊपर छोड़ दें, आप अपना काम करें।" (वे हँसते हैं) हमें यह स्मरण रखना चाहिये, क्योंकि इस बात का अत्यधिक अनुमान लगाया जाता है कि गुरुदेव क्या करते हैं और क्यों करते हैं। मेरे विचार में हम किसी भी मानसिक प्रक्रिया द्वारा इसे नहीं समझ सकते। जहाँ तक मैं जानता हूँ समझने का एक ही तरीका है कि हम विकास करें। जैसे-जैसे हम आध्यात्मिक विकास करते हैं, उनके कार्य को अधिकाधिक समझते हैं। वह क्या कर रहे हैं, हमें शायद कभी भी पता न चले। पर वह क्या करने की कोशिश कर रहे हैं उसकी जानकारी हमारे साथ क्या हो रहा है उससे होती है।

मुझे कई बार विचार आता है कि क्या एक आलू को, जो पानी में उबाला जा रहा है, पता होता है कि वह पकाया जा रहा है। अब हम तर्क कर सकते हैं कि आलू में कोई चेतना नहीं होती, परन्तु अगर मुझे उबलते पानी में डाला जाये, तो मुझे अवश्य ही पता चल जायेगा। परन्तु यहाँ हम एक प्रकार से आध्यात्मिक रूप में पक रहे हैं, पर कितने लोगों को पता है कि हमारे साथ क्या हो रहा है। हम पकाये जाने से उतने ही अनभिज्ञ हैं जितना कि आलू। तो अच्छा यह होगा कि हम जानने का प्रयत्न करें कि अभ्यासी क्या है, अभ्यासी कौन है, वह अभ्यासी क्यों है, किस लिये है, और वह क्या पाने का प्रयत्न कर रहा है। अगर हम इन सब प्रश्नों का उत्तर दे सकें तो हम उच्च आध्यात्मिक उपलब्धि की राह पर हैं। तो मेरे विचार में हमारा पहला कार्य है कि हम गुरुदेव के अच्छे अभ्यासी बनें, बाबूजी का काम उन पर छोड़ दें और इस पर ध्यान दें कि हमें क्या करना है। याद रखिये कि सहज मार्ग एक दिन या एक सेमिनार या वर्ष में एक बार का काम नहीं है, वह निरन्तर की क्रिया है जैसे साँस लेना। हम साँस लेने से छुट्टी नहीं ले सकते। जिस क्षण हम साँस लेना बन्द करते हैं हम समाप्त हो जाते हैं। आध्यात्मिक जीवन उसी प्रकार है। समस्या यह है कि हम भारतीय मोटरगाड़ियों की भाँति हैं जो दस मील चलती हैं,

फिर दो दिन रुक जाती हैं, तब पुनः चलना शुरू करती हैं और तीन मील और चलती हैं। वे ज्यादा दूर नहीं जातीं। हमें सदा क्रियाशील रहना है। हम और जो कुछ भी करें, आध्यात्मिक जीवन में बाधा नहीं आनी चाहिये। वास्तव में कहा जा सकता है कि यह सतत स्मरण का एक पहलू है। यह विचित्र है कि हम कितने प्रकार से सतत स्मरण कर सकते हैं। कई बार मैं सोचता हूँ कि 'स्मरण' शब्द गुमराह करने वाला है क्योंकि तब हम केवल गुरुदेव का स्मरण करने का प्रयत्न करते हैं। बाबूजी कहा करते थे कि हममें सतत स्मरण की पूर्ण स्थापना तब होती है जब हममें उनके द्वारा दी गई आध्यात्मिक दशा को सहेज रखने की योग्यता आ जाती है। तो दशा बनाये रखने में भी हम सतत स्मरण का अभ्यास कर पाते हैं। यह हम केवल तब कर सकते हैं जब हम सतर्क रहें और लक्ष्य के बारे में सदा सोचते रहें। अगर हम सहज मार्ग से छुट्टी लेते हैं, तो हमें सब कुछ फिर से शुरू करना पड़ेगा।

मैं आपको एक अनुभव बताता हूँ। हम अभी हाल ही में मैडागास्कर गये थे और हमने देखा -- उन्होंने कहा था वहाँ ३००० अभ्यासी हैं -- मैं केवल ७०, ८० ही देख पाया। दुर्भाग्य की बात यह है कि उन सब को हमें फिर से शुरू की पूजा देनी पड़ी। उनमें से कुछ तो १०, १२ साल के अभ्यासी थे, पर वे सहज मार्ग पद्धति के अभ्यासी नहीं बन पाये थे। उनमें से अनेक लोगों को जब यह मालूम हुआ तो वह बहुत दुःखी हुए। क्योंकि यह जानना कितने दुःख की बात है कि आपने इतने वर्ष बरबाद कर दिये। मैं सोचता हूँ पता नहीं और कितने इसी प्रकार यहाँ समय नष्ट कर रहे हैं? तो यह पर्याप्त नहीं कि आप अभ्यासी हैं, हमें पूरे समय अभ्यासी बनना है। यह एक ऐसी चीज है जिससे कभी भी छुट्टी नहीं मिल सकती। और सतत स्मरण का अर्थ है सतत अभ्यास। तो हम अभ्यासी बनने का प्रयास करें और यह समझें कि एक अभ्यासी क्या है। और जैसा कि सेना में कहते हैं, जो आज्ञा का पालन करना जानता है केवल वही आज्ञा देना सीख सकता है। इसी प्रकार एक पक्का अभ्यासी ही समझ सकता है कि गुरु क्या है और वह क्या करता है।

बस इतना ही।

अपना दिल गुरुदेव को दें

६ अक्तूबर १९८७, प्रातः

प्यारे भाइयों व बहनों, मैं बड़ी नम्रता से आपका ध्यान बाबूजी द्वारा १९८० में म्यूनिक में दिये गये एक महत्वपूर्ण वक्तव्य की ओर आकर्षित करना चाहूँगा। उन्होंने कहा था, ''अपने मन (mind) को प्रशिक्षक के साथ जोड़ो और अपना दिल गुरु के साथ।'' मेरे विचार में यह अत्यधिक महत्वपूर्ण बात है और इसीलिये मेरे गुरुदेव ने इसे कहा। वास्तव में यह उन्हें उसी दिन कहना चाहिये था जिस दिन उन्होंने मिशन का आरम्भ किया था। मैं समझता हूँ हमारी अधिकतर समस्यायें इसलिये उत्पन्न होती हैं क्योंकि हमें मालूम नहीं कि दिल से हम किस के साथ जुड़ें। मैं आज प्रातः एक युवा अभ्यासी से बात कर रहा था। वह दुःखी थी, निराश थी और उसका दिल टूट गया था, क्योंकि उसको अपने प्रशिक्षक के साथ अनावश्यक व अत्यधिक लगाव था। और जब यह राज खुला कि उसका प्रशिक्षक जैसा वह सोचती थी वैसा नहीं कुछ और ही था तो उसका संसार बिखर गया। यह गुरुदेव की कृपा है कि उसका विश्वास सहज मार्ग में नहीं टूटा। यह औरों के साथ भी हुआ है। मैं बहुत से अभ्यासियों को जानता हूँ जो अच्छे अभ्यासी थे और आज यहाँ नहीं हैं। क्योंकि उनका लगाव प्रशिक्षक के साथ था, गुरुदेव के साथ नहीं।

मेरे गुरुदेव के लिये इस विषय पर बोलना अत्यन्त कठिन था। वे कैसे कहते, ''अपना हृदय मेरे साथ जोड़ो।'' ऐसा नहीं किया जाता। परन्तु जब उन्हें १९८० में यह कहना पड़ा तो कल्पना करिये कि उनके हृदय में कितनी वेदना रही होगी; इस कारण नहीं कि अभ्यासियों ने उन्हें अपना दिल नहीं दिया, उन्हें उसकी आवश्यकता भी नहीं थी, उनके पास अपने गुरुदेव का हृदय था जो उनके लिये बहुत था, परन्तु इसलिये कि अभ्यासी अपने आप को और अपने आध्यात्मिक भविष्य को कितनी हानि पहुँचा रहे थे! और उनकी दृष्टि में यह बहुत अधिक प्रचलित रहा होगा कि उन्होंने उसके विषय में म्यूनिक में कहा। वास्तव में यह बीमारी इतनी अधिक फैल गयी होगी कि लाइलाज रही होगी, क्योंकि हमने देखा कि उनके जाने के कुछ ही वर्ष बाद क्या हालत हुई। कितने गुरु उठ खड़े हुए। और जिन लोगों का लगाव उन लोगों

से था वही लोग भ्रान्त हुए हैं और वे ही अपना विश्वास खो बैठे हैं और अति दुर्भाग्यवश बहुत से लोगों ने सहज मार्ग से मुख मोड़ लिया है और दोष गुरुदेव को दिया। अब बेचारे गुरुदेव क्या कर सकते हैं? उनका सन्देश अति स्पष्ट था, मेरी व्यक्तिगत जानकारी में उन्होंने अकेले में यह कई बार कहा। बाद में उन्हें यह सार्वजनिक रूप से कहना पड़ा। यह आवश्यक क्यों हुआ? मैं क्या कहूँ, यह उनका दुःख था, निराशा थी कि अभ्यासी उसके विपरीत आचरण कर रहे थे। वह अपना मन गुरु को और दिल प्रशिक्षक को दे रहे थे। यह हुआ है .... (टेप टूटा है)।

.... एक लेख में है, मुझे स्मरण नहीं किसमें, जिसका नाम है "मूर्ति पूजा"। आपको पता चलेगा कि मैंने भी करीब-करीब वही गलती की जब तक कि बाबूजी ने अपने दयामय प्रेम में मुझे झटका नहीं दिया। वह बोले, "यह तो उसका अभ्यासी है, मेरा नहीं।" यह मेरे लिये कठोर झटका था कि मेरे गुरुदेव ऐसा सोचते हैं, पर यह सही था। सौभाग्यवश उन्होंने ऐसा कहा, नहीं तो मैं भी बरबाद हो गया होता। तो यह दयनीय है कि बाबूजी ने यह ज्यादा बार ज्यादा लोगों से नहीं कहा। क्योंकि मैं समझता हूँ कई अभ्यासी इतनी बड़ी, इतनी नुकसानदेह गलती करने से बच गये होते। बेशक कुछ ऐसे अभ्यासी थे जो बाबूजी के समय में भी अपने को गुरु समझते थे और किसी विचित्र कारण से बाबूजी उन्हें प्रोत्साहन देते थे। और बाबूजी के जाने के बाद वह यहाँ-वहाँ अपने छोटे-छोटे समूह के नेता बन गये। मुझे यह सुन कर दुःख हुआ कि यहाँ स्विट्जरलैंड में भी एक समूह है। आप जानते हैं कि एक फ्राँस में है, और एक छोटा समूह हालैंड में भी क्रियाशील है। सदा ही ये छोटे आक्रमक विरोधी समूह अत्यधिक समस्याप्रद होते हैं। पर हम इसमें क्या कर सकते हैं। हमें सतर्कता बरतनी होगी कि हम गुमराह न हों। और उसका एक ही तरीका है, अपने आप को, अपने दिल को गुरुदेव के साथ जोड़े रहें। और कोई तरीका काम नहीं करेगा।

तो मुझे आप लोगों से यही बताना था, क्योंकि यह अभ्यासी जो आज सबेरे आया था उससे मुझे फिर याद आ गया कि लोगों को इस प्रवृत्ति से कितना भारी खतरा है और इससे जो नुकसान हमें होता है उसका इलाज मुश्किल है। बाबूजी ने हमें सलाह दी है, "जब दुविधा में हो तो अपने दिल से पूछो।" तो हर सलाह के लिये अपने दिल से पूछना सीखिये। अपने मन से न पूछिये क्योंकि मैं जानता हूँ लोगों को जो मेरे पास आते हैं, श्री 'अ' कैसे गलत हो सकते हैं, श्री 'ब'

कैसे गलत हो सकते हैं?'' यह सही या गलत का प्रश्न नहीं है। उदाहरणार्थ, मैं जानता हूँ कि बाबूजी के जीवनकाल में ही कई लोग यह सोचते थे कि बाबूजी से बढ़िया गुरु हैं। बाबूजी से बड़े व शक्तिशाली, उदाहरण के लिये शिवानन्द जैसे, जो करीब एक मीटर ८६ या ८७ (सेंटीमीटर) लंबे हैं, और ओवरकोट पहन कर हिमालय में खड़े होते तो उनका बहुत भव्य व्यक्तित्व लगता था। वहाँ.... मेरा मतलब, करीब हर दूसरा व्यक्ति जो अपने को गुरु कहता था बाबूजी से अधिक बुद्धि वाला था। उनमें से एक श्री जे० कृष्णमूर्ति थे, जो कि यूरोप में अति प्रसिद्ध थे क्योंकि वे बुद्धिवादी थे। लेकिन अगर हमें बुद्धिमान लोगों को या शक्तिशाली लोगों को अपना गुरु बनाना है तो हमें अपने गुरु, विश्वविद्यालय के परिसर से या जूडो अथवा कराटे के अखाड़े जैसी जगहों से चुनना चाहिये। वे गुरु नहीं हैं। परन्तु जब हम अपने दिमाग से सोचते हैं तो गलती करते हैं। तो सदा दिल से पूछिये। ''क्या यह प्रशिक्षक, जिसका मैं आदर करता हूँ, जिस पर मैं श्रद्धा रखता हूँ, जिसका मैं अनुसरण करता हूँ, क्या वह मुझे सही बात बता रहा है?'' अपनी बुद्धि से नहीं अपने दिल से पूछिये। और जैसा कि बाबूजी कहते थे, ''पुस्तकें पढ़िये'' क्योंकि उनमें सब कुछ है।

अगर शिक्षा वैसी नहीं है जैसी होनी चाहिये, तो हमें प्रशिक्षकों के ऊपर सन्देह करना चाहिये, क्योंकि कुछ जगहों पर ऐसा हुआ है कि बहुत, बहुत ज्यादा, लगभग पूरे तौर पर चीजें बदल दी गयी हैं। इस सीमा तक कि कुछ स्थानों पर न कोई मिशन है, न कोई गुरु है और न कोई पद्धति है। वे तीन चीजें जो बाबूजी ने आवश्यक बताया था और तीन चीजें जो एक ही होनी चाहिये, एक गुरु, एक मिशन और एक पद्धति। अगर कोई श्री रामचन्द्र मिशन में है और सहज मार्ग पद्धति के अन्तर्गत ध्यान कर रहा है और उसका गुरु कोई और है तो वह सही कैसे हो सकता है? तो याद रखें, एक गुरु, एक मिशन, एक पद्धति। अगर इससे कुछ भी फरक है तो हम गलत राह पर हैं। सड़क चाहे बहुत अच्छी क्यों न हो, वह मुझे सही लक्ष्य तक नहीं ले जायेगी। उदाहरणार्थ कल आप यहाँ शाटो डेक्स में आये। आप के पास गाड़ियों के बड़े-बड़े चौड़े रास्ते हैं, बहुत सुन्दर परन्तु यहाँ आने के लिये आपको छोटी सड़कों पर जाना पड़ता है और फिर और छोटी पहाड़ी सड़क पर। हमें वही सड़क लेनी पड़ती है जो हमें लक्ष्य तक ले जाती है। अगर आप कहें, ''मैं केवल बड़ी सड़क पर चलूँगा,'' तो हम कहीं और पहुँचे होते। इसी कारण आपको किसी

ऐसे का अनुसरण करना पड़ता है जिसे सड़कों का पता हो। और यहाँ वह व्यक्ति जिसे सड़क का पता है, गुरुदेव हैं।

तो हमारी आध्यात्मिक उन्नति के लिये यह अत्यधिक महत्वपूर्ण और अत्यन्त आवश्यक है कि हम यह तीनों चीजें एक ही एक चुनें; एक गुरुदेव, एक मिशन और एक पद्धति। और अन्ततः सब एक हो जाता है, क्योंकि कुछ वर्षों के ध्यान के पश्चात् हमें मालूम होता है कि गुरुदेव ही पद्धति हैं, गुरुदेव ही मिशन हैं और हमारे लिये वही लक्ष्य भी हैं। तो तीनों एक हो जाते हैं। अब अगर आप कहें, ''मैं यह गुरु लूँगा और वह मिशन तथा कोई अन्य पद्धति,'' तो वह कभी भी एक नहीं हो पायेंगी। अब हम यह भी देखते हैं कि कुछ लोग ध्यान तो रामचन्द्र जी के साथ करना चाहते हैं परन्तु ईसाई या बौद्ध या और किसी पद्धति का अनुसरण करते हैं और उनका लक्ष्य है खूब सारे पैसों के साथ मानसिक शांति। इसलिये केवल रामचन्द्र जी से मन से जुड़े रह कर आप सन्त नहीं बन पायेंगे। यह तो ऐसा कहने जैसा होगा कि ''मैं खूबानी से बना सेब का मुरब्बा चाहता हूँ।'' यह सम्भव नहीं है। तो इस मिशन में हमें मिशन द्वारा दी गयी पद्धति को अपनाना होगा, गुरुदेव का अनुसरण करना होगा, जो यह पद्धति हमें दे रहे हैं। अपना दिल उनसे जोड़ कर यह समझना है कि वे ही लक्ष्य हैं, तभी सफलता की सम्भावना है, अन्यथा नहीं। नहीं तो हम शाटो डेक्स में एक अच्छी छुट्टी मना सकते हैं, गरम हवा के गुब्बारे में ऊपर उड़ सकते हैं, और एक किलो मिठाई खरीद कर घर वापस जा सकते हैं।

तो हम यह बात अपने दिल में अच्छी तरह जमा लें, क्योंकि एक मानव के लिये दिल ही सबसे सुरक्षित स्थान है, जहाँ हम अपनी सारी मूल्यवान चीजें रखते हैं। वहीं के लिये हम कहते हैं, "वह यहाँ हैं।'' जब आप किसी से प्रेम करते हैं, तो आप यह नहीं कहते ''वह यहाँ (सिर की ओर इशारा) है,'' आप कहते हैं, ''वह यहाँ (दिल की ओर इशारा) है।'' तो गुरु को वहाँ होना चाहिये और अगर वह वहाँ है तो वह सदैव हमारे साथ हैं। वह हमारे आन्तरिक निर्देशक बन जाते हैं, और अब लक्ष्य हमारे अन्दर है और यही कारण है कि हम जहाँ हैं वहीं बैठ कर आँखें बन्द कर अंदर ध्यान करते हुए उसे पा सकते हैं। क्योंकि आप जानते हैं कि सभी धार्मिक तरीकों में हमें बाहर जाना पड़ता है, पहाड़ों पर चढ़ते हुए, तीर्थ यात्राओं पर जाते हुए। परन्तु यहाँ सारी यात्रा हमारे अन्दर ही होती है। 'वह' यहीं है। 'वह' हमें अन्दर से बुला रहा है और एक चमत्कारिक ढंग से हम अपने अन्दर जाकर, अपने ही अन्दर 'उसका' अनुसरण करते हैं। और जितनी

गहराई में हम जाते हैं, उतने ही शीघ्र हम 'उसे' पाते हैं। और जब हम अपने गहनतम स्तर पर पहुँच जाते हैं, तो मेरे विचार में गुरुदेव वह चमत्कार करते हैं जो हमें बार-बार प्रकृति में दिखता है, परन्तु मैं समझता हूँ कि उसके विषय में आप में से शायद ही किसी ने भी कभी सोचा होगा, बीज के बीच में निहित जीवन। वह वहाँ पहुँचा कैसे? यह बादाम की चाकलेट बनाने की भाँति नहीं है कि आप एक बादाम लेकर उसको चाकलेट से ढक दें। प्रकृति बिना किसी चीज को काटे-पीटे उसके मध्य में जीवन को कैसे डाल देती है? यही चमत्कार हमारे साथ होता है। हम अपने अन्दर जो जीवन डालते हैं, वह है गुरुदेव का आध्यात्मिक जीवन। ऐसा तब होता है जब हम स्वीकृति की क्रिया द्वारा, समर्पण की क्रिया द्वारा उन्हें अपने हृदय में आसीन करते हैं। वे वह बीज बन जाते हैं जिसे हम अपने हृदय में बोते हैं। और फिर वह अन्दर से अंकुरित होते हैं, प्रस्फुटित होते हैं। वह प्रस्फुटित हुए फूल हम हैं जिसका बीज उन्होंने हमारे अन्दर डाला था।

अब यह सब तभी सम्भव है जब आप गुरुदेव को अपने हृदय में धारण करें। अगर आप हृदय में कुछ और रखेंगे, शायद एक प्रशिक्षक को, या अपने दोस्त को, या पता नहीं किसी और को, तब आपको क्या मिलेगा? यह बच्चों की भाँति है जो छोटे-छोटे कंकड़ पत्थर एकत्र कर अपने दराज में रखते हैं। उससे किसी वस्तु के गुण नहीं बदलते या कुछ विकसित नहीं होता, केवल भार बढ़ता है, और एक दिन उसे उठा कर फेंकना पड़ जाता है।

हमारा यह जानना महत्वपूर्ण है कि जो कुछ भी हम अपने हृदय में रखें, वह उस स्थान के योग्य होना चाहिये। क्योंकि अगर वह उस प्रेम के योग्य नहीं है तो बेकार है। इसलिये हमें गुरु के प्रेम के योग्य तो होना ही चाहिये, पर गुरु को भी हमारे प्रेम के योग्य होना चाहिये। क्या वह ऐसे व्यक्ति हैं जिन्हें मैं अपना हृदय दे सकता हूँ? क्या वह ऐसे व्यक्ति हैं जो मेरा हृदय लेने के पश्चात् उसमें वैसे ही प्रवेश करेंगे जैसे उन्हें करना चाहिये, उसके मालिक एक गुरु की तरह, उसमें हमेशा बसने वाले की तरह। हमेशा का अर्थ एक दिन या एक सप्ताह या एक वर्ष नहीं है, बल्कि अनन्त काल के लिये है। और अनन्त के लिये मेरे हृदय में बस कर क्या वह मुझे भी वही बना देंगे जो वे स्वयं हैं? अगर वे ऐसे हैं तब तो वे मेरे हृदय के योग्य हैं, अन्यथा नहीं। परन्तु इसका निर्णय हमें लेना है। इसी कारण बाबूजी सदैव कहते थे, "गुरु का चुनाव तुम्हें करना है।" वह आकर यह नहीं कह सकते, "मैं बाबूजी हूँ, मेरे पास आओ।" धार्मिक नेताओं ने यह कहा

है, "मेरे पास आओ, मैं तुम्हें मुक्ति दिलाऊँगा।" परन्तु आध्यात्मिकता में यह वर्जित है। मूल्यांकन हमें करना है। एक और चीज स्मरण रखिये, जब आप उनका मूल्यांकन करते हैं तब आप वास्तव में अपना भी मूल्यांकन करते हैं। क्योंकि जो व्यक्ति यह चाहता है कि उसका हृदय उस निरन्तर कार्यशील शाश्वत गुरु का स्थायी आवास बने, केवल वही यह निर्णय लेगा। अगर आपका प्रेम एक दिन का है, तो कोई फरक नहीं पड़ता, "यह तो केवल एक दिन का प्रेम है और मेरा हृदय मेरे पास सुरक्षित है। मुझे उनका हृदय तो चाहिये भी नहीं था।"

तो आप देखते हैं कि आध्यात्मिकता एक अति गम्भीर वस्तु है। हम आध्यात्मिकता में प्रेम की बात करते हैं, परन्तु यह वैसा प्रेम नहीं है जैसा हम समझते हैं। यह उस प्रेमी की भाँति है जो अपना हृदय उसे सौंपता है जिसे वह उसका मालिक बनने योग्य समझता है। याद रखें, मानव प्रेम में हम दूसरे के हृदय को जीतना चाहते हैं ---- ठीक इसके विपरीत। इसलिये आध्यात्मिक प्रेम में समर्पण है और मानवीय प्रेम में अधिकार एवं नियंत्रण है। इसी कारण मानवीय प्रेम में परेशानियाँ हैं क्योंकि हर एक दूसरे के हृदय को वश में करना चाहता है, उसका मालिक बनना चाहता है; दोनों में कोई भी दूसरे के प्रति समर्पण नहीं करना चाहता। आध्यात्मिकता में यह प्रवृत्ति हमें कहीं नहीं ले जा सकती। आप अपने चुनाव के मालिक हैं। जब तक आप चुनाव नहीं करते आप अपने चुनाव के अधिकारी हैं। परन्तु एक बार आप यह निर्णय ले लें कि यह व्यक्ति मेरा हृदय पाने के योग्य है, वह इस पद के योग्य है जो मैं उसे अपने हृदय में दे रहा हूँ, तब हमारा अधिकार समाप्त हो जाता है और यह हम उसे समर्पित कर देते हैं। अगर आप इस प्रकार सोचें, जो मेरे विचार में सही तरीका है, तब समर्पण पहली चीज होनी चाहिये। फिर लक्ष्य क्या है? भाग्य क्या है? रास्ता क्या है, पद्धति क्या है? मिशन क्या है? -- सब समाप्त हो जाता है।

मेरा विश्वास है कि यदि एक अभ्यासी यह निर्णय गुरुदेव से मिलने पर पहले ही दिन ले सके और अपने आप से कह सके, "मेरा हृदय कोई सस्ती चीज नहीं है जिसे मैं फेंक दूँ। यही एक सम्पत्ति मेरे पास है। यही एक सम्पत्ति है जो इस जन्म में और इसके पश्चात् भी मेरे पास रहेगी। यह कोई ऐसी चीज नहीं है जिसके साथ मैं खेलवाड़ करूँ या बेचूँ या अदल-बदल करूँ। यह केवल उसे ही विनम्रता से दिया जा सकता है जो इसकी कदर करे, प्रेम करे और इसकी देखभाल करे। यहाँ एक व्यक्ति है जो ऐसा कर सकता है और उसके लिये मैं अपना हृदय खोल दूँ। वह मेरे हृदय में आ जाये, ताकि वहाँ रह कर

वह मेरे जीवन को अन्दर से नियंत्रित कर सके।'' जो अभ्यासी गुरुदेव से पहली बार मिलने पर ऐसा कर सके उसने अपनी यात्रा को आरम्भ होते ही पूरा कर लिया। बाकी हम सब अभी संघर्ष कर रहे हैं। परन्तु अभी भी बहुत देर नहीं हुई है। इसलिये मैं आप सब को अपने गुरुदेव के बिलकुल स्पष्ट सन्देश की याद दिलाना चाहता हूँ, ''अपना हृदय गुरुदेव को दो।''

धन्यवाद।

अपना भविष्य बनाओ

६ अक्तूबर १९८७, अपराह्न

हमें स्मरण रखना चाहिये कि बाबूजी ने क्या कहा है, ''जहाँ पर धर्म समाप्त होता है वहाँ से आध्यात्मिकता आरम्भ होती है।'' वही बात परम्पराओं पर भी लागू होती है। जिस परम्परा से हम ऊपर उठ चुके हैं उसे याद रखने का महत्व मुझे समझ में नहीं आता। क्योंकि प्रत्येक अभ्यासी किसी न किसी धर्म से आता है और हम सब की पुरानी परम्परायें हैं, किंतु हम सब यहाँ एक साथ इसलिये हैं कि हम एक ही पद्धति का अनुसरण कर रहे हैं और वह है मेरे गुरुदेव का सहज मार्ग। तो परम्पराओं की ओर वापस जाने का क्या लाभ और १०० हाथ या ५० हाथ या ३० हाथ (की लंबाई क्या होगी) इस पर माथा पच्ची करने का क्या तात्पर्य? हम अस्पष्ट चीजों में अर्थ ढूँढ़ने का प्रयत्न कर रहे हैं जहाँ शायद कोई अर्थ था ही नहीं।

जहाँ तक नोआ के जहाज की और जल प्रलय की बात है, यह परम्परा हमें सब धर्मों में मिलती है। इस पर ईसाई धर्म का कोई विशेष अधिकार नहीं है कि उन्होंने कुछ नयी बात खोज ली। यह परम्परा ईसाई धर्म में भी है। मेरे विचार में यह कथा एक दृष्टान्त के रूप में लेनी चाहिये, कि भारी बाढ़ आती है, कुछ लोग बच जाते हैं, इत्यादि। हमें बचाया गया, अच्छी बात है। हमें क्यों बचाया गया? नोआ के जहाज और बाढ़ के विषय में सोचने के लिये नहीं। अगर ईश्वर हमसे बोल सकता तो वह कहता, ''ईश्वर के लिये, अपना काम करो। मैंने तुम्हें इसीलिये बचाया है। केवल बैठ कर यह मत सोचो कि मैंने तुम्हें क्यों बचाया है, किस लिये बचाया है, कैसे बचाया है, पर अपना कार्य करो।'' यह यही कहने के तुल्य है कि वह समाप्त हो चुका, अब नया अध्याय आरम्भ करो -- अब पुस्तक का नया पृष्ठ आरम्भ हो रहा है।

तो हमें अतीत को भूलना है। ऐसा नहीं कि वह मूल्यवान नहीं, परन्तु हमें आगे देखना है, पीछे नहीं। हमें देखना है कि हम आगे प्रगति कैसे करें, न कि हमें अतीत में कैसे बचाया गया था। पिछले वर्ष के क्रिसमस के भोजन के बारे में सोचने से कोई लाभ नहीं, हमें इस वर्ष के क्रिसमस के भोजन के बारे में सोचना है।

परम्परा की आलोचना करने का मेरा उद्देश्य नहीं है। परन्तु इन परम्पराओं को देख कर उनमें कुछ खूबी या महत्व खोजना उतना ही व्यर्थ है जितना कि पीछे मुड़ कर यह देखना कि हमने कितनी सीढ़ियाँ चढ़ीं। यह गिनती के लिये रुचिकर हो सकता है, उससे अधिक कुछ नहीं। और हर बार जब आप रुक कर मुड़ते हैं और गिनते हैं कि कितनी सीढ़ियाँ चढ़ आये, आप समय नष्ट कर रहे हैं। इतने में आप कुछ और सीढ़ियाँ चढ़ सकते थे। तो अतीत को भूलकर केवल भविष्य को देखने की यही बुद्धिमत्ता है। चाहे आप एक क्षण के लिये यह सोचने को रुकें कि मेरी परम्परा अच्छी थी, तो वह क्षण खो गया। और मेरे ख्याल में बहन थेरेस हमें यही बताने की कोशिश कर रही थीं। यह नहीं कि उसे वह ईश्वर मिल गया जिसका वचन ईसा ने उसे दिया था; मेरे विचार में ईसा ने किसी को ईश्वर को पाने का वचन नहीं दिया। उन्होंने केवल कहा, ''मैं रास्ता हूँ, मैं प्रकाश हूँ, मैं सत्य हूँ, और कोई भी बिना मेरे माध्यम के पिता तक नहीं पहुँच सकता।'' वह अपने समय के लोगों को बताने की कोशिश कर रहे थे, ''मेरे पास आओ, मैं लक्ष्य तक तुम्हारा मार्गदर्शन करूँगा।'' इससे अधिक कुछ नहीं। मेरा मतलब है कि कोई किसी को ईश्वर देने का वचन दे तो वह अहंकार की सीमा होगी। ईश्वर कोई सामान नहीं है जिसे उपहारस्वरूप या दानपत्र द्वारा दिया जा सके। परन्तु प्रत्येक गुरु ने वही बात कही है, ''मेरा अनुसरण करो, मैं तुम्हारा मार्गदर्शन करूँगा।'' सहज मार्ग भी यही कहता है, मेरे गुरुदेव का भी यह वक्तव्य है, ''तुम अपना कार्य करो, मैं अपना करूँगा।'' उनकी सब से बड़ी सलाह थी, ''अतीत में समय नष्ट मत करो, अपना भविष्य बनाओ।'' तो याद रखिये, परम्परायें नाव की भाँति हैं, एक बार हमने नदी पार कर ली.... (टेप टूटा है)।

अपने आप को भूलो

७ अक्तूबर १९८७, प्रातः

आज सबेरे हमने अनेक रोचक तथा आश्चर्यप्रद वार्त्तायें सुनी हैं। अगर हम उन सब का विश्लेषण करें तो एक बात स्पष्ट सामने आती है कि जो यहाँ कुछ पाने की आशा से आते हैं उन्हें सदा निराशा होती है और वे क्रोधित होते हैं; जो कुछ बनने के विचार से आते हैं, प्रसन्न होकर वापस जाते हैं। सदा यही समस्या होती है, कुछ पाने की या कुछ बनने की। और मैंने देखा है, इतने लोगों ने टहलने के विषय में बात की है, (वे मुसकराते हैं) वहाँ भी लोग आशा लेकर आते हैं कि कौन मेरे बगल में चलेगा, कौन पीछे है, कौन आगे है; क्योंकि मुझे याद है पाइरीनीज़ में एक दिन हम टहल रहे थे तो एक अभ्यासी ने दूसरे से चर्चा की, कि मेरे बायें ओर का स्थान सदैव एक खास अभ्यासी का रहा है, परन्तु अब वह किसी और ने ले लिया है। (हास्य) और यह कारण था पहले तो निराशा का, फिर क्रोध का, और फिर मैं समझता हूँ उस अभ्यासी ने टहलना बन्द कर दिया। तो आप देखते हैं कि हम कितनी छोटी-छोटी बातों से विचलित हो जाते हैं। हम कहाँ चलते हैं उससे क्या फरक पड़ता है। आखिर मेरे बगल में केवल एक या दो लोग ही तो चल सकते हैं।

तो जब हम कुछ पाने की आकांक्षा से आते हैं, खास ख्याल की इच्छा से, दो बात की इच्छा से, एक मुसकराहट पाने की इच्छा से, तो ऐसे में अस्वीकार किये जाने की भावना के कारण अत्यधिक निराशा व कुण्ठा होती है। यह सब कृत्रिम है। मुझे स्मरण है दक्षिण भारत के एक प्रिसेप्टर बाबूजी के पास शाहजहाँपुर गये। उनके साथ लगभग आधा दर्जन अभ्यासी भी गाड़ी में सफर कर रहे थे। वह एक नये प्रिसेप्टर थे जिन्होंने हाल ही में कार्य आरम्भ किया था। उनके मन में यह भाव था कि वह ही गुरुदेव का सारा कार्यभार अपने कंधों पर लिये हुऐ हैं। पूरे रास्ते वह अभ्यासियों के सामने शेखी बघार रहे थे कि जब वह शाहजहाँपुर पहुँचेंगे तो बाबूजी उन्हें नाम से पुकारेंगे और गले लगा कर उनके कार्य की प्रशंसा करेंगे, ऐसी ही अनेक बातें। शाहजहाँपुर आने पर वह गुरुदेव के सामने बैठे। बाबूजी ने तीन दिन में एक बार भी उनकी ओर नहीं देखा। और वह मनुष्य निराश ही

नहीं हुआ, लज्जित भी हुआ कि और अभ्यासी उसके बारे में क्या सोचते होंगे। और उनके अहंकार के गुब्बारे में सुई की अन्तिम चुभन तब हुई जब उनके जाते समय बाबूजी ने उनकी ओर देख कर पूछा, "आप कहाँ से आये हैं, आपका नाम क्या है?" (हास्य) सहज मार्ग में यह अति सामान्य बात है। मुझे विश्वास है कि आप सब ने ऐसा एक या दो बार अनुभव किया होगा, परन्तु इसका मूल्य एक इलाज की तरह है, क्योंकि मुझे विश्वास है कि बाबूजी को मालूम था वह मनुष्य कौन था, क्यों आया था, क्या सोच रहा था और उन्होंने ऐसा आचरण क्यों किया? स्पष्ट है, उसे सबक सिखाने के लिये।

मैं आपको इसके विपरीत एक कहानी सुनाता हूँ। मेरी एक मित्र यूगोस्लाविया में है जो २० वर्षों से अभ्यासी है। वह गुरुदेव से मिलने म्यूनिक १९७६ व १९८० में आई। एक दिन बाबूजी एक कमरे में थे और हम दूसरे कमरे में, और वह रो रही थी और कह रही थी, "मैं एक साम्यवादी देश में अकेली हूँ जहाँ कोई ईश्वर नहीं, कुछ नहीं। मैं प्रगति कैसे कर सकती हूँ, विशेष कर जब गुरुदेव मेरा नाम भी नहीं जानते?" जैसे ही उसने यह कहा, दूसरे कमरे से गुरुदेव ने पुकारा, "लॉरा, तुम कहाँ हो?" अब मैं सचमुच समझता था कि गुरुदेव उसका नाम बिलकुल नहीं जानते थे क्योंकि मैंने उसका परिचय यह कह कर कराया था कि वह यूगोस्लाव अभ्यासी है जिसे मैं १९४८ या '४९ से जानता हूँ। परन्तु जब आवश्यकता थी, तो उन्हें किसी प्रकार उसका नाम मालूम हो गया। तो आप देखते हैं, भूलना या याद करना गुरुदेव के लिये एक तरीका है, कहिये कि एक इलाज है। मैंने बाबूजी के साथ देखा कि जिनकी याद की आवश्यकता थी उन्हें वे याद रखते और जिन्हें कभी भूलने की आवश्यकता होती उन्हें वे भूल जाते थे। और यह सदा सफल होता था।

बेशक, अगर हजारों लोग इस खास तकनीक के जोखिम से गुजरे होंगे, तो यह खतरा रहता ही था कि एक या दो लोग गुस्सा होकर मिशन छोड़ कर चले जायेंगे। ऐसा हुआ भी, पर किसी भाँति इस कुण्ठा के बावजूद वे लौट आये। मैंने बाबूजी से कई बार पूछा, "आप अभ्यासियों से इस खास तरीके से क्यों बरताव करते हैं?" वे निर्दोष बनते हुए बोले, "किस तरीके से?" तो मैंने उन्हें पूरा बता कर समझाया, तब उन्होंने मुझसे कहा, "मुझमें कोई प्रतिक्रिया नहीं होती। जो कुछ उस क्षण होना चाहिये हो जाता है, और जिस चीज की अभ्यासी को आवश्यकता होती है, उसे मिल जाता है। क्योंकि अगर मैं सोचूँ और किसी खास तरीके से कुछ करूँ, किसी को बुलाऊँ, किसी को भूलूँ,

किसी को याद करूँ, तो यह प्रकृति के इस सिद्धान्त के विपरीत होगा कि अनिवार्यतः गुरु के न कोई मित्र होना चाहिये न शत्रु, कुछ भी नहीं।''

तो एक प्रकार से हम कह सकते हैं कि गुरु ऐसे व्यवहार नहीं करता, यह उसकी आन्तरिक या दिव्यता की प्रकृति है जो हमारे सुधार के लिये इस प्रकार व्यवहार करती है। जब तक हम बार-बार उसी चीज की आकांक्षा लेकर जाते हैं हमारी समस्या वही होगी – मानी हुई अस्वीकृति, ऊपर से दिखायी देने वाली अस्वीकृति, हमें सिखाने के लिये कि हम गुरु के पास कुछ लेने नहीं कुछ बनने जाते हैं। सभी अभ्यासी इसे याद रखें। जब वे यहाँ होते हैं या किसी और सेमिनार में होते हैं तो उन्हें चाहिये अपनी तुलना करें कि जब वे आये थे तो क्या थे और अब जा रहे हैं तो क्या हैं। सेमिनार के महत्व का सही सूचक यही है। इसी के लिये हम आते हैं। अगर आप को पीठ पर थपथपाया गया या मुसकराहट मिली या आपका नाम याद किया गया, तो यह सब बहुत ऊपरी और थोड़ा पागलपन की बातें हैं। वे केवल हमारे अहम् को दर्शाती हैं, ''अहा, गुरुदेव ने मुझे पहचान लिया।'' तो हमें क्या करना चाहिये? बाबूजी कहा करते थे, ''अपने आप को भूल जाओ,'' जिसका अर्थ केवल यही है कि अपने अहम् को भूल जाओ। वे मुझे स्मरण करते हैं या नहीं, पहचानते हैं या नहीं, परन्तु जो मेरे लिये आवश्यक है वे करते हैं, तो मुझे प्रसन्न होना चाहिये। और इसमें गुरुदेव कभी चूकते नहीं। तो हमें गुरुदेव का कार्य उन पर छोड़ देना चाहिये और स्वयं कुछ बनने का महत्व सीखना चाहिये, न कि कुछ मिलने या पाने का। अपनी प्रगति का निर्णय हम क्या बने हैं उससे करना चाहिये। तभी हम सहज मार्ग में वास्तविक प्रगति करेंगे।

धन्यवाद।

धैर्य

७ अक्तूबर १९८७, अपराह्न

अब मैं जो कुछ समझ पाया वह यह है कि आपको अपने कार्य में सहायता की आवश्यकता है। मैं भी आपकी भाँति उसी नाव में सवार हूँ। मुझे भी सबके सहयोग की आवश्यकता है। मेरी मातृभाषा तमिल में एक कहावत है। पहले के दिनों में हम मक्खन निकालने के लिये छाछ को मथानी में रस्सी लगा कर उसे दोनों ओर से खींच कर मथते थे। और इस में १५, २० मिनट और कभी-कभी २५ मिनट भी लग जाते थे, और कई बार मक्खन निकलने के ठीक पहले, व्यक्ति अपना धैर्य खो बैठता था, क्योंकि मक्खन थोड़ा-थोड़ा कर के नहीं निकलता। वह एक क्षण में एकदम निकल आता है। और हमें उस क्षण की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। तो पुरानी माँयें तथा नानी-दादी यह जानती थीं। मुझे नहीं पता उस वस्तु को क्या कहते हैं, परन्तु उसमें वह लगाई हुई चीज थी जो रस्सी खींचने पर चर, चर, चर घूमती थी। पुराने लोगों में धैर्य होता था कि वह उसे खींचते रहते थे जब तक मक्खन न निकल आये। परन्तु नवविवाहिता बहू आती और बिलकुल जब मक्खन बन रहा होता तो ठीक उसके पहले, वह झल्ला कर चली जाती। तो तमिल में कहावत है, ''मथता कोई है, मक्खन कोई और ले जाता है।''

अब सहज मार्ग में प्रशिक्षकों को इस समस्या का पता है। अनेक बार जब अभ्यासी की प्रगति दिखायी देनी आरम्भ होती है तो यह भावनात्मक विस्फोट या मानसिक समस्या के रूप में भी व्यक्त होती है। हमारा किया हुआ सारा काम बेकार ही नहीं हो जाता परन्तु यह सम्भावना भी रहती है कि अभ्यासी कार्य के उस विशिष्ट व्यक्त स्थान पर ठहर जाये। अब यह अभ्यासियों या उनके पति व पत्नियों को कैसे समझाया जाये? यह अत्यन्त कठिन है और एक दिल तोड़ने वाली परिस्थिति है।

तो जो लोग काम हाथ में लेते हैं उनसे मेरी एक ही सलाह है, कि हमें अत्यधिक धैर्यवान् होना है। जिस बात की आशा हम औरों से करते हैं वह पहले हममें होनी चाहिये। हम चाहते हैं कि लोग धैर्यवान् हों, तो हमें और भी धैर्यवान् होना है। क्योंकि उसने जो नम्रता

के विषय में चर्चा की है वह सही नहीं है, उसका नम्रता से कोई सम्बन्ध नहीं है। वह धैर्य और अधैर्य से सम्बन्धित है। वह परिस्थिति जिसका उसने स्वागत-डेस्क के संदर्भ में वर्णन किया, उसमें कुछ अहंकारी अभ्यासी होंगे जो चाहते हैं कि उनकी सेवा पहले की जाये, परन्तु सामान्यतः यह अधैर्य है। कुछ लोग जो पहले आये और जिन्हें अन्त तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है क्योंकि कोई और धकिया कर आगे निकल जाता है, वे स्वभावतः क्रुद्ध हो जाते हैं। और अगर आप तब उनसे कहें, "आप को गुस्सा नहीं होना चाहिये," तो वे कहते हैं, "सहज मार्ग एक स्वाभाविक मार्ग है। जब क्रोधित होने की बात हो, तो मैं क्रोधित क्यों न होऊँ?"

परन्तु एक ही नियम है। जैसे एक माँ अपने बच्चों के साथ धैर्य रखती है, चाहे बच्चे सही व्यवहार करें या दुर्व्यवहार, खाने या दूध की ही बात क्यों न हो। कई बार उसे दो-तीन घंटों के लिये पीछे-पीछे जाना पड़ता है। मैंने छोटे बच्चों को मुँह में दूध की बोतल डाले तीन घंटे तक घूमते देखा है। परन्तु माँ को धीरज रखना पड़ता है। और अगर आप आकर यह कार्य करते हैं, आध्यात्मिक कार्य, तो असीमित धैर्य की आवश्यकता होती है। धैर्य का अर्थ ही है असीमित। क्या आप कह सकते हैं, "मैं पाँच मिनट तक धीरज रखूँगा, उससे अधिक नहीं?" यह ऐसा है जैसे एक व्यक्ति कहे, "मैं एक वर्ष के लिये ईमानदार रहूँगा, उसके बाद नहीं।" पश्चिम में आप सोचते हैं यह व्यावहारिक गुण है; नम्रता, शिष्टाचार, इन्हें मानव का व्यावहारिक पक्ष माना जाता है। परन्तु पूर्व में हम मानते हैं कि यह संस्कृति का प्रतिबिम्ब है। इसलिये वह अन्दर से आना चाहिये। वास्तव में यह हमारे चरित्र का प्रतिबिम्ब है। इसलिये यह बाहर की परिस्थितियों पर नहीं निर्भर होता।

तो हमें जो बनना है वह बनना है, चाहे दूसरे कुछ भी हों। अगर हम अच्छे लोगों के साथ धैर्यवान् रहें और अधीर लोगों के साथ अधीर रहें तो उसका कोई लाभ नहीं। या ईमानदार लोगों के साथ ईमानदार और बेइमान के साथ बेइमान। हमें स्मरण रखना चाहिये कि जैसे पानी सदैव पानी रहता है चाहे अपराधी के लिये हो या सन्त के लिये। गुलाब सभी के लिये गुलाब है, ऐसा नहीं कि एक सन्त के हाथ में वह गुलाब है, एक स्त्री के हाथ में चमेली है और एक अपराधी के हाथ में पत्थर है। जब गुरुदेव की सहायता से आध्यात्मिक अभ्यास द्वारा हमने अपने चरित्र का विकास कर लिया है तो हमारा व्यवहार सदा एक सा रहना चाहिये। वह परिस्थितियों के अनुसार बदल नहीं

सकता, या स्थल के अनुसार बदल नहीं सकता। इसी कारण चरित्र विकास के उच्चतम स्तर पर होना चाहिये, आपके आन्तरिक प्रकाश से प्रकाशित। यह सामान्य ज्ञान है कि जितना ही अंधकार घना होगा उतनी ही ज्योति प्रकाशमय होगी। आप सब को यह मालूम ही है, जब आप अपनी गाड़ी की बत्तियाँ सायंकाल में जलाते हैं तो आपको उस समय कोई रोशनी दिखायी नहीं देती। परन्तु जैसे-जैसे अँधेरा बढ़ता है, आपकी बत्तियाँ और अधिक चमकदार होती जाती हैं। हमारा चरित्र भी वैसा होना चाहिये, नहीं तो क्या लाभ? जितनी अधिक समस्यायें बाहर हों, उतना ही शक्तिशाली हमें बनना है। जितना अधिक दूसरे लोग दुर्व्यवहार करें, उतना ही धैर्यवान् हमें बनना है।

तो ऐसी शक्ति हमें निर्मित करनी है। पहला नियम है : अपने अतिरिक्त किसी और से कुछ आशा मत रखो। क्योंकि मेरा मानसिक स्वास्थ्य, शारीरिक स्वास्थ्य, आध्यात्मिक स्वास्थ्य मेरे ऊपर ही निर्भर करता है। अगर मुझे केवल उस समय धैर्यवान् होना है जब दूसरे लोग धैर्यवान्, शिष्ट और आध्यात्मिक होते हैं, तो यह उस तमिल कहावत की भाँति है कि हम सागर में नहाने के लिये लहरों के रुकने की प्रतीक्षा करते हैं। क्या यह कभी सम्भव है? यह आपको केवल तसल्ली देने के लिये नहीं है, यह जीवन का सत्य है। तो अगर हम प्रशिक्षण, आत्म-विकास और आत्म-नियमन के उस स्तर पर नहीं पहुँच पाते, और अगर मान लीजिये कल मुझे स्वागत-डेस्क पर दो घंटे के लिये खड़ा होना पड़े और मैं सब पर क्रोध करूँ, तो अभ्यासियों की अनुशासनहीनता के बारे में मेरे बोलने के बजाय वे ही मेरी अशिष्टता के बारे में कहेंगे, ''यह चारी कैसा है, वह हमें इतना भाषण देता है। जब सब कुछ ठीक-ठाक होता है तब वह अच्छा व्यवहार करता है, और आज वह अपना असली रंग दिखा रहा है।''

बाह्य संसार के साथ व्यवहार और मनोवृत्ति में एक निरन्तरता होनी चाहिये। हमें मोमबत्ती की भाँति नहीं होना चाहिये जो हवा के हर झोंके से बुझ जाये। हमें सूर्य की भाँति होना चाहिये। वह स्वयं का भक्षण करने का प्रयत्न करता है, परन्तु कर नहीं सकता। वह प्रति क्षण अपने को जला रहा है। कहा जाता है कि वह प्रति सेकंड अपना ५ या ५० करोड़ टन समाप्त करता है। फिर भी वह करोड़ों वर्ष तक रहेगा। यही रहस्य है। जब एक मोमबत्ती जलती है तो वह किसी और के सहारे जलती है। या ये बत्तियाँ, ये बिजली पर निर्भर हैं। परन्तु सूर्य का अस्तित्व अपने ही दम से है। जब हम अपने ही अस्तित्व पर रहना सीख जाते हैं, जिसका अर्थ है दूसरों पर निर्भर न होना -

और आध्यात्मिकता में आत्म निर्भरता का अर्थ है उस 'स्व' से जो मेरे भीतर है, जो मेरा गुरुदेव है -- तब हम दूसरों के लिये प्रकाश का वह स्थाई स्रोत बन जाते हैं जिसे प्रकृति की कोई शक्ति नहीं हिला सकती। और वह शाश्वत भी बन जाता है।

तो यह आध्यात्मिक जीवन का रहस्य है कि हमें शक्तिशाली बनना है, क्योंकि हमें शक्तिशाली होना ही चाहिये। इसका दूसरों से कोई सम्बन्ध नहीं। दूसरों से कुछ अपेक्षा नहीं रखना है, जिसका अर्थ है कि मुझे स्वयं से ही अधिकतम आशा रखनी है। यही उच्च बनने का तरीका है, और ऐसे मौकों का हमें अपने लिये कसौटी की तरह और अपने सुधार के लिये प्रयोग करना है। इसे अपनी प्रगति के लिये प्रयोग करना है, "ओह, आज मैं ५० लोगों के सामने खड़े होने में घबरा रहा हूँ, कल अगर मुझे ५०० लोगों के सामने खड़ा होना हो तो मैं क्या करूँगा? पाँच वर्ष में शायद ५००० लोग क्यू में खड़े हों फिर मैं कैसे कार्य करूँगा?" तो यह आन्तरिक चट्टान जैसी दृढ़ता का गुण हमें विकसित करना है। और वह तभी आयेगा जब हममें औरों के प्रति सहनशीलता होगी। वे जो हैं सो हैं। वे उसका प्रतीक हैं जो मुझे नहीं होना चाहिये, तो मैं गुरुदेव की सहायता की बदौलत वैसा न बनूँ। यह आप पर कोई आक्षेप नहीं है, यह हमें स्वयं को बताना है। आपने यह प्रसिद्ध कथन सुना होगा जब कोई पियक्कड़ या बीमार जाता है तो अक्सर हम स्वयं से कहते हैं, "अगर गुरुदेव की कृपा न होती तो यह मैं होता।"

इन सब घटनाओं व परिस्थितियों को एक दर्पण की भाँति प्रयोग कर हमें अपना सुधार करना चाहिये। तब इसकी सम्भावना होती है कि हर बार जब कोई क्रोधित हो, आप और सहनशील हो जाते हैं। हर बार जब कोई अधिक अशिष्ट हो आप का स्वयं में विश्वास और भी शक्तिशाली हो जाये। हम दुर्व्यवहार को मुसकराहट के साथ झेलें और प्रार्थना करें, "गुरुदेव कृपया उन्हें सुधारें, उनकी सहायता करें, क्योंकि वे मेरे भाई-बहन हैं और किसी वजह से अगर वे ऐसे हैं तो मुझे जो होना चाहिये मैं उससे कुछ कम हो जाऊँगा।" हालाँकि इस बात का आरम्भ हमारी बहन की छोटी सी घटना से हुआ था परन्तु यह सभी अभ्यासियों पर लागू होती है। हमें नम्रता व सहनशीलता से व्यवहार करना चाहिये क्योंकि जो हमारी सेवा कर रहा है वह गुरुदेव की सेवा कर रहा है। जब हम उनकी सेवा स्वीकार करते हैं, हमें ऐसे व्यवहार करना चाहिये जैसे वहाँ यह लड़का या लड़की नहीं अपितु गुरुदेव स्वयं खड़े हैं। अगर अभ्यासी यह मनोवृत्ति पैदा कर लें तो

कोई समस्या ही नहीं होगी। जो सेवा कर रहा है गुरुदेव की सेवा कर रहा है, जो सेवा स्वीकार कर रहे हैं गुरुदेव की सेवा स्वीकार कर रहे हैं, तब सब कुछ शांत तथा सुव्यवस्थित होगा। हमें इसी का प्रयत्न करना चाहिये।

धन्यवाद।

उनींदा प्रेम

८ अक्तूबर १९८७, सायंकाल

मैं एक प्रयोग करना चाहता था कि जब मुझे नींद आ रही हो तो क्या मैं बोल सकता हूँ। अब यह आपके ऊपर निर्भर करता है, क्योंकि मैंने यह पाया है कि वही बोला जाता है जो बोलने की आवश्यकता होती है। और मैं अपने भाइयों और बहनों से यह कहता आ रहा हूँ कि हमें बोलने से डरना नहीं चाहिये, चाहे कोई सहसा आपको जगा कर कहे, ''बोलो।'' क्योंकि अगर आप अपना दिल खोल कर बोलना आरम्भ करें तो उसमें से वही निकलेगा जो निकलना चाहिये। हालाँकि जब १९६७ में अपने गुरुदेव के आदेश पर मैंने बोलना आरम्भ किया, तो उसकी तैयारी करने में मैं अनेक कष्टमय घंटे व्यतीत करता। किंतु जब मैं बोलता था, तो उसका जो मैंने तैयार किया रहता था उससे कोई सम्बन्ध नहीं होता था। बिलकुल नहीं। वास्तव में जब १९७२ में मैं बाबूजी के साथ अमरीका गया, उन्होंने मुझे पहले से कुछ वार्तायें तैयार करने को कहा। मैंने करीब एक दर्जन भाषण टाइप भी कर लिये, परन्तु उनमें से एक का भी प्रयोग नहीं किया। तो ऐसा ही होता है। क्या बोलने की आवश्यकता है, इस पर निर्भर करता है कि सामने कौन हैं। इसलिये क्या बोला जाता है आप पर निर्भर करता है।

मैं इसी प्रकार कार्य करता हूँ, इसलिये हमें चिन्ता नहीं करना पड़ता कि आप क्या सोचेंगे, क्योंकि जिसकी आपको आवश्यकता है अगर वह मिल गया तो अच्छा ही होगा। तमिल में एक कहावत है, ''जब कोई मनुष्य बहुत भूखा होता है तो उसे खाने का स्वाद नहीं मालूम पड़ता।'' वह केवल अपनी भूख की तृप्ति को ही महत्व देता है। यह तो खाये-पीये व्यक्ति की थकी जीभ को ही स्वाद की जरूरत होती है, साथ ही इन सब कृत्रिम आडंबरों की – मोमबत्ती की रोशनी, प्लेट-प्याले, चम्मच-काँटे, मेजपोश। यह सब अच्छे खाये-पीये व्यक्ति की सूचक है जिसे भूख जगाने के लिये स्वाद की जरूरत होती है। वही हाल वार्ताओं का है। अगर आपके दिल में किसी चीज की भूख है.... प्रेम के विषय में इतना कुछ बोला जा रहा है। (मुसकराते हैं) अब क्या कोई जानता है कि प्रेम क्या है? मुझे नहीं पता। क्योंकि मैंने

इसके विषय में इतना कुछ सुना है कि मैं भी चक्कर खा गया हूँ। परन्तु एक चीज मैं जानता हूँ कि अगर आप दिल से प्रेम करते हैं तो आप प्रेम करने में ऐसे डूबे होंगे कि आपको ध्यान ही नहीं होगा कि आपको जवाब में प्रेम किया जा रहा है या नहीं। प्रेम करना और बदले में प्रेम की आशा भी करना सम्भव नहीं। यह बिलकुल सम्भव नहीं है। तो सदैव एक तो प्रेमी होता है और दूसरा वह होता है जिसे प्रेम मिलता है।

अब आधुनिक बीमारी है, क्षमा कीजिये, मुझे उसे बीमारी ही कहना पड़ता है, कि लोग केवल चाहते हैं कि उनसे प्रेम किया जाय, पर वे प्रेम करना नहीं चाहते। इसलिये यह सब प्रेम की बातचीत, प्रेम के पटाखे, मुझे नहीं मालूम क्या, क्या.... (मुसकराते हैं)। परमात्मा को धन्यवाद है कि मेरे दिल में प्रेम का पटाखा नहीं छूटा, वरना मैं तो बिखर जाता। (हास्य) यह तो मज़ाक हुआ। परन्तु मैं यह मानता हूँ कि अगर कोई अभ्यासी दिल से गुरुदेव से प्रेम करता है, तो वह एक क्षण के लिये भी यह नहीं सोच सकता कि क्या गुरुदेव मुझे प्रेम करते हैं। मैं अपने गुरुदेव को देख कर यह कह रहा हूँ। क्योंकि उन्होंने कभी भी प्रेम के विषय में बात नहीं की, उन्होंने एक बार भी नहीं कहा कि लालाजी उन्हें प्यार करते थे। उनको फिक्र नहीं थी। उनको परवाह नहीं थी। उनका काम प्रेम करना था और वह उन्होंने किया। यह गुलाब या चमेली की भाँति है, उसमें खुशबू है, वह उसे वातावरण में बिखेर देता है। वह यह इच्छा नहीं करता कि आप आकर कहें, "ओ मेरी प्रिय चमेली, तुम्हारी खुशबू कितनी अच्छी है।" वह खुशबू फैलाने के लिये ही है। वह चाहे जंगल में हो, रेगिस्तान में हो या पहाड़ पर, उसको परवाह नहीं। कोई उसे सूँघता है या नहीं, उसे परवाह नहीं। गुरुदेव के प्रति हमारा प्रेम भी ऐसा ही होना चाहिये। इसका कोई प्रश्न नहीं कि "ओह, गुरुदेव ने मुझे देखा नहीं, वे मेरी तरफ मुसकराये नहीं, वे....।" जब आप सिनेमा देखते हैं तो क्या आशा करते हैं कि सिनेमा आपको देखेगा? (हास्य) मेरा मतलब है कि यह मूर्खता है। तो अगर आप गुरुदेव को प्रेम भरी, आदर भरी, श्रद्धा भरी आँखों से निहार रहे हों तो आप यह नहीं देख सकते कि वह क्या कर रहे हैं। तो अपनी मनोवृत्ति को बदलने का प्रयत्न करिये। (मुसकराते हैं) मैं आपको थोड़ा निराशाजनक भाषण दे रहा हूँ। (हास्य) आपने कुछ ज्ञान की बातों की आशा की होगी। मेरा विश्वास करिये, यह जानना कि प्रेम क्या है बुद्धिमत्ता है। बाकी सब ज्ञान है। ज्ञान कोई भी मूर्ख दे सकता है। आपको वह प्रसिद्ध कथन ज्ञात होगा जिसे

किसी गणितज्ञ ने कहा था, संभावना-सिद्धांत के बारे में, कि अगर आप किसी बन्दर को एक टाइप करने की मशीन दे दें और उसे २० वर्ष तक टाइप करने दें तो वह शेक्सपीयर की कविता टाइप कर देगा। क्योंकि किसी प्रकार से क्रमचय और संचय इसे फलित कर देंगे।

अब बहुत से लोग जब ईश्वर और उसकी बुद्धिमत्ता की बात करते हैं तो उसके द्वारा रचित संसार की महान् विभिन्नता को दिखाते हुए निष्कर्ष निकालते हैं कि ईश्वर बुद्धिमान् होगा। परन्तु मेरे गुरुदेव कहते हैं, "ईश्वर के पास मन नहीं है और अगर उसके मन नहीं है तो उसके पास बुद्धिमत्ता भी नहीं हो सकती।" तो हम इस विश्व की उत्पत्ति कैसे समझायें। फिर प्रेम का विचार आता है और हमें वेदों में इसका उत्तर मिलता है। प्रेम से संसार की सृष्टि हुई। एक संसार के रूप में नहीं परन्तु उन चीजों के रूप में जिनसे संसार बना है। और उसके लिये सोचने की आवश्यकता नहीं और उसके प्रोग्राम के लिये कम्प्यूटर की आवश्यकता नहीं। हृदय को अपना काम करने दो। सृष्टि स्वतः ही होती है।

इसी कारण हम कहते हैं कि ईश्वर प्रेम है, यह नहीं कि ईश्वर मन है या बुद्धि है। अगर ईश्वर के पास प्रेम से बढ़िया सृष्टि का कोई तरीका नहीं था, तो हम उससे अच्छा कौन सा तरीका चाहते हैं? और हम सोच रहे हैं कैसे शादी करे, किस से प्रेम करें, कैसे प्रेम करें, कितना प्रेम करें। आज हम प्रेम के विषय में ऐसे सोचते हैं जैसे वह कोई वस्तु हो। "मुझे एक किलो ग्रुयेर पनीर दे दो।" दूसरा मनुष्य कहता है, "मुझे आधा किलो प्रेम दे दो" या "एक दिन के लिये प्रेम, एक सप्ताह के लिये प्रेम।" प्रेम को हम थोड़ा-थोड़ा या टुकड़ों में नहीं दे सकते। वह एक निश्चित समय के लिये भी नहीं होता। अगर वह है तो सदा के लिये है, और नहीं है तो कभी नहीं। तो प्रेम की यह सब चर्चा अज्ञान है। पहले हम इस तथ्य को स्वीकार कर लें, फिर हमें मालूम होगा कि कैसे प्रेम करें।

तो यह कुछ विचार, फुटकर विचार, क्योंकि मुझे नींद आ रही है, इसमें कोई ऐसी बुद्धिमानी की बात नहीं है परन्तु हमें याद रखना चाहिये कि ध्यान भी प्रेम से करना चाहिये। अगर आप ध्यान भी इस विचार से करते हैं कि गुरुदेव से कुछ प्राप्त करेंगे तो वह भी एक व्यापारिक सौदा होगा। फिर हमें यह विचार आता है, "अरे, मैं छः महीने से ध्यान कर रहा हूँ और मुझे कुछ प्राप्त नहीं हुआ।" कोई कहता है, "मैंने दो साल ध्यान किया और मुझे कुछ नहीं मिला।" परन्तु हम भूल जाते हैं कि हम ध्यान कुछ पाने के लिये नहीं करते, कुछ बनने के लिये करते हैं। मुझे यूरोप के बारे में तो पता नहीं परन्तु भारत में जब कोई बालक खाने से इनकार करता है, तो माताएँ

एक सामान्य जुगत लगाती हैं, "क्या तुम अपने पिता की भाँति बड़े और तगड़े बनना चाहते हो? तो फिर तुम्हें खाना होगा।" वे यह नहीं कहतीं, "क्या तुम अपने पिता की भाँति धनवान् बनना चाहते हो, बुद्धिमान् बनना चाहते हो।" वे कहती हैं "क्या तुम अपने पिता की भाँति बड़े और तगड़े बनना चाहते हो? तो फिर तुम्हें खाना होगा।"

यह मूलभूत बुद्धिमत्ता है। क्या आप अपने गुरुदेव की भाँति बनना चाहते हैं? तो जो उन्होंने किया वह आप करें -- बड़ा सरल उपाय। "नहीं, नहीं, मैं बुद्धिमान् भी बनना चाहता हूँ, मैं समझदार भी बनना चाहता हूँ, मैं एक कम्प्यूटर प्रोग्रामर हूँ; बिना बुद्धि के मैं यह काम नहीं कर सकता।" भौतिक जीवन में जो आपको करना है, उसे करने के लिये जो आवश्यक है वह प्रकृति ने आपको दिया है। चाहे वह शक्ति हो, बुद्धिमत्ता हो, चाहे मूर्खता हो, कुछ भी हो। आध्यात्मिक जीवन का उससे कोई सम्बन्ध नहीं है। वह वैसा ही है, आप उसका कैसे प्रयोग करते हैं यह आप पर है। जीवन का दूसरा आधा भाग, आध्यात्मिक जीवन जो कि संचालन करने वाला, नियंत्रण करने वाला आधा भाग, विनियमित करने वाला आधा भाग है, गुरुदेव का काम है, आपका काम है। तो अगर आप गुरुदेव की भाँति बनना चाहते हैं तो वही करें जो वे करते थे।

यह ऐसा है कि जब आप किसी बीमार व्यक्ति को देखते हैं जो ठीक हो गया है, तो आप उससे पहला प्रश्न पूछते हैं, "आपने क्या लिया, कौन सी दवा खायी?" है न? हम यह नहीं पूछते, "आप किस स्कूल में गये थे, क्या आप फुटबाल खेलते हैं, हॉकी खेलते हैं, क्रिकेट खेलते हैं?" केवल यह प्रश्न, "आपने कौन सी दवा ली?" और तब हम भी वही दवा लेने भागते हैं। हम यहाँ भी ऐसा क्यों नहीं करते? गुरुदेव से आप केवल एक ही बुद्धिमत्ता का प्रश्न पूछ सकते हैं, "गुरुदेव आप जो हैं वह बनने के लिये आपने क्या किया? क्या मैं भी ऐसा कर सकता हूँ?" अगर हममें यह प्रश्न पूछने की बुद्धिमत्ता है, और इसे करने का संकल्प है तो हमें उनके जैसा बनने से कोई नहीं रोक सकता। मैं यह कहने का भी जोखिम उठाऊँगा कि प्रेम भी आवश्यक नहीं। क्योंकि प्रेम हमें वह नहीं बना सकता जो हम बनना चाहते हैं। प्रेम केवल हममें, जो हम बनना चाहते हैं वह बनने की इच्छा उत्पन्न करता है। प्रेम ही उत्कंठा पैदा करता है। वह उत्कंठा ही हमसे वह प्रश्न पुछवाती है, और वह उत्कंठा ही हमें वह करने के लिये संकल्प-शक्ति देती है। इसलिये प्रेम पूरी प्रक्रिया का अन्त नहीं आरम्भ है। तो बहुत लोग पूछते हैं, "मैं गुरुदेव से प्रेम क्यों करूँ?" (वे मुसकराते हैं) बिलकुल आवश्यक नहीं, यदि आप उनके जैसा न बनना चाहें।

शुभ रात्रि।

दिव्यता का अनुभव

६ अक्तूबर १९८७, सायंकाल

खाना खाते समय आध्यात्मिकता के विषय में कुछ बातचीत हो रही थी, और एक सुझाव था कि हमें ईश्वर को खोजना है। यह गलतफहमी या भ्रम पता नहीं कब से, शायद समय के आरम्भ से है। शायद यह एक कारण है कि धर्म बाह्य बन कर रह गया है। ईश्वर कहीं स्वर्ग में है, और स्वर्ग कहाँ है हमें मालूम नहीं। इसलिये हम उसे खोजते हैं, उदाहरणार्थ तीर्थ यात्रा का विचार। यह आश्चर्यजनक नहीं है मानवता का एक बड़ा अंश ईश्वर की इस प्रकार अपने से बाहर खोज में विश्वास करता है, वहाँ वह जाता है और उसकी खोज पर्वत शिखर आदि पर करता है। बाद में इसने तब जोर पकड़ा जब हमने संसार के धर्मों को मन्दिरों, गिरिजाघरों आदि के साथ संस्थागत बना दिया। मानव ने ईश्वर को बाहर ही नहीं खोजा, बल्कि उसे कुछ विशिष्ट स्थानों में खोजा।

दुर्भाग्यवश कुछ गलतफहमी उन महान लोगों द्वारा भी आई जिन्होंने पर्वतों या जंगलों में जाकर ध्यान किया। क्योंकि परम्परा कहती है वे कहीं बाहर गये और ४० या ५० दिन बैठ कर ध्यान किया। लोग उनके ध्यान के बारे में भूल गये और उन्हें केवल पर्वतों की याद रह गई। इसी कारण आज भी हम ईश्वर को बाहर खोजते हैं। और मानवतारोपी विचार यह सुझाव देता है कि उसे ढूंढना है, खोजना है। ईश्वर की अनन्तता व सर्वव्यापकता, वह सब भूल जाता है।

अब योग जैसा रास्ता, इस सब को उलट देने की कोशिश करता है। वह सिखाता है क्योंकि ईश्वर सब जगह है, सर्व व्यापक है, तो वह अवश्य हमारे अन्दर भी होगा। और अगर वह मेरे अन्दर है तो फिर मुझे उसकी खोज नहीं करना है। और जैसा कि मेरे गुरुदेव ने कहा है, "हमें केवल उसकी उपस्थिति को अनुभव करने का प्रयत्न करना है।" मेरे गुरुदेव ने मानव के ईश्वर के साथ सम्बन्ध को समझने पर जोर दिया। और उन्होंने सदैव इस बात पर जोर दिया कि ईश्वर को ऐसे नहीं खोजना है जैसे वह कोई खोई हुई वस्तु हो। हमें वह तरीका सीखना है जो हमें उसकी उपस्थिति की आन्तरिक अनुभूति दे सके। इसलिये यह कहना भी गलत होगा कि योग ईश्वर की आन्तरिक

खोज का तरीका है। योग असल में 'उसे' अनुभव करने का तरीका है जो हमारे अन्तस् में है। और इसलिये यह प्रायोगिक अनुभव की एक तकनीक है। हम उस मान्यता से आरम्भ करते हैं कि 'वह' वहाँ है। और हम अपना ध्यान अन्दर की ओर केन्द्रित करते हैं, खोजने या ढूंढने के विचार से नहीं, परन्तु उसकी उपस्थिति को अनुभव करने के विचार से।

अब यहीं योग और धर्म में भारी अन्तर है और उसका इशारा मिलता है 'अनुभव' शब्द में, ईश्वर की उपस्थिति का अनुभव। धर्म ईश्वर को देखने, उससे बात करने, उसकी वाणी सुनने की बात करता है। योग कहता है कि ईश्वर का कोई रूप नहीं, कोई नाम नहीं, कोई गुण नहीं, अतः वह देखा नहीं जा सकता। वह हमारी पाँच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा देखा या महसूस नहीं किया जा सकता। इसलिये योग ईश्वर को देखने, छूने या सुनने की सम्भावना से इन्कार करता है। जब मेरे गुरुदेव ने मुझे यह बताया तो मैं थोड़ा भ्रमित हुआ क्योंकि वह कहते हैं कि हमें ईश्वर की उपस्थिति का अनुभव करना है, परन्तु यह इन्कार करते हैं कि वह इन सामान्य तरीकों से अनुभव किया जा सकता है। अब सामान्यतया जब हम अनुभव की बात करते हैं तो हम केवल इन ज्ञानेन्द्रियों द्वारा अनुभव को समझते हैं। तो मैंने गुरुदेव से एक सीधा प्रश्न पूछा, "अगर ऐसा है तो हम ईश्वर की उपस्थिति का अनुभव कैसे करें?" उनका उत्तर था, "यह बहुत सरल है।" उन्होंने पलटकर मुझ से एक प्रश्न पूछा, "तुम खुशी का अनुभव कैसे करते हो?" अब खुशी को छुआ या सूंघा नहीं जा सकता, जीभ से चखा नहीं जा सकता और न आँखों से देखा जा सकता है। दिव्यता को अनुभव करने का भी यही तरीका है। पाँच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा नहीं, परन्तु उन से ऊपर उठ कर। इसलिये योग या ध्यान का तरीका है कि धीरे-धीरे ज्ञानेन्द्रियों को निष्प्रभावी कर दिया जाये। हम एक खास तरह से बैठते हैं जिसे हम आसन कहते हैं। हम अपनी आँखें बन्द कर के पूरा ध्यान अन्दर की ओर केन्द्रित करते हैं।

आरम्भ में अवश्य ही हम कुछ चकित व भ्रमित होते हैं, क्योंकि मानवता की प्रवृत्ति है कि वह बाह्य में चीजें देखे, उनका बोध करे, अनुभव करे। हमसे सदैव कहा जाता है "अपनी आँखें और कान खुले रखो और ध्यान दो।" तो अपने आप को बहिर्मुखी करने की प्रवृत्ति होती है। और जितने ही हम बहिर्मुखी होते हैं, उतने ही चेतन माने जाते हैं। तो दुर्भाग्यवश, चेतनता और एकाग्रता को भी हम केवल बहिर्मुखी करके केवल बाह्य संसार पर केन्द्रित करते हैं और आन्तरिक

को भूल जाते हैं। हमसे सदैव कहा जाता है, "इस पर ध्यान दो", या "उस पर ध्यान दो', जो कि किसी वस्तु या चीज पर विचार केन्द्रित करना है।

तो आप देखते हैं, जब एक सामान्य या औसत मानव को अपना ध्यान अन्दर की ओर केन्द्रित कर के ध्यान करने को कहा जाता है, तो यह हमारे जीवन की सामान्य प्रवृत्तियों के बिल्कुल विपरीत होता है और साथ ही यह भी समस्या होती है कि हमें कुछ ऐसी चीज को देखना होता है जो कि भौतिक रूप में नहीं होती। जब हमसे कहा जाता है कि ईश्वर पर ध्यान करो और बताया जाता है कि ईश्वर का कोई नाम, कोई रूप, कोई गुण नहीं है तो स्वभाविक है कि हम भ्रमित हो जाते हैं। इसी कारण लोगों को धर्म, धार्मिक क्रियाएँ और धार्मिक रूप से ईश्वर को खोजना सरल भी लगता है, हालाँकि उसके द्वारा हम केवल एक विशिष्ट मानसिक स्थिति या मानसिक शांति के अतिरिक्त और कुछ नहीं प्राप्त करते।

ईश्वर को अनुभव करने की राह पर उपलब्धियाँ केवल उनको प्राप्त हुई हैं जिन्होंने अन्दर देखा है। आप को ऐसे लोग ईसाई रहस्यवादियों में मिलेंगे। वे ईसाई केवल नाम के हैं क्योंकि वह अब ईसाई नहीं रहे। उन्हें ईसाई रहस्यवादी इसलिये कहा जाता है क्योंकि वे ईसाई परम्परा में जन्में और रहस्यवादी बन गये। इसी प्रकार भारत के ऋषि हैं, योगी जो हिन्दू जन्मे पर बाद में हिन्दू नहीं रहे। आपको ऐसे लोग प्रत्येक धर्म में मिलेंगे, एक बार वह धर्म को पीछे छोड़ कर रहस्यवादी पथ पर चल पड़ते हैं, अपना ध्यान अन्तर्मुखी कर के दिव्यता पर ध्यान करते हैं तो सामान्य अर्थ में जो धार्मिक व्यक्ति समझे जाते हैं, वे वैसे धार्मिक व्यक्ति नहीं रह जाते। अक्सर हम देखते हैं कि ऐसे लोगों पर अपने ही देश के धार्मिक लोगों द्वारा अत्याचार किये जाते हैं।

यह स्मरण रखना महत्वपूर्ण है कि ईसा भी एक ऐसे ही व्यक्ति थे। आप में से जो ईसाई धर्म के विषय में जानते हैं उन्हें याद होगा कि ईसा पैदाइशी तौर पर यहूदी थे। दुर्भाग्यवश लोग यह सोचते हैं कि वे स्वयं ईसाई थे। ईसा किसी भाँति भी ईसाई नहीं थे। वे यहूदी पैदा हुए थे और यहूदी धर्म के पाखण्ड, भ्रष्टाचार और उसकी व्यापार परक क्रियाओं से दुःखी थे। उन्होंने एक नया तरीका खोजा। कहा जाता है कि पूर्व की ओर वहाँ से कुछ सीखने के लिये गये, उन्होंने सिनाई पर्वत पर या ऐसी ही किसी जगह पर ध्यान किया और एक आन्तरिक तरीका खोजा 'उस' तक पहुँचने का जिसे वे अपना 'पिता' कहते थे। और यह रास्ता उन्होंने अपने लोगों को सुझाया। तो इस

कहते थे। और यह रास्ता उन्होंने अपने लोगों को सुझाया। तो इस आन्तरिक तरीके से ईसा को, जिन्हें बाद में क्राइस्ट कहा गया, ईश्वर की उपस्थिति का पता चला, इस उपस्थिति की अनुभूति हुई, जिसको उन्होंने ईश्वर न कह कर पिता कहा, अपने और अपने निर्माता के सम्बन्ध की समीपता पर जोर देने के लिये। तो ईसा के इस आध्यात्मिक प्रयास में हमें अपने निर्माता के साथ नये सम्बन्ध का पता चलता है, एक पिता और पुत्र का। ईश्वर, मूसा का वह भयंकर ईश्वर नहीं है, जिसके दस निर्देश हैं, दण्ड हैं -- नरकाग्नि, डामर (पिघला हुआ) और गन्धक। ईश्वर एक प्रेमी पिता है; वह दयामय है, कृपामय है। तो आप देखते हैं कि सम्पूर्ण विचारधारा ही बदल दी गयी। ईश्वर के सम्पूर्ण विचार में ही प्रबल परिवर्तन हो गया है। लोग इसे समझ नहीं पाते। क्योंकि हम देखते हैं कि धर्म तो पीछे रह गया और आध्यात्मिकता का प्रारम्भ हो गया। और इसी सत्य को मेरे गुरुदेव ने बहुत सुन्दर ढंग से एक वाक्य में कहा है, ''जहाँ धर्म का अन्त होता है वहाँ से आध्यात्मिकता का आरम्भ होता है।''

दूसरा महान परिवर्तन है कि ईश्वर अब दण्ड या पुरस्कार देने वाला नहीं है, बल्कि एक पिता है जो हमें प्यार करता है, जिससे हम बिछुड़ गये हैं और रास्ता भूल गये हैं। इसलिये मेरे गुरुदेव द्वारा सिखाई गयी आध्यात्मिकता अपने वास्तविक घर में 'उसके' पास जाने के लिये रास्ता खोजने का एक तरीका है। और इस दूसरे महान् सत्य को मेरे गुरुदेव ने एक और वाक्य में कहा है कि धर्म सदैव दो बातों पर निर्भर रहा है, भय तथा लालच। जब कि आध्यात्मिकता कहती है, ''ईश्वर तुम्हारा पिता है, वह तुम से प्रेम करता है, उसके दिल में तुम्हारे लिये दया है, करुणा है, वह भी तुम्हारे लिये उतना बेताब रहता है जितना तुम उसके लिये; बाहर मत देखो, अन्दर देखो।'' यह सत्य तुम्हें ईसाई धर्म में मिलता है'' मेरा राज्य इस संसार का नहीं।''

तो अपने गुरुदेव द्वारा सिखायी गयी सहज मार्ग की ध्यान-पद्धति में हम यही करते हैं। सहज मार्ग के विषय में विस्तार से हम कल बोलेंगे।

धन्यवाद।

प्रश्न और उत्तर

१० अक्तूबर १९८७, प्रातः

उत्तर- तो हम प्रश्नों के उत्तर आरम्भ करें?

(प्रश्न गुरुदेव द्वारा प्रश्नों की एक पेटी में से पढ़े गये)

प्रश्न- क्या आप हमें बतायेंगे कि अगर एक अच्छी आत्मा मुक्ति प्राप्त करने के पहले मर जाये तो उसका क्या होता है? वह कहाँ जाती है और उसका क्या होता है? यह भी बतायें कि एक अच्छी आत्मा जिसने मोक्ष तो प्राप्त कर लिया है परन्तु केन्द्र तक अपनी यात्रा पूर्ण नहीं की, वह कहाँ जाती है और मरने पर उसका क्या होता है?

उत्तर- मेरे विचार में इन प्रश्नों के उत्तर देने का कोई विशेष लाभ नहीं है, और इससे क्या फरक पड़ता है? हम लक्ष्य तक पहुँचें, और यह चिन्ता नहीं करनी चाहिये कि उसका क्या होता है जो नहीं कर पाता। यह ऐसा कहने जैसा होगा, "मान लीजिये मैं जेनेवा जा रहा हूँ और मैं वहाँ नहीं पहुँचता, तो मेरा क्या होगा?" मैं कहीं भी जा सकता हूँ। मैं कहाँ हूँ इससे क्या फरक पड़ता है। मुझे जेनेवा पहुँचने का प्रयत्न करना या यहाँ वापस आना चाहिये।

प्रश्न- कल आपने बाबूजी के बारे में बोलते हुए कहा था कि वे वातावरण को प्राणाहुति देते थे, इसका क्या अर्थ है?

उत्तर- उसका वही अर्थ है जो मैंने कहा। (हास्य) अगला प्रश्न?

प्रश्न- ध्यान समाप्त होने के बाद जब हम एक समूह में होते हैं और गुरुदेव वहीं पर होते हैं, तो कब हम पुनः ध्यान आरम्भ कर सकते हैं?

उत्तर- क्या आपका मतलब है कि आप दोबारा यहाँ ध्यान में कब बैठ सकते हैं? मेरे गुरुदेव का कहना था कि सामान्यतः आप दिन में जितनी बार चाहें ध्यान कर सकते हैं, परन्तु एक समय में एक घंटे तक, अधिक नहीं। परन्तु जब आप समूह में हैं तो सामूहिक कार्यक्रम का अनुसरण करना शिष्टाचार है।

प्रश्न- क्या आप कार्य के बारे में हमें बतायेंगे? कभी-कभी जब हम एक अभ्यासी के साथ घटित घटनाओं के आधार पर दूसरे अभ्यासी को उसका मूल्यांकन करते देखते हैं तो बड़ा धक्का लगता है। जैसे यह

कहना फलाँ-फलाँ व्यक्ति बीमार है तो उसके कर्म बहुत बुरे रहे होंगे और उसे अच्छी सफाई की आवश्यकता है। (हास्य) क्या आप हमसे भोग, सफाई और कर्म पर बातचीत करेंगे।

उत्तर- एक बड़ा आदेश!

मैं एक दूसरे अवसर पर स्पष्ट कर चुका हूँ कि कर्म का हिन्दू सिद्धान्त सहज मार्ग के संस्कार के सिद्धान्त से भिन्न है। इसलिये हमें कर्म के सिद्धान्त की फिक्र नहीं करनी चाहिये। कर्म केवल कहता है कि हमने जो भी बीज बोया है उसके अनुसार सुख-दुःख भोगना होगा। अधिकतर लोग यह सोचने की गलती कर बैठते हैं कि अगर आपके अच्छे कर्म हैं तो वह अच्छा है। परन्तु मेरे गुरुदेव इससे सहमत नहीं थे। क्योंकि अच्छे कर्मों का फल भोगने के लिये भी हमें यहाँ आना पड़ेगा। इसका अर्थ है कि जिसका कर्म अच्छा है उसका पुनर्जन्म शायद अच्छी तरह का हो, परन्तु वह पुनर्जन्म से मुक्त नहीं हो सकता। सहज मार्ग में संस्कार एक क्रिया या विचार द्वारा बनता है, और सभी संस्कार अवाञ्छनीय है। हम अच्छे या बुरे संस्कार में भेद नहीं करते। इरादा यह रहे कि सम्भव हो तो संस्कार बनने से रोकें। और मेरे गुरुदेव कहते हैं कि यह सम्भव है, क्योंकि सफाई द्वारा हम अतीत के संस्कारों से मुक्ति पा जाते हैं और एक नियंत्रित और सही ढंग से जीवन व्यतीत करने से यह सम्भव है कि नये संस्कार न बनें। यही हमारा लक्ष्य है, मेरा मतलब जीवन का लक्ष्य है, ध्यान का लक्ष्य नहीं।

प्रश्न- क्या आप सतत स्मरण करने के सब तरीकों के विषय में चर्चा करेंगे?

उत्तर- मैं नहीं समझता कि बहुत सारे तरीके हैं। स्मरण तो स्मरण है। जब मैं स्कूल में था तो हमें बताया जाता था.... वह एक अंग्रेजी स्कूल था और मेरे हेड मास्टर की पत्नी एक अंग्रेज महिला थीं। जब उन्हें कुछ याद रखना होता तो वह रुमाल में एक गाँठ बाँध लेती थीं। कभी-कभी वह भूल जाती थीं कि रुमाल में जो गाँठ हैं वह किस लिये है। उन्होंने एक तकनीक निकाली याद दिलाने के लिये कि रुमाल की पहली गाँठ क्यों है। अब यह एक सच्चा किस्सा है, बनाई हुई कहानी नहीं। अब इसका अन्त कहाँ है, कहाँ जाकर यह समाप्त होगा?

तो हमें स्मरण करने की ऐसी तकनीक नहीं बनानी चाहिये कि हमें क्या स्मरण करना है उसे भी याद करने के लिये दूसरी तकनीक ढूंढनी पड़े। जिसे हम गणितज्ञ प्रतिवर्ती परिस्थिति कहते हैं। मुझे स्मरण करने का स्मरण, स्मरण का स्मरण... ऐसे चलता ही जाता है। तो सब से अच्छा है स्मरण रखना। हमें याद रखना है और हमें उसकी कोशिश

करनी चाहिये। एक तकनीक जो मेरे गुरुदेव ने बताई है, वह है कि जब हम कुछ कार्य करना आरम्भ करें विचार कर लें कि गुरुदेव इसे कर रहे हैं। मान लीजिये आप खाना बनाने जा रहे हैं, तो सोचिये कि गुरुदेव खाना बना रहे हैं। जब आप काम पर जायें तो सोचिये कि गुरुदेव काम पर जा रहे हैं, और इसी तरह। दूसरा तरीका है कि जो अपनी आध्यात्मिक दशा है उसे बनाये रखें। और कोई तरीका मुझे मालूम नहीं।

प्रश्न- कई स्थानों पर सामूहिक ध्यान एक घंटे चलता है; क्या यह अधिक लम्बा है कितनी देर चलना चाहिये?

उत्तर- ध्यान चाहे व्यक्तिगत हो या सामूहिक, एक घंटे करने के लिये कहा गया है। न वह लम्बा है न छोटा है, जितना होना चाहिये उतना है।

प्रश्न- पुरुष और स्त्री की प्रकृति क्या है? अर्थात् जानना चाहती हूँ कि स्वभाव से क्या पुरुष और स्त्री में भिन्नता है? दोनों की समाज में क्या भूमिका है? उनके अन्दर इतना दुःख व निराशा क्यों है? अपने जीवन में और जो मेरे समीप हैं उनके जीवन में, मैंने देखा है कि चीजें हमारी प्रत्याशा के विपरीत होती हैं। क्या आप समझते हैं यह मेरी व्यक्तिगत कमजोरी और अक्षमता के कारण है या कोई नियम है जो हमारी खुशी को निर्धारित करता है?

उत्तर- पहले प्रश्न को हम छोड़ सकते हैं। उसका हमारी साधना से कोई सम्बन्ध नहीं। जहाँ तक दूसरे प्रश्न का सम्बन्ध है -- कि उनकी आशाएँ पूरी नहीं होती -- आपको और अधिक परिश्रम करना चाहिये। अधिकांश लोगों की कमजोरी यह है कि वे पर्याप्त प्रयास नहीं करते। हम थोड़ा सा प्रयत्न कर के फिर बन्द कर देते हैं और सोचते हैं, "मैं सफल नहीं हूँ।" तो अपनी इच्छा शक्ति का उपयोग करिये, प्रयत्न करिये और अपनी कमजोरी की बात मत सोचिये। एक तीसरा प्रश्न हैं, "अभ्यासी की व्यक्तिगत समस्या में गुरु की क्या भूमिका है?" गुरु यह पसन्द करेगा कि वह उसमें न फँसे। (हास्य)

प्रश्न- कभी-कभी, मेरे विचार से अभ्यास के कारण, मैं शारीरिक व मानसिक रूप से थकावट और कमजोरी महसूस करता हूँ। ऐसा क्यों? इसके लिये क्या करें?

उत्तर- मेरा सामान्य अनुभव है कि जो लोग पहले से ही थके होते हैं, जब वे ध्यान में बैठते हैं तो और थक जाते हैं। ध्यान सम्भवतः किसी को नहीं थका सकता। इसके विपरीत मेरा अपना व्यक्तिगत अनुभव रहा है कि कई अवसरों पर मैं तीन या चार दिन प्रायः बिना सोये ही

काम करता था, विशेष कर जब मैं अपने गुरुदेव के साथ सफर करता था। फिर चौथे या पाँचवें दिन वे मुझे दस मिनट की सिटिंग देते और मैं एक बच्चे की भाँति तरोताजा हो जाता। कोई थकावट नहीं कमजोरी नहीं, तो ध्यान हमें कैसे थका सकता है? यह एक गलत धारणा है। क्या किया जाये? अपने प्रतिदिन के जीवन में कम काम करने का प्रयत्न करो। जैसा कि अंग्रेजी भाषा में कहते हैं, हममें से अधिकतर पागल कुत्तों की भाँति भागते रहते हैं। बहुत सारी चीजें बहुत कम समय में करने का प्रयत्न करते हैं। और फिर हम केवल इस योग्य रह जाते हैं कि घर आकर सो जायें। तो हमें प्रयत्न करना चाहिये कि अपनी शक्ति के अनुसार अपने दिन का सही कार्यक्रम बनायें।

उत्तर- यह सब प्रश्न फ्राँसीसी भाषा में हैं। आपको पढ़ कर उनका अनुवाद करना पड़ेगा।

प्रश्न- अभ्यास हमारे हृदय को गुरुदेव के कार्य के लिये खोलता है, प्रेम हमें गुरुदेव के हृदय तक ले जाता है, और उसके पश्चात्?

उत्तर- और उसके पश्चात्? अगर आप गुरुदेव के हृदय तक पहुँचने का सौभाग्य पा लेते हैं तो वही अन्त है। उसके बाद और कुछ नहीं करना है। (हास्य)

प्रश्न- दूसरा प्रश्न- पिछली बार से ध्यान के दौरान या सफाई करते समय या मेरे दिन प्रतिदिन के जीवन में एक आन्तरिक आवाज बार-बार कहती है ''सफाई करो और प्राणाहुति दो।'' इसका क्या अर्थ है?

उत्तर- यह एक कल्पना है। हमें ऐसी आवाजें नहीं सुननी चाहिये। कभी-कभी वह हमारे अन्दर छिपी हुई शक्तिशाली इच्छाओं को व्यक्त करती हैं। शायद यह प्रश्नकर्ता प्रशिक्षक बनना चाहता है या चाहती है। और इसका प्रक्षेपण इस आन्तरिक आवाज के रूप में होता है जो हमसे बात करती है। मेरे गुरुदेव कहा करते थे कि इसकी पुष्टि सदैव गुरु से करानी चाहिये। तो आप जो भी आवाजें सुनें उनकी अवेहलना करिये। उस समय भी जब वे अच्छा परामर्श दे रही हों।

प्रश्न- मैं एक नयी अभ्यासी हूँ। मैंने किसी को कहते सुना कि एक पूर्ण व पहुँची हुई स्त्री, सहज मार्ग में गुरु का कार्य नहीं कर सकती क्योंकि वह जन्म देती है और उसका तालमेल प्रकृति की विनाशकारी शक्तियों के साथ नहीं बैठ पायेगा, जिनका गुरु द्वारा उपयोग प्रकृति व ब्रह्माण्ड की सफाई के लिये कभी-कभी आवश्यक हो जाता है। अगर वह प्रकृति की इस विनाशकारी शक्ति का उपयोग करे तो उसको या प्रकृति को क्या होगा? पुरुष भी स्त्री के साथ प्रेम की क्रिया में एक

प्रकार से जीवन देता है, है न? अगर एक स्त्री यह निर्णय करे कि वह जन्म नहीं देगी तो क्या वह इस शक्ति का प्रयोग कर सकती है?

उत्तर- (वे मुस्कुराते हैं) बेहतर यह होगा कि आप अपने आध्यात्मिक विकास में लगें और इसकी चिन्ता न करें। बस।

प्रश्न- क्या यह अधिक अच्छा होगा कि हम ध्यान के समय गुरुदेव को अपने हृदय में स्थापित करें बजाय इसके कि अपने आप को गुरु के हृदय में रखें। क्या आप कृपया इसे स्पष्ट करेंगे।

उत्तर- दोनों गलत हैं। आप से यह अपेक्षा नहीं की जाती कि आप गुरु को हृदय में स्थापित करें। आप से आशा की जाती है कि हृदय में प्रकाश पर ध्यान करने की कोशिश करें अगर हम उस स्तर तक विकास कर लें कि एक दिन गुरु स्वयं हृदय में दिखाई दें --- हृदय में दिखाई दें न कि उन्हें आप स्थापित करें --- तब उनके स्वरूप पर ध्यान करना सही होगा। अभ्यासी ध्यान के लिये अपने आकार को गुरु के हृदय में रखे, यह मैंने कभी नहीं सुना। किसी भी हालत में यह बहुत गलत है।

प्रश्न- मुझे अपने बचपन में और किशोरावस्था में प्रेम नहीं मिला। मैंने सदैव अपने अन्दर एक खालीपन अनुभव किया और मुझे लगता है कि मेरी वास्तविक संरचना को जो आवश्यक पोषण मिलना चाहिये था वह नहीं मिला और वह सदैव बिना संतुलन के रहेगी। मैं अपने अन्दर एक रुकावट अनुभव करता हूँ और प्रेम की गहराई को पाने में अक्षम हूँ। साथ ही मुझे लगता है कि जिस प्रेम का न मुझे ज्ञान हुआ न जिसे अनुभव करना सीखा, अब उसकी अनुभूति होने पर उसे दूसरों को गहराई से देने में अक्षम हूँ। अपने आप को मैं इससे कैसे मुक्त करूँ, प्रेम करना कैसे सीखूँ और दूसरों को अपने हृदय और शरीर में पाना कैसे सीखूँ?

उत्तर- सफाई द्वारा, यह विचार निकाल दो कि हमें कुछ नहीं मिला। और बार-बार उसके विषय में विचार मत करो। मान लीजिये कि मुझे दो वर्ष से खाना नहीं मिला -- यह सम्भव नहीं, पर इसे मान लीजिये -- और आज मुझे कोई खाना देता है। तो क्या मैं उसे खा नहीं पाऊँगा? फिर कठिनाई क्या है? तो इस विचार को भूल जाओ, सफाई द्वारा उसे हटाओ और ठीक से ध्यान करो। यही समाधान है।

प्रश्न- पेरिस में थियोसोफिक सोसाइटी में आने पर आप ने अपनी वार्ता के दौरान कहा था, "६६ वर्ष के पश्चात् बहुत देर हो चुकी होती है। इन लोगों को अपने आप को योग की ओर अभिमुख करना

चाहिये।'' इनमें से कुछ लोगों को थोड़ी उलझन आ गई है। क्या आप कृपया इसको अधिक स्पष्ट करके बतायेंगे? धन्यवाद।

उत्तर- अगर आप उस समय आरम्भ करना चाहते हैं तो सामान्यतया बहुत देर हो चुकी होती है,क्योंकि हमारी शक्ति कम हो जाती है, मानसिक शक्ति शायद समाप्त हो जाती है। परन्तु सब कुछ खोया नहीं है, हम फिर भी आरम्भ कर सकते हैं और गुरु में विश्वास के साथ आगे जा सकते हैं। तो उन्हें निराश या दुःखी नहीं होना चाहिये। बेशक, उनसे यह कहने का कोई लाभ नहीं कि उन्हें तब आरम्भ करना चाहिये था जब वे थोड़े छोटे थे, (मुसकराते हैं) क्योंकि हम भूतकाल में जाकर अब तो कुछ आरम्भ कर नहीं सकते। सीख यह है कि कम से कम अब तो आरम्भ कर दो। और तब तक प्रतीक्षा मत करो जब तक तुम छिहत्तर साल के न हो जाओ। तो कोई समस्या नहीं है। और यह उस पर आधारित है जो मेरे गुरुदेव ने मुझे एक बार बताया था। उन्होंने कहा, ''वृद्ध लोग सामान्यतः जरा-जीर्ण होते हैं और वास्तविक योग तथा ध्यान के लिये अत्यधिक निर्बल होते हैं। परन्तु अगर वे मेरे पास आते हैं तो मैं उन्हें करुणावश दे देता हूँ क्योंकि वे अपने आप कुछ प्राप्त कर सकने के लिये अतिवृद्ध हो चुके होते हैं। तो बुद्धिमानी इसमें होगी कि कम से कम उस आयु में किसी प्रकार गुरु के पास तो जायें।

तो जैसा कि मैंने कहा, सब कुछ खोया नहीं, वह सदैव सम्भव है। मेरे विचार में उस वार्ता से कई लोग, मेरा मतलब उमरदार लोग, परेशान हुए थे। परन्तु वह केवल याद कराने के लिये था कि आप चीजों को अधिक देर तक न टालें। मैंने अपने एक मित्र का उदाहरण बताया है जिसने पैंतालीस साल के आस पास शादी की। और मैं उसके लिये कोशिश करता रहा कि वह ध्यान आरम्भ करे। उसकी शादी के ठीक बाद में भी मैंने उससे कहा, उसने कहा, ''ओह, कुछ वर्ष शादी के सुख भोगने के बाद जब मैं पचास वर्ष का हो जाऊँगा तब आरम्भ करूँगा।'' अगले ही वर्ष उसकी मृत्यु हो गई। तो जीवन और मृत्यु हमारे हाथों में नहीं है। इसी लिये बाबूजी कहते थे, ''अभी आरम्भ करो।'' कल भी नहीं, अभी। इसी क्षण। आध्यात्मिक जीवन के लिये यही सब से बढ़िया तरीका है। और आपको यह भी अवश्य याद रखना चाहिये कि लाला जी कहते थे ''आध्यात्मिक जीवन वास्तव में गर्भ धारण के समय आरम्भ होना चाहिये।'' और अगर हम छाछठ वर्ष या सत्तर वर्ष तक प्रतीक्षा करें तो हमने कितना समय व्यर्थ गँवा दिया। वृद्ध लोगों को दुःखी नहीं होना चाहिये परन्तु यह भी याद

रखना चाहिये कि उनका जीवन काल युवा लोगों के जीवन काल से छोटा है — ऐसा तो होता ही है। सामान्यतया जो अठारह वर्ष का है वह आगे अनेक वर्ष की उम्मीद कर सकता है बनिस्बत छाछठ वर्ष के मनुष्य के। इसका अर्थ केवल यह है कि कार्य करने के लिये हमारे पास कम समय है। और इसलिये और देर करना मूर्खता होगी। बस इतना ही।

प्रश्न- क्या मैं, ध्यान मंडप में पुरुष और स्त्रियों को अलग करने का कारण जान सकता हूँ जब कि कमरों में ऐसा नहीं है? (हास्य) हम वहाँ भी ध्यान करते हैं। मैं स्त्री-पुरुष का भेद नहीं मानता।

उत्तर- सुझाव के लिये धन्यवाद, मेरा मतलब दूसरे वाले सुझाव से है। (मुसकराते हैं) अलग समूह में बैठना, ध्यान के लिये अच्छा है।

प्रश्न- क्या गुरुदेव के प्रति समर्पण, जो उनके साथ विश्वास व प्रेम का सम्बन्ध जोड़ने के लिये इतना आवश्यक है, कुछ समय पश्चात् अभ्यासी में एक प्रकार की निष्क्रियता का कारण नहीं बन जायेगा?

उत्तर- नहीं, बिल्कुल नहीं। समर्पण का अर्थ सोने लगना नहीं है। (हास्य)

प्रश्न- प्रिय गुरुदेव, १२ वर्षों से मैं हठ योग करता रहा हूँ। पतंजलि के योग सूत्रों का अध्ययन करने के पश्चात् मैं योग-दर्शन से मोहित हो गया। फिर मुझे अपनी आध्यात्मिक खोज में दिशा निर्देशन मिला और चार महीने पूर्व मैं सहज मार्ग में आया। तुरन्त मैंने लोगों से सुना कि मुझे हठयोग नहीं करना चाहिये। क्यों? इससे मुझे आश्चर्य होता है। मैं योग की शिक्षा भी देता हूँ। मुझे क्या करना चाहिये, इसे चालू रखूँ या रोक दूँ। क्या योग और सहज मार्ग के बीच तालमेल नहीं बैठता। क्या आप मुझे यह स्पष्ट कर सकते हैं?

उत्तर- मूल रूप से इसमें कुछ परस्पर विरोधी बात नहीं है, होना नहीं चाहिये। पतंजलि की योग पद्धति में आठ सीढ़ियाँ हैं। पहली दो यम और नियम केवल नैतिक व सदाचार संबंधी हैं। वे आधार माने जाते हैं जिन पर योग खड़ा है। यह हम अक्सर भूल जाते हैं। उसके बाद आता है आसन और प्राणायाम, जो दो चीजें हठयोग में सिखाई जाती हैं। अब यह चार केवल प्रारम्भिक सीढ़ियाँ हैं जो हमें आगे प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि की ओर ले जाती हैं। तो पहली दो हमारा नैतिक व सदाचार सम्बन्धी आधार बनाती हैं। दूसरी दो हमारी शारीरिक तन्दुरुस्ती और मानसिक क्षमताओं का विकास करती हैं। तो हम अभी भी आधार बनाने में व्यस्त हैं।

इसलिये जो लोग हठयोग करते हैं हम उन्हें परामर्श देते हैं कि हठयोग मुक्ति या ऐसा कुछ नहीं दिला सकता। अगर उसे नियमित रूप से किया जाये तो वह केवल अच्छा स्वास्थ्य दे सकता है और अगर ठीक से न किया जाये तो वह विनाशकारी हो सकता है। विशेष कर प्राणायाम। तो हम अपने अभ्यासियों को बताते हैं कि यह आवश्यक नहीं है क्योंकि सहज मार्ग में हम अष्टांग मार्ग की ऊँची सीढ़ी से प्रारम्भ करते हैं, सीधा ध्यान से। तो यह केवल बाकी सब सीढ़ियों को छोड़ना है जो मेरे गुरुदेव अनावश्यक समझते हैं। अगर अच्छे स्वास्थ्य के लिये अभ्यासी इसे करने पर जोर देता है तो कोई आपत्ति नहीं है। अगर आप इसे दूसरों को सिखा रहे हैं, तो यह पक्का कर लीजिये कि आपको इसे ठीक से करना आता है। क्योंकि जो हानि आप स्वयं को नहीं पहुँचाना चाहते वह दूसरों को भी नहीं पहुँचाना चाहिये। परन्तु अगर सही तौर से किया जाये तो कोई असंगति नहीं है। परन्तु मेरे गुरुदेव हमेशा कहते थे जो समय हम हठयोग करने में व्यतीत करते हैं उसे ध्यान में व्यतीत करना अधिक लाभप्रद होगा। बस इतना ही। (टेप टूटा है)

हमें अपने गुरुदेव का परामर्श इस बात में जानना चाहिये कि जो समय हम अनावश्यक कार्यों को करने में व्यतीत करते हैं उसे आवश्यक कार्य करने में व्यतीत करना कहीं अच्छा है। अब यह कोई ऐसी महान बुद्धिमत्ता की बात नहीं है परन्तु हमें इसकी बार-बार याद दिलानी होती है। दूसरी बात है कि योग ठीक से करने पर, मेरा मतलब राजयोग -- ध्यान -- शरीर भी उच्चतम स्तर तक स्वस्थ रहता है। हमें महा बलवान् बनने की आवश्यकता नहीं। शरीर को जितना स्वास्थ्य आवश्यक है उतना रहेगा।

तो अगर हम ध्यान व सफाई नियमितता से करें, तो शारीरिक, मानसिक व आत्मिक क्रियाएँ स्वतः वैसा ही ढंग अख्तियार कर लेते हैं जैसा होना चाहिये। उस नियम के अनुसार कि उच्च निम्न का निर्देशन करता है। अगर आप निम्न से आरम्भ करें तो उच्च पर इसका प्रभाव नहीं होता। तो व्यक्तिगत स्वास्थ्य जैसी चीजों के लिये भी यही अच्छा होगा कि हम सही रूप से ध्यान करें। इसलिये शारीरिक व्यायाम, हठयोग आदि करने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है। मैं सबको सलाह दूँगा कि प्राणायाम से बचें क्योंकि यह एक खतरनाक क्रिया है। अगर उसे ठीक से न किया जाये तो यह पागलखाने तक पहुँचा सकता है।

बस इतना ही। अब हम अपना दिन का कार्यक्रम समाप्त कर सकते हैं।

धन्यवाद।

सर्वव्यापकता का मार्ग

१० अक्तूबर १६८७, सायंकाल

एक्सेल की छोटी सी वार्ता में हम सब के लिये अनेक शिक्षाएँ हैं। (वे मुसकराते हैं) पहली बात, हम बिना कुछ देखे कितना कुछ कह सकते हैं। (हास्य) मेरा मतलब, यह अपने आप में ही एक रोचक विषय है, क्योंकि मेरे मित्रों में काफी संख्या आलोचकों की है -- कला के आलोचक, साहित्य के आलोचक और विशेष कर संगीत के आलोचक। मैं मद्रास में एक व्यक्ति को जानता हूँ जो मद्रास में संगीत के कार्यक्रमों में सम्मिलित होते हैं। शहर में उस समय प्रति एक दिन कम से कम एक दर्जन आयोजन होते हैं, और यह व्यक्ति एक टैक्सी लेकर सभी आयोजनों में जाता है, वहाँ कुछ मिनट के लिये हर स्थान पर बैठता है और फिर सप्ताह के अन्त में उसके लम्बे-लम्बे आलोचनात्मक लेख (अखबारों में) छपते हैं, बड़े विद्वत्तापूर्ण लेख। (हास्य) तो मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि आलोचना वह कला है जिसमें हम उस चीज के बारे में चर्चा करते हैं जिसके विषय में हम कुछ नहीं जानते। (हास्य)

यह सच्चा किस्सा है, मजाक नहीं। क्योंकि अगर आप अंग्रेजी भाषा को अच्छी तरह जानते हैं, या कम से कम वैसा समझने का प्रयत्न करते हैं जैसा मैं समझता हूँ, तो जो चीज हम जानते हैं उसकी आलोचना नहीं कर सकते। हम केवल उसका वर्णन कर सकते हैं। तो मैं यह भेद करता हूँ कि जिसे हम जानते हैं उसका वर्णन और जिसे हम नहीं जानते उसकी आलोचना। तो हम स्वतः निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि अधिकांश आलोचक जिस चीज की आलोचना कर रहे हैं उसको जानते ही नहीं। इसलिये मैंने वियेना में अपनी एक वार्ता में कहा था कि "मैं आलोचकों का आलोचक हूँ।" क्योंकि वहाँ भी यही किस्सा था कि मैं आलोचक को नहीं जानता था परन्तु उसकी आलोचना को जानता था। तो यह दूसरे दरजे की आलोचना है। (हास्य) उसकी आलोचना करना जिसको आप नहीं जानते और जिसने उस चीज की आलोचना की है जिसको वह नहीं जानता। (हास्य) और यह एक-एक दरजा बढ़ता जा सकता है। और सामान्यतः यह जीवन में होता है।

इसलिये मैं पुरानी कहावत के विषय में सोचता हूँ जो कहती है, ''जिसने देखा है वह बोल नहीं सकता और जो बोलता है उसने देखा नहीं।'' क्योंकि जब हम आध्यात्मिकता के क्षेत्र में आते हैं और हम दिव्यता के गुरु की महानता व यश को देखते हैं तो हमारी वर्णन की क्षमता, योग्यता सब असफल हो जाती है। और जैसा कि हिन्दू वेदान्ती परम्परा कहती है, हम केवल एक आश्चर्य की, विस्मय की मुद्रा में रह जाते हैं। और यही बाबूजी ने कहा है, ''आध्यात्मिकता एक विस्मय की परम्परा है।'' और इस विस्मय में आश्चर्य यह है कि जैसे-जैसे हम आगे बढ़ते हैं वह और भी आश्चर्यजनक होता जाता है। यह एक स्थिर विस्मय नहीं है। यह एक बढ़ता हुआ, फैलता हुआ विस्मय है।मेरी समझ में आध्यात्मिक गुरु में यह विस्मय जिस तरह प्रकट होता है उसका एक रूप है विपरीत गुणों का साथ-साथ होना। इसका अभिव्यक्त रूप हमने अपने गुरुदेव, श्रीरामचन्द्र महाराज में देखा है। मैंने इसके विषय में पहले भी चर्चा की है। शरीर से अति साधारण, पर सारे विश्व की शक्ति उनमें भरी थी। मामूली सी शिक्षा जिसके साथ भी दिव्य बुद्धिमत्ता। सांसारिक निर्धनता, पर साथ ही सृष्टि की धन-सम्पत्ति। एक सचमुच की मानवीय भीरुता और साथ ही परासत्ता का अदम्य साहस। और जिन लोगों को आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि से उनके इन विपरीत गुणों के एकत्व को देखने का सौभाग्य मिला, वे विस्मय से चकित रहने के सिवाय क्या कर सकते थे? और अपने आप से केवल यह कह पाते, ''क्या यह वही है?'' यह वही प्रसिद्ध वेदान्ती कथन है ''तुम्हीं वह हो।''

तो आध्यात्मिकता के विस्मय को जानने के लिये आवश्यक है कि आपके पास वह और यह हो ताकि आप उनकी तुलना कर सकें। इसलिये यह दिव्य अस्तित्व का महान रहस्य है कि वह अस्तित्व विपरीत गुणों का मिलन बिन्दु हो जाता है। यह रहस्य हिन्दू परम्परा में बहुत सुन्दर ढंग से दिखाया गया है। जहाँ ईश्वर सृष्टिकर्ता है, और पालनहार है, वहीं वह विनाश करने वाला भी है। इसके भी एक कदम आगे हम देखते हैं दिव्य माता काली जो माँ भी है और परम सत्ता भी और साथ ही दुष्ट विनाशकारी राक्षसी जो अपने ही बच्चों को खा जाती है। जैसे कि भारतीय मानस की पुरातन प्रतिभा केवल एक ऐसे ईश्वर से प्रसन्न या सन्तुष्ट नहीं थी जो यह सब करे, क्योंकि आखिरकार एक पुरुष ध्वंसात्मक व निर्माणात्मक हो सकता है। केवल ऐसे ईश्वर से सन्तुष्ट न होकर जो सृष्टिकर्ता, पालनहार और विनाश करने वाला है, क्योंकि नर में यह सब है ही, उन्होंने इस सब को नारी सिद्धान्त में

भी एकत्रित करने में अपनी बुद्धि लगायी। जैसे कि मानव बुद्धि को यह सब से महत्वपूर्ण तथ्य दर्शाने के लिये कि 'वह' जो कार्य उस क्षण कर रहा है उसी के अनुसार 'वह' माना जायेगा। और दूसरी बात, विनाश भी प्रेम के कारण हो सकता है और प्रेम भी ध्वंसात्मक हो सकता है। मेरे विचार में आधुनिक मनोविज्ञान इसी सिद्धान्त के इर्द-गिर्द घूमता है। अब इसके विपरीत ईसाई परम्परा है। जहाँ दुर्भाग्यवश शैतान को ईश्वर या दिव्यता के विपरीत सिद्धान्त के रूप में रखा गया है। आप इस कथन का बुरा न मानें। । शैतानी और दिव्यता को विपरीत दिशाओं में रच कर और उन्हें स्थायी बना उनके बीच एक असहनीय तनाव पैदा कर दिया। और यह मानवीय बुद्धि की रचना है।

तो आप पूर्व की समझदारी देखिये --- जिसने जीवन के विरोधी तत्वों का एक भव्य एकीकरण प्रस्तुत किया, और जिसकी परम्परा प्रेम को जीवन का ऐसा तथ्य स्वीकार कर सकी जो विनाशकारी भी हो सकता है। और वह इसका भी सामना कर सका कि प्रेम के कारण विनाश की आवश्यकता हो सकती है। इसकी तुलना कम समझदार पाश्चात्य परम्परा से करिये जहाँ अनिवार्य एकता को बाँट कर एक ध्वंसात्मक ध्रुवता का विकास किया गया;जहाँ प्रत्येक विरोधात्मक मूल्यों के बीच एक दीवार खड़ी कर दी गयी। इसको समझना महत्वपूर्ण है क्योंकि ईसाई धर्म, ईश्वर के प्रेम होने की बात कहता है, ईश्वर प्रेम है। इसलिये जब हम जीवन के तथ्यों का सामना करते हैं, कि लोग बीमार हो सकते हैं, दुःखी हो सकते हैं, क्रूर हो सकते हैं, तो पाश्चात्य परिकल्पना इस प्रकार के प्रेमी ईश्वर को स्वीकार नहीं कर पाती, जो ऐसे दुःख भोली-भाली व मूर्ख मानवता को देता है। सब से सामान्य प्रश्न जिसका सामना हमें पश्चिम में करना पड़ता है, यह है, "चारी, यदि ईश्वर कृपालु है, ईश्वर प्रेमी है, तो तीन वर्ष का बालक गाड़ी के नीचे कैसे कुचला जा सकता है? यह सुन्दर प्यारा बच्चा कैन्सर से कैसे मर सकता है?" तो आप देखते हैं कि कैसे हमारा ईश्वर के विषय में विचार, ईश्वर की धारणा हमारे जीवन के अनुभव को प्रभावित करते हैं। आप देख सकते हैं कि कैसे हमारी यहूदी-ईसाई धारणा की, या उसे जो भी कहना चाहें, धार्मिक-सांस्कृतिक नींव ने हमारे मानव मानस को कैसा बना दिया है कि हम ईश्वर की अपनी धारणा के ही विरुद्ध बगावत करें। वास्तव में मूल दोष यहूदी धर्म का है। तो असल में यह आधुनिक ईसाई पद्धति नहीं है जो लोगों को ईसाई धर्म से दूर कर रही है, परन्तु यह विचार दूर कर रहा है कि ईश्वर केवल प्रेम

हो सकता है, जो केवल प्रेम ही है और इसलिये हम ऐसे ईश्वर का अपने अस्तित्व में सामञ्जस्य नहीं कर पाते हैं। इसकी तुलना पूर्वी, या भारतीय परम्परा से करिये। जब हम प्रसन्न हैं, सन्तुष्ट हैं, एक सुखी जीवन व्यतीत कर रहे हैं, तो ईश्वर की कृपा है। जब हम दुःखी होते हैं, घर में किसी की मृत्यु हो जाती है, तो वह भी ईश्वर की कृपा है। शिव अपना कार्य कर रहे हैं। और जब अंधकारमय वर्षों के बाद घर में बच्चे का जन्म होता है तो फिर से खुशी होती है, प्रार्थना होती है, मन्दिर में चढ़ावा होता है, वह फिर ईश्वर का कार्य है। अब ब्रह्मा अपना कार्य कर रहे हैं।

तो मेरा यह कहना है कि ईश्वर की जो परिकल्पना हमने की है उसके अनुरूप हम जीवन में दुःखी होते हैं या आनन्द उठाते हैं। न तो ईश्वर की प्रशंसा की बात है, न उसे दोष दिया जा सकता है। बाबूजी ने अपनी खोज से इसे स्थापित किया है, कि ईश्वर के कोई मन नहीं होता; और दूसरी महान धारणा कि हम अपने संस्कार स्वयं बनाते हैं, जो कि आनन्द व पीड़ा, सुख-दुःख, हल्कापन या भारीपन पैदा करते हैं।

तो अगर इन दोनों को एकत्रित कर एक संश्लेषित पूर्णता में ढाला जाये तो हमें सम्पूर्ण सांसारिक परिस्थिति समझ में आ जायेगी। कि वह ही प्रथम कारण है, हम उसके प्रभाव के निर्माता हैं। यह बात मेरी समझ में तब आयी जब बाबूजी ने पन्द्रह वर्ष पूर्व मुझे बताया था कि बिना परिणाम के कारण हो सकता है और बिना कारण के परिणाम। जिन परिणामों का निर्माण हमने किया है उसका कारण ईश्वर कैसे हो सकता है? इसलिये अगर आप अपनी प्रशंसा करना चाहते हैं तो वह स्वयं को देना होगा, ईश्वर को नहीं। और यह सत्य बाबूजी ने एक बार मुझे हँसी-हँसी में बताया, बच्चों की भाँति खिलखिलाते हुए वे बोले, "देखा ईश्वर कितना चालाक है? उसे किसी चीज का दोष नहीं दिया जा सकता।"

मेरे विचार में पुरातन हिन्दू प्रतिभा को लगा होगा कि यह एक प्रकार का खतरनाक दर्शन सिखाना होगा -- नास्तिकता का खतरा। हम मजे में कह सकते थे, "अगर वह ऊपर वाला कुछ भी नहीं है तो हमें उसकी क्या आवश्यकता है?" और शायद यही राजनैतिक-आर्थिक क्षेत्र में साम्यवाद के रूप में प्रकट होता है, जहाँ पूँजी कारण है और उत्पादन परिणाम। और फिर भारतीय मानव मानस की असाधारण प्रतिभा दिखाई देती है जब उसने ईश्वर को व्यक्तिगत हृदय में डाल कर कहा, "वह परम तत्व के रूप में, तुम्हारे अन्तस् के जीव से, तुम्हारे आन्तरिक

स्व से, जो कि दिव्यता का अंश है, भिन्न है। उस परम तत्व के पास मन नहीं है परन्तु वह तुम्हारे मन द्वारा, तुम्हारी क्षमता द्वारा कार्य करता है और तुम्हारे अपने दिशा निर्देशन में सहायता करता है। वह हमारा जीवन नियमित करने के लिये अन्दर से हमारा निर्देशन करता है। और इसी सिद्धान्त का प्रयोग हम ध्यान में करते हैं। परम तत्व से हमारा सम्पर्क केवल हमारे अन्दर उसके आन्तरिक सान्निध्य द्वारा हो सकता है। इसलिये हम अपने हृदय में 'उस' पर ध्यान करते हैं। और मेरे विचार में अगर फरिश्तों को मानवीय स्थिति से ईर्ष्या है तो इसी बात के कारण। क्योंकि परम्परा के अनुसार फरिश्ते केवल दिव्यता के सान्निध्य में हैं, हम केवल दिव्यता के सान्निध्य में ही नहीं हैं बल्कि दिव्य हममें उपस्थित है। मेरे विचार में यह भारतीय मनस् का सब से महान अन्तिम निष्कर्ष था जब उसने कहा, ''ब्रह्मा, विष्णु और शिव को भी परम तत्व तक पहुँचने के लिये यहाँ नीचे आना पड़ता है।'' इसलिये हिन्दू धर्म केवल फरिश्तों की ही मानव-स्थिति से ईर्ष्या की बात नहीं करता परन्तु स्वयं देवता भी मानव-स्थिति से ईर्ष्या करते हैं। इसलिये भारतीय परम्परा कहती है, जैसा कि बाबूजी ने 'सत्य का उदय' में कहा, ''देवता केवल प्रकृति के कार्यकर्त्ता हैं।'' और अपनी महत्वपूर्ण खोज या वक्तव्य के साथ उन्होंने एक ही झटके में सारी औपचारिक धार्मिक पूजा की छुट्टी कर दी और उसे बेकार व मूर्खतापूर्ण बकवास कहा। कोई भी मूर्ति पूजा या इस तरह की कट्टर बकवास नहीं। यह एक असाधारण रूप से शक्तिशाली, भव्य और साहसी कथन था, कि अगर तुम उसकी पूजा करना चाहते हो, जिसके मन नहीं है तो तुम्हें उस पूजा से कुछ नहीं मिलेगा। परन्तु उसे अपने अन्तस् में, अपने आप, अपने द्वारा खोजो तो वह तुम्हारे अन्दर से उत्तर देता है। उसकी प्रतिक्रिया केवल एक हो सकती हैः तुम्हें अपनी भाँति बनाना।

तो यह महान दृश्य है जो आध्यात्मिकता से, आध्यात्मिक प्रयत्न से, आध्यात्मिक प्राप्ति से उपलब्ध होता है। और यह सत्य कि उस तक पहुँचने की राह हमारे ही माध्यम से है। और वही हमारी प्राचीन परम्परा भी कहती है, ''वह एक बाह्य ईश्वर के रूप में हमारी सहायता नहीं कर सकता। परन्तु उसे अपने अन्दर डाल कर अपने हृदय में बंद कर लो, उसे अपने हृदय का मालिक बना लो, फिर उसके पास तुम्हारी सहायता करने के अलावा कोई चारा नहीं रह जाता —'वह' तुम है।'' सहायता का भी प्रश्न नहीं उठता। क्योंकि यह तथ्य कि 'वह' मेरे हृदय में उपस्थित है, मुझे 'वह' बना देता है। बाबूजी ने इसे एक बड़े सुन्दर वाक्य में कहा है, ''उसे अपने हृदय में बन्द कर लो, फिर

निकलने मत दो और तुम्हारा काम समाप्त हो गया।'' तो यह हमेशा ही रहस्यवाद का रास्ता रहा है, अंतर्यामिता का रास्ता, जिसके विरुद्ध सारे धर्म गये हैं। सभी धर्मों ने एक महान देवता का उपदेश दिया है जो कहीं स्वर्ग में हाथ में तराजू लेकर तुम्हें दण्ड देने के लिये बैठा है। इसलिये बाबूजी का महान कथन है, ''जहाँ धर्म समाप्त होता है वहीं से आध्यात्मिकता का आरम्भ होता है।'' तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि फरिश्ते हम से ईर्ष्या करते हैं। मैं आशा करता हूँ कि वे इस ईर्ष्या का सही प्रयोग कर के, मानव संसार में आकर फिर दिव्य स्तर तक उठेंगे।

धन्यवाद।

दिल से पूछो

११ अक्तूबर १९८७, सायंकाल

गुरुदेव सदैव कहा करते थे कि उनके घर में कोई दरवाजे नहीं हैं। इसलिये यह आश्चर्यजनक है कि अभ्यासियों को दरवाजे खुलने और बन्द होने का अनुभव या दर्शन होता है। गुरुदेव का घर केवल एक ही है। मैं यह कहने का प्रयत्न कर रहा हूँ कि अभ्यासी अपने अनुभवों का अर्थ लगाने का प्रयत्न न करें, क्योंकि वे उस अनुभव पर अपने विचार थोपने का प्रयत्न कर रहे हैं जो कि शायद सही न हो। मेरी समझ में, वास्तव में क्या होता है कि हमारे अपने आन्तरिक विचार मानसिक सतह पर आते हैं, और एक प्रतीकात्मक रूप ले लेते हैं। अतः उनका अर्थ लगाने का कार्य सदैव गुरुदेव पर छोड़ देना चाहिये और हमें एक अभ्यासी के रूप में अपना अनुभव गुरुदेव को केवल बता देना चाहिये। यह अति महत्वपूर्ण बात है क्योंकि मैं जानता हूँ कि अधिकतर दुःख जो अभ्यासी ध्यान के पश्चात् अनुभव करते हैं, गलत अर्थ लगाने के कारण होता है। तो आप इसका बिल्कुल प्रयत्न मत करिये। यह अति रोचक प्रयोग है, परन्तु इसे आपको नहीं करना चाहिये।

मुझे एक अवसर का स्मरण है जब कि एक प्रशिक्षक ने मुझे 'सिटिंग' (पूजा) दी। वह बहुत आगे बढ़े हुए प्रशिक्षक थे। और उन्होंने पाया कि मैं पत्थर की भाँति कठोर था। जब गुरुदेव को यह बताया गया तो वे काफी क्रुद्ध हुए। उन्होंने कहा, "इसीलिये मैं नहीं चाहता कि प्रशिक्षक को जो पता लगे उसका अर्थ लगायें।" क्योंकि कभी-कभी वे भी कृत्रिम अर्थ लगा लेते हैं। और यह इस कारण होता है, कि हम हर चीज जो सुनते या देखते हैं उसका अर्थ निकालना चाहते हैं। यह क्या है? यह कैसे है? यह प्रत्येक बार जानना महत्वपूर्ण नहीं है। मुझे कुछ घटनाएँ स्मरण हैं जब मेरे गुरुदेव को कोई अपना अनुभव बताने पर, उस अनुभव का सही अर्थ लगाने में उन्हें कई दिन लग गये। फिर अभ्यासी तो इस दिशा में बिल्कुल योग्य नहीं है। और अगर आप ध्यान के पश्चात् कष्टमय समय से बचना चाहते हैं तो इससे पूर्णतया बचिये। स्वप्नों को समझने का प्रयत्न करना तो और भी बुरा है। बहुधा हम स्वप्नों को सही तौर पर याद भी नहीं रखते। तो इन

सब विषयों को केवल लिख डालिये और अध्यक्ष या जो भी हों, उन्हें भेज दीजिये और उन्हें अपना सर फोड़ने दीजिये।

मैं एक और चेतावनी देना चाहूँगा कि इन सब विषयों पर, मामलों में मनोवैज्ञानिकों से परामर्श मत लीजिये। इनमें से बहुत कम ही आध्यात्मिक अनुभवों या आध्यात्मिकता से सम्बन्धित स्वप्नों को समझने की थोड़ी बहुत भी योग्यता रखते हैं। मैं आपको यह चेतावनी देने को बाध्य हूँ क्योंकि मुझसे अनेक अभ्यासी पूछते हैं, "क्या मैं किसी मनोचिकित्सक से परामर्श ले लूँ?" इस व्यवसाय के प्रति कोई अनादर नहीं है। लेकिन उनके शैक्षणिक कार्यक्रमों में आध्यात्मिक अनुभवों का विषय नहीं होता। तो मुझे यह कहना है क्योंकि इतने सारे दुःख से भरे वर्णन, इतने सारे दुःख भरे उनके अर्थ, यह केवल मानवता की एक विकृत प्रवृत्ति को दर्शाता है कि कैसे अनेक बार हम एक अनुभव को बिल्कुल उसके उलटे में बदल देते हैं। और यह अति हानिकारक प्रवृत्ति है। क्योंकि बहुधा सही अर्थ की प्रतीक्षा की अपेक्षा हम गलत अर्थ मानने को तैयार रहते हैं। तो कृपया स्मरण रखिये कि आगे या पीछे कोई दरवाजे नहीं हैं। और वास्तव में मैं कहूँगा कि कोई यह गुरु, या वह गुरु नहीं है, केवल एक ही गुरु हैं। अगर आप बुरा न मानें तो मैं कहूँगा कि यह सब होने वाले अनुभव हमारी अपनी समस्यायें हैं, जो कि ध्यान के दौरान सतह पर आ जाती हैं, यथा गुरु कौन है? गुरु क्या है? गुरु कहाँ है? यही सब, और इन सब के उत्तर स्वयं पाने के लिये हमारा संघर्ष। इन सब मामलों में अगर आप धैर्य से अपने हृदय से परामर्श लें और समस्या का मानसिक हल खोजने का प्रयत्न न करें, तो उत्तर स्वयं मिल जायेगा।

मैं आपको एक उन्नीस वर्षीया अभ्यासी के अनुभव के विषय में बताऊँगा। वह उत्तर भारत में रहती है, और क्योंकि शायद उसके माता-पिता भी अभ्यासी हैं, उसे यह समस्या हुई कि गुरु कौन है, उसे यह समस्या शायद माता-पिता से मिली थी। उसमें इतनी बुद्धिमानी थी कि इस पर सोचने और दिमाग लगाने के बजाय वह इस पर ध्यान करे। उसने मुझे लिखा कि उसने तीन या चार बार ध्यान प्रारम्भ करने के पहले यह प्रार्थना की, "गुरुदेव, मुझे इस समस्या का समाधान दीजिये।" चौथे अवसर पर उसे यह दर्शन हुआ। उसने देखा कि बाबूजी अपने कमरे में इधर-उधर टहल रहे हैं और वह उन्हें देख रही है। और एक कुर्सी थी, इस तरह की, खाली, दीवार से लगी हुई। वह गुरुदेव के पास गयी और उनसे पूछा, "बाबूजी आप तो हमें छोड़ गये, अब हम क्या करें?" बाबूजी मुसकराये और कुर्सी की ओर इशारा

कर के बोले, "वह वहाँ हैं, और वह तुम्हारा निर्देशन करेंगे।" फिर उसने देखा कि खाली कुर्सी पर अब पार्थसारथी बैठे थे। उसने कहा, "हाँ बाबूजी, परन्तु वह तो नये अभ्यासियों के लिये हैं, हम पुराने अभ्यासियों का क्या?" बाबूजी बोले, "वह वहाँ हैं, और मैं भी वहाँ हूँ, तुम उनका अनुसरण करो।" तो अपने हृदय से प्रार्थनापूर्वक प्रश्न पूछने पर, ऐसे उत्तर मिलता है, इसलिये हमें भी यही तरीका अपनाना चाहिये, बाबूजी की सलाह --- सदा हृदय से पूछो।

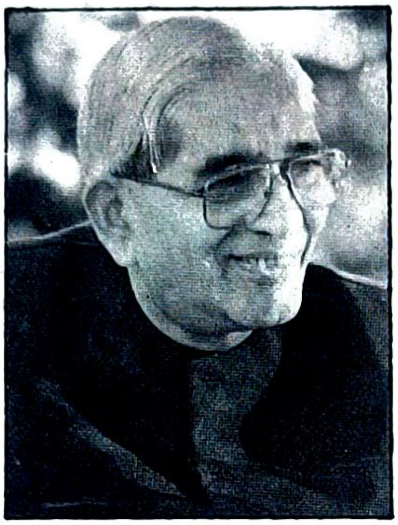

दिल से दिल की बात (द्वितीय)

"हम आपसे विश्वास या निष्ठा की माँग नहीं करते क्योंकि मेरे गुरुदेव का कहना है कि शुरुआत में विश्वास होना सम्भव नहीं है। कोई भी व्यक्ति जो कहे–"मुझमें भरोसा रखो, मैं तुम्हें लक्ष्य तक पहुँचा दूँगा", असम्भव को सम्भव बताने के समान है। क्योंकि भरोसा तो अनुभव करने के बाद ही होता है। किन्तु हम प्रारम्भ में आस्था अवश्य चाहते हैं। आपके जो संगी साथी गुरुदेव के बारे में आपसे चर्चा करते हैं उनमें आप आस्था रखें, तब आपका खुद का अनुभव आस्था को विश्वास में और विश्वास को समर्पण में विकसित करेगा।। समर्पण का क्रम है– आस्था, विश्वास, समर्पण।"

पार्थसारथी राजगोपालाचारी

श्री पार्थसारथी राजगोपालाचारी (भारत में जन्म २४ जुलाई, १९२७) श्री रामचन्द्र मिशन, शाहजहाँपुर के वर्तमान अध्यक्ष हैं। पूरे विश्व के हजारों साधक आपके मार्गदर्शन में ईश्वरानुभूति के लिये अभ्यासरत हैं। गृहस्थ होने के बावजूद आपका सारा समय मानवता के पुनरुद्धार हेतु समर्पित हैं। प्रस्तुत पुस्तक आपके द्वारा योरोप में अनेक स्थानों पर दिये गये व्याख्यानों का संग्रह है। आध्यात्मिक साधना के व्यवहारिक मर्मों की एक झलक इनमें मिलेगी।

आपके द्वारा प्रदत्त सहज मार्ग साधना का व्यवहारिक प्रशिक्षण आधुनिक जीवन के अनुकूल सुविधापूर्वक की जा सकने योग्य साधना है। यह प्राचीन राजयोग साधना का ही परिमार्जित और परिष्कृत रूप है। इस प्राकृतिक साधना पद्धति में सद्गुरु द्वारा प्रदत्त 'प्राणाहुति' की सहायता किसी भी निष्ठावान साधक को योग की वह गहन अनुभूतियाँ आसानी से करा देने में सक्षम हैं। जो कभी जनसामान्य के लिये अत्यन्त दुर्लभ मानी जाती थीं। ईश्वरीय शक्ति की सहायता से साधक के संस्कारों को साफ करके 'ध्यान' की पद्धति द्वारा मानव मन को विनियमित करते हुए उसे क्रमशः ईश्वर साक्षात्कार के शिखर तक पहुँचाने के लिये यह अत्यन्त कारगर विधि है।

विस्तृत जानकारी के लिये कृपया संपर्क करें।

श्री रामचन्द्र मिशन

'गायत्री'

१९, नार्थ स्ट्रीट, श्रीरामनगर
मद्रास, ६००-०१८
भारत

IS BN 81-85177-91-0

PRINTED AT MAYA PRESS PVT. LTD. ALLAHABAD.